राममोहन रामचन्द्र वैश्य
फैन्सी बुक बाइन्डर.
आजाद हिन्द पार्क, बहराइच

# अदिति

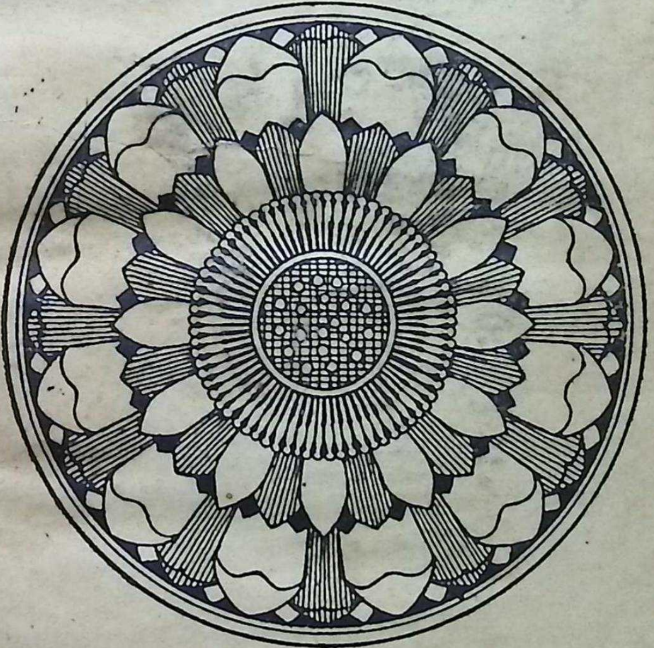

अनागसो अदितये स्याम

धी. ४ जी. ३५ ग्री. नं. ७. सात.

# अदिति

अनागसो अदितये स्याम

वी. ४जी. ३५ ग्रा. नं. ७. मात.

अनागसो अदितये स्याम

'May we be sinless and faultless in the presence of Aditi.'—*Sri Aurobindo*

# अदिति

नवीं कला

२१ फर्वरी १९४५ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय बारचौरा
23 August 1913
श्री. सं. १९७० भाद्र सुक्ल ३ बुधवार

डा० इन्द्रसेन द्वारा संकलित तथा सम्पादित

प्रकाशक :—
एस० एन० सण्डर्सन एण्ड को०
श्रीअरविन्द निकेतन नई देहली

एक पुस्तिका १।)
वर्षभर की चार पुस्तिकाएं ४)

अदिति मुद्रणालय देहलीमें मुद्रित

# विषय-सूची


**मातृवचनामृत—**

१. नये वर्ष की प्रार्थना ... ... ५

२. प्रार्थना व ध्यान ... ... ६

३. माताजी का सन्देश ... ... ६

**श्रीअरविन्द-वाणी—**

१. वास्तविक एकता का आधार ... ... ७

२. बृहत्तर आध्यात्मिकता ... ... ८

३. वैदिक सूक्त सुधा

(५) सूर्य सविता, रचयिता और पोषक ... ९

४. कर्मयोगी

(५) बलिदान का सिद्धान्त ... ... १८

५. श्रीअरविन्द के पत्र

(१) रूपान्तर-योग ... ... २३

६. जीवन और कला ... ... २७

**पूर्णयोग—**

(३) राजयोग ... नलिनीकान्त गुप्त ३३

तेरा परिचय ... सुन्दरम् ३६

गीत ... गुरुदयाल ४७

श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग ... अम्बालाल पुराणी ४८

दिव्य माता ... मगनबाबा ५४

तेरा जादू ... लीलावती ५५

कविता ... विद्याव्रत ५६

श्रीअरविन्द क्या करते हैं ? ... अभय ५७

कविता ... इन्दुमती ६१

... ... क्या रखा है ! ... डा. इन्द्रसेन ६२

योग-विचार ... ,, ६९

लेखक-परिचय ... ,, ७२

मातृवचनामृत—

# नये वर्ष की प्रार्थना

[ माताजी की नये वर्ष १९४५ की अंग्रेज़ी प्रार्थना हिन्दी अनुवाद सहित नीचे दी जा रही है। अंग्रेज़ी की प्रार्थना स्वयं श्रीअरविन्द की की हुई है। पर हिन्दी का यह अनुवाद अंग्रेज़ी से नहीं किया गया है किन्तु मूल फ्रेंच से किया गया है। —सं० अ० ]

## 1945

The earth will enjoy a lasting and living peace only when men understand that they must be truthful even in their international dealings.

O Lord, it is for this perfect truthfulness that we aspire.

—The mother

## १९४५

यह पृथ्वी तब तक सजीव और स्थायी शान्ति का उपभोग नहीं कर सकती जब तक मनुष्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में भी पूर्ण रूप से सत्यपरायण होना नहीं सीख लेते।

हे प्रभु! हम इसी पूर्ण सत्यपरायणता की अभीप्सा करते हैं।

—श्रीमाँ

—मूल फ्रेंच से अनूदित

# प्रार्थना व ध्यान

हे प्रभु ! वर्ष-समाप्ति का यह लौकिक उत्सव एक साथ ही, हमारे सभी बन्धनों और आसक्तियों की, सभी भ्रान्तियों और दुर्बलताओं की—जिन के हमारे जीवन में रहने का अब कोई कारण नहीं—समाप्ति का भी अवसर बने। वास्तव में हर क्षण ही हमें अपने भूत को धूल की तरह झाड़ कर अलग करते रहना चाहिये, जिस से कि वह उस शुद्ध मार्ग को मलिन न कर सके—वह मार्ग जो नित नया हमारे सामने प्रकट होता रहता है।

हमारी भूलें जिन्हें हम अपने अन्दर पहचान तथा सुधार चुके हैं झूठी झलक-मात्र से अधिक कुछ न रहें—बिल्कुल अशक्त और निष्फल।

हम उस सब कुछ को—जिसे अब अधिक हममें नहीं रहना चाहिये—हर प्रकारके अज्ञान को, अन्धता को, अहंकार को, दृढ़तापूर्वक पांवों तले दबा कर ऊंची उड़ान लें—ऊपर खुले आकाश में, अधिक उजाले प्रकाश में, अधिक निःस्वार्थ प्रेम में...........तेरे में।

हे प्रभु ! हमारे जीवन के स्वामी ! मैं तुझे प्रणाम करती हूं और चाहती हूं कि मैं पृथ्वी पर तेरे राज्य की घोषणा करूं।

—मूल फ्रेंच से अनूदित

२६ दिसम्बर १९१३

## माताजी का सन्देश

सफलता एक ऐसी अग्निपरीक्षा है जिस में से गुज़र जाना विपत्ति में से गुज़रने की अपेक्षा अधिक कठिन है।

यह सफलता की ही घड़ी होती है जिस समय कि मनुष्य को अपने आप से ऊपर उठने को विशेषतया जागरूक रहने की आवश्यकता होती है।

श्रीअरविन्द-वाणी—

## वास्तविक एकता का आधार

अहं-विस्तार की भावना वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य एक दूसरे के संपर्क में आये हैं और स्वामित्व के लिये संघर्ष पहिला अनघड़ साधन है एकत्व की ओर ले जाने का; क्षुद्रतर आत्मा का आक्रामक आत्मख्यापन पहिला क़दम है विशालतर आत्मा की तरफ़ बढ़ने का। राष्ट्रों का, विचारों का, सभ्यताओं का, संस्कृतिओं का, आदर्शों का, धर्मों का संघर्ष अन्त में अवश्य ही उसी विशालतर आत्मा में पहुंचने के लिये है। और जब अतिमानस (तर्क या बुद्धि से परे का) आदर्श अपने को स्पष्ट रूप में ले आयगा, तब आन्तरिक एकता अधिक तेज़ी के साथ और अधिक निश्चिततापूर्वक होने लगेगी। मनुष्य तब अधिक स्पष्टतया देखेंगे कि व्यक्तिओं की तथा मानवसमुदायों की नैतिक, सौन्दर्यात्मक और विचारात्मक सत्ता की एकता—इसका मतलब एकरूपता नहीं है—की तरफ़ अग्रसर होना ही उन के जीवन की समग्र एकता को ला सकता है और वे देखेंगे कि यह लक्ष्य वास्तव में और निश्चयपूर्वक साधित किया जा सकता है एकमात्र एकीकृत आध्यात्मिक जीवन की वृद्धि के द्वारा। अभी से यान्त्रिक सामाजिक एकता का समर्थन करने वालों में से कुछ लोग इस सचाई के प्रति जागृत हो रहे हैं कि मनुष्य में रहने वाले **परमेश्वर** में ही वास्तविक एकता की कुञ्जी है, और उसी में एकमात्र वह शक्ति है जो इस एकता को सिद्ध कर सकती है। और मनुष्य में रहने वाला वह **परमेश्वर** उसकी (मनुष्य की) बुद्धि नहीं है, किन्तु मनुष्यस्थ वह देव है जिस के कि बुद्धि तथा शेष सब भाग, प्राणसत्ता भी उससे बाहर नहीं है, शक्तियां हैं, विकास के साधन हैं, आत्मपूर्णता के उपकरण हैं। जब इस **उच्चतम, परम तत्त्व** को देख लिया जाता है, तब इस की सत्ता के प्रत्येक स्तर पर रहने वाला आत्मा यह कहने का अधिकारी हो जाता है कि 'मैं **वह** हूं'।

## बृहत्तर आध्यात्मिकता

तो, चाहे वैयक्तिक तौर पर या सामाजिक तौर पर, मनुष्य की पूर्णता की अन्तिम और एकमात्र आशा आध्यात्मिकता में ही है; उस आध्यात्मिकता में नहीं जो अपना पृथक् संतोष पाने के लिए पृथिवी से तथा इस के कार्यों से मुँह मोड़ लेती है, किन्तु उस बृहत्तर आध्यात्मिकता में जो पृथ्वी और उसके कार्योंको स्वीकार करती है और उन्हें पूर्णता तथा कृतार्थता प्राप्त कराती है। एक ऐसी आध्यात्मिकता जो मनुष्य की बुद्धिशक्ति को, उसकी सौन्दर्यवृत्ति को, उस की नैतिकता को, प्राणतत्त्व और देहतत्त्व को, उस के ज्ञान के लक्ष्य को, उसके सुन्दरता के लक्ष्य को, उसके प्रेम तथा पूर्णता के लक्ष्य को, उसके शक्ति के तथा जीवन और सत्ता की सम्पूर्णता के लक्ष्य को अपने अन्दर समाविष्ट करती है, ऐसी आध्यात्मिकता जो इन सब के प्रति इन के दिव्य आशय को तथा इनके देवत्व की शर्तों को दर्शा देती है, जो इन सब को परस्पर एक दूसरे के साथ संगतियुक्त करती है और जो इन में से प्रत्येक की दृष्टि के प्रति उस उस के मार्ग को—जिस मार्ग को वह अब तक अधूरे प्रकाश में और आवृत प्रकाश में, अन्धकार के साथ या विचलित दृष्टि के साथ तय कर रहे हैं—प्रकाशित कर देती हैं, ऐसी आध्यात्मिकता को प्राप्त करना एक ऐसा ध्येय है जिसे कि अपने को बहुत स्वतःपर्याप्त समझने वाली मानव की बुद्धि भी स्वीकृत कर सकती है; क्योंकि यह (ऐसी आध्यात्मिकता) अपने आप को अन्त में अवश्य ही ऐसे रूप में प्रकट करती है जो उस सब की, जिस जिस के लिए मानव वैयक्तिक तौर पर तथा सामाजिक तौर पर यत्न कर रहा है, तर्कसम्मत अवश्यम्भावी परिणाम तथा परिसमाप्ति है।

# वैदिक सूक्त-सुधा

## ( ५ )

## सूर्य सविता, रचयिता और पोषक

ऋग्वेद ५. ८१

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥

[ विप्राः ] प्रकाशपूर्ण मनुष्य [ मनः युञ्जते ] अपने मनको योजित करते हैं [ उत धियः युञ्जते ] और अपने विचारों को योजित करते हैं, उस ( सविता ) के प्रति [ विप्रस्य ] जो प्रकाशपूर्ण है [ बृहतः ] जो विशाल है, और [ विपश्चितः ] जो स्पष्ट विचार वाला है। [वयुनावित् ] सब दृश्यों को जानने वाला, वह [ एकः इत् ] अकेला ही [ होत्रा विदधे ] यज्ञ की शक्तियों को क्रम में स्थापित कर देता है। [ मही ] महान् है [सवितुः देवस्य] सविता देव की, दिव्य **रचयिता** की [परिष्टुतिः] सब वस्तुओं में व्याप्त स्तुति ॥ १ ॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥ २ ॥

[ कविः ] वह द्रष्टा [ विश्वा रूपाणि ] सब रूपों को [ प्रतिमुञ्चते] अपने में धारण करता है, और वह उन से [ द्विपदे चतुष्पदे ] द्विगुण और चतुर्गुण सत्ता के लिये [ भद्रं प्रासावीत् ] भद्र को रचता है [ सविता ] वह **रचयिता** [ वरेण्यः ] वह परम **वरणीय** [ नाकं वि-अख्यत् ] द्यौ को पूर्णतः अभिव्यक्त कर देता है, और [ उषसः प्रयाणम् अनु ] जब वह उषा के प्रयाण का अनुसरण करता है तब [ विराजति ] सब को अपने प्रकाश से व्याप्त कर लेता है ॥ २ ॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥ ३ ॥

[ यस्य प्रयाणम् अनु ] उसके प्रयाण के पीछे पीछे [ अन्ये देवाः इत् ] अन्य देव भी [ओजसा] उसकी शक्ति के द्वारा [ देवस्य महिमानं ययुः ] दिव्यता की महिमा को पा लेते हैं। [यः] जो वह [महित्वना] अपनी महिमा से [पार्थिवानि रजांसि] पार्थिव प्रकाश के लोकों को [विममे] माप डालता है, [ स देवः सविता ] वह दिव्य **रचयिता** है [एतशः] बड़ा तेजस्वी है ॥ ३ ॥

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥ ४ ॥

[ उत ] और [ सवितः ] हे सविता देव ! तू [ त्रीणि रोचना ] तीन प्रकाशमान लोकों में [ यासि ] पहुँचता है; [ उत ] और तू [ सूर्यस्य रश्मिभिः ] सूर्य की किरणों द्वारा [ समुच्यसि ] सम्यक्तया व्यक्त किया गया है; [ उत ] और तू [ रात्रीम् ] रात्रि को [ उभयतः ] दोनों पार्श्वों से [ परीयसे ] घेरे हुए है; [ उत ] और [ धर्मभिः ] अपने कर्मोंके नियमों द्वारा, तू [देव] हे देव ! [ मित्रः भवसि ] प्रेम का अधिपति होता है ॥ ४ ॥

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे ॥ ५ ॥

[ उत त्वम् एकः इत् ] और तू अकेला ही [ प्रसवस्य ईशिषे ] प्रत्येक रचना करने के लिये शक्तिमान् है [ उत देव ] और हे देव ! [ यामभिः ] गतियों द्वारा तू [ पूषा भवसि ] पोषक बनता है; [ उत ] और तू [ इदं विश्वम् भुवनं ] संभूतियों के इस सम्पूर्ण जगत् को [ विराजसि ] पूर्णतया प्रकाशित करता है। [श्यावाश्वः] श्यावाश्व ने [ सवितः ] हे सवितः ! [ते स्तोमम् आनशे] तेरे स्तोम को प्राप्त कर लिया है ॥ ५ ॥ *

## भाष्य

'इन्द्र' अपने चमकीले गणों ( मरुतों ) सहित, और आर्य के यज्ञ को परिपूर्ण करनेवाला दिव्य शक्ति 'अग्नि'—ये दोनों वैदिक सम्प्रदाय के सबसे महत्त्वपूर्ण देव हैं। अग्नि से आरम्भ होता है और अग्नि पर ही समाप्ति होती है। यही संकल्पाग्नि, जो ज्ञानरूप भी है, मनुष्य के अमरता को लक्ष्य रख कर किये जाने वाले ऊर्ध्वमुख प्रयत्न का प्रारम्भ करने वाला है; इसी दिव्य चेतना को, जो कि दिव्य शक्ति भी है, हम अमर्त्य सत्ता के मूल-आधार के तौर पर अन्त में पहुंचते हैं। और इन्द्र, स्वर्लोक का अधिपति, हमारा मुख्य सहायक है, जो वह प्रकाशमान प्रज्ञा है जिस में कि हमने अपनी धुँधली भौतिक मनोवृत्तिको रूपान्तरित कर देना है ताकि हम दिव्य चेतनाको प्राप्त करनेके योग्य

* श्रीअरविन्द ने इस सूक्त का अनुवाद करते हुए नीचे इस आशय की टिप्पणी दी है कि अनुवाद मुहावरेदार और साहित्यिक हो तथा मूल में जो आशय और एकलयता है वह अनुवाद में ठीक वैसे ही आ जावें इसके लिये संस्कृत के शब्दों को आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तित कर लेने की स्वतन्त्रता अपेक्षित है। इसलिये मैंने इन संस्कृत के वाक्यांशों का अधिक शाब्दिक अनुवाद अपने भाष्य में ( यहां मन्त्रार्थ में न देकर ) दिया है।

हो जावें। **इन्द्र और मरुत** हैं जिनके द्वारा यह रूपान्तर सिद्ध होता है। मरुत हमारी पाशविक चेतना को, जो कि प्राण-मन के आवेगों से बनी होती है, पकड़ते हैं, इन आवेगों को अपने प्रकाशों से समन्वित करते हैं और इन्हें सत्ता की पहाड़ी पर स्वः के लोक की तरफ तथा इन्द्र के सत्यों की तरफ हांक ले जाते हैं। हमारा मानसिक उत्क्रमण इन "पशुओं" से आरम्भ होता है, ज्यों-ज्यों हम आरोहण में प्रगति करते हैं, वे पशु **सूर्य** के जगमगाते पशु, **'गावः'**, किरणें, वेद की दिव्य गौएं, बन जाते हैं। यह है वैदिक प्रतीक-वर्णना का आध्यात्मिक तात्पर्य।

लेकिन, तो फिर यह **सूर्य** कौन है जिससे कि ये किरणें निकलती हैं ? वह **सत्य का अधिपति है, आलोकप्रदाता**—'सूर्य'—है, **रचयिता**—'सविता'—है, **पुष्टिदायक**—'पूषा'—है। उसकी किरणें अपने स्वरूप में स्वतःप्रकाश ज्ञान ( revelation ) की, अन्तःप्रेरणा (inspiration) की, अन्तर्ज्ञान ( intuition ) की, प्रकाशपूर्ण विवेक ( luminous discernment ) की अतिमानस क्रियायें हैं और ये चारों मिल कर उस सर्वातिशायी तत्त्व की क्रिया को बनाती हैं जिसे वेदान्त 'विज्ञान' कहता है और जिसे वेद में 'ऋतम्', दिव्य 'सत्य' कहा गया है। परन्तु ये किरणें मानवीय मनोवृत्ति के अन्दर भी अवतरित होती हैं तथा इसके ऊर्ध्वप्रदेश में **प्रकाशमय प्रज्ञा** के लोक को, 'स्वः' को, जिसका इन्द्र अधिपति है, निर्मित करती हैं।

क्योंकि यह **'विज्ञान'** एक दिव्य शक्ति है, कोई मानवीय शक्ति नहीं। मनुष्य का मन स्वतःप्रकाश सत्यसे निर्मित हुआ हुआ नहीं है, जैसा कि दिव्य मन होता है; यह तो एक इन्द्रियाधिष्ठित मन है जो सत्य को ग्रहण कर तथा समझ[1] तो सकता है, पर सत्य के साथ एकरूप नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान के प्रकाश ने कुछ इस तरह से अपने को परिवर्त्तित करके हमारी इस मानवीय बुद्धि ( समझ ) के अन्दर आना है जिससे इस ( ज्ञानप्रकाश ) के रूप हमारी भौतिक चेतना की क्षमताओं और सीमाओं के उपयुक्त हो सकें। और इसे यह करना है कि यह हमारी मानवीय बुद्धि को क्रमशः आगे ले जा कर उसके वास्तविक स्वरूप तक पहुँचा दे, हमारे अन्दर मानसिक विकास के लिये उत्तरोत्तर आने वाली उत्कर्ष की अवस्थाओं को अभिव्यक्त करता जाय। इस प्रकार सूर्य की किरणें, जब कि वे हमारी मानसिक सत्ता को निर्मित करने के लिये यत्न करती हैं, मनोवृत्ति के तीन क्रमिक लोकों को रचती हैं जो कि एक दूसरे के ऊपर स्थित होते हैं,—एक तो संवेदनात्मक, सौन्दर्य-लक्षी और भावप्रधान मन, दूसरा विशुद्ध बुद्धि, तीसरा दिव्य प्रज्ञा। मन के इन त्रिविध लोकों की परिपूर्णता और संपन्नता सत्ता के केवल विशुद्ध मानसिक लोक[2] में निवास करती हैं, जहां वे तीनों

---

१. समझ या बुद्धि के लिये वैदिक शब्द है, 'धी' अर्थात् वह जो कि ग्रहण करती है और यथास्थान धारण करती है।

२. स्पष्ट ही हमारी सत्ता का स्वाभाविक लोक भौतिक चेतना है, पर अन्य लोक भी हमारे लिये खुले हैं क्योंकि हमारी सत्ता का अंश उनमें से प्रत्येक में रहता है।

आकाशों, तिस्रो दिवः, से ऊपर उनकी तीन रोचनाओं, त्रीणि रोचनानि, के रूप में जगमगाती हैं। पर उनका प्रकाश भौतिक चेतना पर अवतरित होता है और इस के लोकों में, वेदोक्त 'पार्थिवानि रजांसि', प्रकाश के पार्थिव लोकों में, तदनुरूप रचनाओं को बनाता है। वे पार्थिव लोक भी त्रिगुण हैं, तिस्रः पृथिवीः, तीन पृथिवियां। और इन सब लोकों का सविता सूर्य रचयिता है।

इन विविध आध्यात्मिक स्तरों, जिनमें से प्रत्येक को एक स्वतन्त्र लोक समझ लिया गया है, के रूपक में हमें वैदिक ऋषियों के विचारों की एक कुञ्जी मिल जाती है। मानवव्यक्ति सत्ता की एक संगठित इकाई है जो विश्व के रचनाविधान को प्रतिबिम्बित करती है। यह अपने अन्दर उसी अवस्था-क्रम को और उसी शक्तियों के खेल को दोहराती है। मनुष्य अधिकरण होकर सब लोकों को अपने अन्दर रखे हुए है, और आधेय होकर वह सब लोकों में रखा हुआ है। सामान्यतः ऋषि अमूर्त्त की अपेक्षा मूर्त्त रूप में वर्णन को अधिक पसन्द करते हैं, और इसलिये भौतिक चेतना को वे भौतिक लोक–भूः, पृथिवी–के नाम से वर्णित करते हैं। विशुद्ध मानसिक चेतना को वे 'द्यौ' नाम से कहते हैं, जिस द्यौ का 'स्वः' अर्थात् प्रकाशमान मन ऊर्ध्वप्रदेश है। मध्यस्थ क्रियाशील, प्राणमय या वातिक चेतना को वे या तो अन्तरिक्ष, अर्थात् अन्तराल में दिखाई देने वाला, या 'भुवः' नाम देते हैं,—जो 'अन्तरिक्ष' या 'भुवः' वे विविध क्रियामय लोक हैं जो पृथिवी के निर्मापक होते हैं।

क्योंकि ऋषियों के विचारमें लोक मुख्यरूपसे तो चेतना की रचना हैं, वस्तुओं की भौतिक रचना यह केवल गौणरूप से है। लोक 'लोक' है, वह एक प्रकार है जिस में सचेतन सत्ता अपने आप को निरूपित करती है, कल्पित करती है। और लोक के रूपों का रचयिता है कारणात्मक सत्य, जिसे कि यहाँ सविता सूर्य नामक देवता द्वारा प्रकट किया गया है। क्योंकि यह असीम सत्ता के अन्दर रहने वाला कारणात्मक विचार ही है,—विचार जो कि कोई निर्वस्तुक नहीं किन्तु वास्तविक और क्रियामय है,—जो नियम का, शक्तियों का, वस्तुओंकी रचनाओंका तथा उनकी संभाव्यताओं के निश्चित रूपोंमें तथा निश्चित प्रक्रियाओं द्वारा कार्यरूप में परिणत होनेका मूल स्रोत होता है। चूंकि यह कारणात्मक विचार सत्ता की एक वास्तविक शक्ति है इसलिये इसे सत्यम्, अस्तित्व में सच्चा, कहा गया है; चूंकि यह सब क्रियाशीलता तथा रचनाका निश्चायक सत्य है इसलिये इसे ऋतम्, गति में सच्चा, कहा गया है; चूंकि यह अपनी आत्म-दृष्टि में, अपने क्षेत्र में तथा अपनी क्रिया में विस्तीर्ण और असीम है इसलिये इसे बृहत्, विशाल या विस्तृत, कहा गया है।

सविता सत्य द्वारा रचयिता है, पर रचयिता इन अर्थों में नहीं जैसे कि कृत्रिम तौर पर कुछ बनाया जाता है या मशीन से कुछ वस्तुएं तैय्यार की जाती हैं। सविता शब्द में जो धातु है उसका अर्थ है अन्दर से धकेलना, आगे प्रेरित कर देना या बाहर को निकालना,—इसमें रचना के

अर्थ में प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्द 'सृष्टि' का भाव भी है,—और इस प्रकार यह उत्पत्ति के अर्थ को देती है। कारणात्मक **विचार** की क्रिया कृत्रिम तौर पर निर्माण नहीं करती बल्कि **तपस्** द्वारा, अपनी स्वकीय सत्ता पर चेतना के दबाव द्वारा, उसे ही अभिव्यक्त कर देती है जो इसके अन्दर छिपा हुआ है, जो संभाव्य रूप में अप्रत्यक्ष पड़ा है और जो असलियत में पहले से ही **परात्पर** के अन्दर विद्यमान है।

होता यह है कि भौतिक जगत् की शक्तियां और प्रक्रियायें, मानो एक प्रतीक रूप में, उस अतिभौतिक क्रिया के सत्यों को दोहराती हैं, जिस (अतिभौतिक) क्रिया द्वारा इस (भौतिक जगत्) का जन्म हुआ है। और चूंकि हमारा आन्तरिक जीवन और इसका विकास उन्हीं शक्तियों से और उन्हीं प्रक्रियाओं से शासित होता है जो कि भौतिक और अतिभौतिक लोकों में एक सी हैं, इसलिये ऋषियों ने भौतिक प्रकृति की घटनाओं ही को आन्तर जीवन के व्यापारों के लिये प्रतीक रूप से स्वीकार कर लिया और यह उनका एक कठिन कार्य हो गया कि वे एक पवित्र कविता की मूर्त भाषा में अपनी बात को कहें जो साथ ही देवों को इस दृश्य जगत् की शक्तियां मान कर की जाने वाली बाह्य पूजा के प्रयोजन को भी सिद्ध करे। सौर बल (भौतिक सूर्य की शक्ति) **सूर्य** देवता का ही भौतिक रूप है, जो सूर्य **प्रकाश** और **सत्य** का अधिपति है; यह इस **सत्य** द्वारा ही होता है कि हम **अमरता** को प्राप्त कर पाते हैं, वह अमरता जो वैदिक साधना का अन्तिम लक्ष्य है। इसलिये सूर्य और सूर्य की किरणों के, उषा और दिन और रात्रि के, तथा प्रकाश व अन्धकार इन दो ध्रुवों के बीच में गुजरने वाले मानव जीवन के रूपक को लेकर आर्य द्रष्टाओं ने मानवीय आत्मा के उत्तरोत्तर वृद्धिशील **प्रकाश** को निरूपित किया है। सो इसी प्रकार अत्रि के परिवार का श्यावाश्व इस सूक्त में **सविता** की, **रचयिता**, **पोषक**, **प्रकट करने वाले** की, स्तुति कर रहा है।

**सूर्य सत्य** के प्रकाशों से मन को व विचारों को आलोकित करता है। वह **विप्र** है, प्रकाशमान है। यह वह है जो अपनेपन के तथा अपनी परिस्थिति के घेरे से घिरी हुई चेतना में से व्यक्तिगत मानवीय मन को छुड़ाता है और उसकी सीमित गति को विशाल कर देता है, जो सीमित गति इस मन पर इसलिये थुप गई है क्योंकि यह अपने निजी व्यक्तिभाव में ही पहिले से निमग्न या ग्रस्त पड़ा है। इसलिये वह **बृहत्** है, विशाल है। पर उसका प्रकाश धुंधला प्रकाश नहीं है, न ही उसकी विशालता अपने को तथा विषय को गड़बड़, अस्पष्ट तथा त्रुटित दृष्टि से देखने वाली होती है; वह तो अपने अन्दर वस्तुओंके—उनके समुदायी रूपमें तथा अलग-अलग अवयवों और उनके परस्पर सम्बन्धों सहित—स्पष्ट विवेकको रखता है। इसलिये वह **विपश्चित्** है, विचार में स्पष्टतायुक्त है। मनुष्य ज्यों ही इस सौर ज्योति के कुछ अंश को अपने में ग्रहण करने लगते हैं तो वे अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्ति को और इसकी विचार-सामग्री को उनके अन्दर जो दिव्य **सूर्य** की सचेतन सत्ता है उसके प्रति संयोजित करने का यत्न करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे अपनी सारी धुंधली

( तमोग्रस्त ) मानसिक अवस्था को और अपने सारे भ्रान्त विचारों को अपने अन्दर अभिव्यक्त हुए इस **प्रकाश** के साथ मानो योजित कर देते हैं, जोड़ते हैं, ताकि वह **प्रकाश** मन के धुंधलेपन को निर्मलता में परिणत कर दे तथा विचार के भ्रमों को उन सत्यों में बदल दे जिन सत्यों के वे ( विचार-भ्रम ) विकृत रूप में प्रदर्शक हैं। यह जोड़ना ( युञ्जते ) उनका **योग** हो जाता है। "वे मन को योजित करते हैं, और वे अपने विचारों को योजित करते हैं, वे जो कि प्रकाशमान ( विप्र ) हैं, उसके ( अर्थात् उसके प्रति या इसलिये ताकि वे उसके अंग बन सकें या उससे सम्बद्ध हो सकें ) जो कि **प्रकाशमान** ( विप्र ), **विशाल** ( बृहत् ), और **स्पष्ट विचारों वाला** ( विपश्चित् ) है।"*

तब वह **सत्यका अधिपति** उसे सौंपी गयी सब मानवीय शक्तियोंको सत्यके नियमोंके अनुसार व्यवस्थित कर देता है; क्योंकि वह मनुष्य के अन्दर एकमात्र और सर्वोपरि **शक्ति** हो जाता है जो कि सब ज्ञान और कर्म को शासित करता है। विरोधी शक्तियों से विघ्नित न होता हुआ, वह पूर्ण तौर से शासन करता है; क्योंकि वह सब अभिव्यक्तियों को जानता है, उनके कारणों को समझता है, उनके नियम और पद्धति से युक्त होता है, उनको उचित परिणाम के लिए बाध्य करता है। मनुष्य के अन्दर ये यज्ञिय शक्तियां ( होत्राः ) सात हैं, जिनमें से प्रत्येक मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता के घटक सात तत्त्वों—अर्थात् शरीर, जीवन ( प्राण ), मन, विज्ञान ( Super-mind ) आनन्द, संकल्प ( चित् ) और सारभूत सत्ता (सत्)—से क्रमशः संबन्ध रखती है। उनकी अनियमित क्रिया या मिथ्या सम्बन्ध ही, जो कि **मन** के अन्दर ज्ञानके तमोग्रस्त हो जाने से पैदा होते हैं और कायम रहते हैं, सब स्खलनों और दुःखों के, सब पापमय क्रियाओं और पापमय अवस्थाओंके कारण हैं। **सूर्य, ज्ञान का अधिपति,** उनमें से प्रत्येक को यज्ञ में उसके उचित **स्थान** में स्थापित कर देता है। "सब दृश्यजात का ज्ञाता अकेला वह यज्ञिय शक्तियों को क्रम में स्थापित कर देता है", **वि होत्रा दधे वयुनावित् एक इत्।**

मनुष्य इस प्रकार अपने अन्दर इस दिव्य **रचयिता** की विशाल और सर्वव्यापी स्तुति पर—वह ऐसा ही है ऐसे दृढ़श्रद्धापूर्वक कथन पर—जा पहुंचता है। यह इसी सन्दर्भमें संकेतित कर दिया गया है और अगली ऋचामें तो और भी अधिक स्पष्टता के साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है

---

* "युञ्जते मनः, उत युञ्जते धियः, विप्राः, विप्रस्य-बृहतः-विपश्चितः।" 'विप्रस्य', 'बृहतः', 'विपश्चितः' इनमें विभक्ति षष्ठी है इसलिये इनका अर्थ होगा 'विप्र के', 'बृहत् के', 'विपश्चित् के'। इसलिये शब्दार्थ करते हुए 'के' ऐसा षष्ठीपरक अर्थ ही किया है, पर आगे कोष्ठ में अर्थ स्पष्ट कर दिया है कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् के' इसका अर्थ है 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् के प्रति'। अथवा, यह वाक्यरचना ऐसी है कि 'विप्रस्य, बृहतः, विपश्चितः' के आगे 'भवितुम्' का अध्याहार करने से जो अर्थ निकलता है वही इसका अर्थ होगा कि 'विप्र, बृहत्, विपश्चित् का हो सकने के लिये', अर्थात् इसलिये कि उसके अंग बन सकें या उससे सम्बद्ध हो सकें। —अनुवादक

कि इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य की पूर्ण सत्ता के जगत् की एक उचित और सुखमय रचना—क्योंकि हमारी सारी ही सत्ता एक सतत रचना ही है—होने लगती है। "महान् है देव सविता की व्यापक स्तुति", मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः। ( मन्त्र १ )

सूर्य द्रष्टा है, प्रकट करने वाला है। उसका सत्य अपने प्रकाश में वस्तुओंके सब रूपोंको, सब दृग्गोचर विषयों को और अनुभूतियों को जिनका बना हुआ हमारा यह जगत् है, विराट् चेतना की उन सब आकृतियों को जो हमारे अन्दर और हमसे बाहर हैं, लिये हुए है। यह उनके अन्दर के सत्य को, उनके अभिप्राय को, उनके प्रयोजन को, उनके औचित्य तथा ठीक प्रयोग को प्रकट करता हैं। यज्ञ की शक्तियों को समुचित प्रकार से क्रम में स्थापित करता हुआ यह हमारी समग्र सत्ता के नियम के तौर पर भद्रको रचता या पैदा करता है। क्योंकि सभी वस्तुएं अपनी सत्ता का, अपने उत्तम उपयोग का और अपने उचित आनन्द का कोई समुचित कारण रखती हैं। जब वस्तुओं के अन्दर यह सत्य पा लिया जाता है और उपयोग में ले आया जाता है तब सब वस्तुएं आत्मा के लिए भद्र को पैदा कर देती हैं, इसके आनन्द को बढ़ा देती हैं, इसके ऐश्वर्य को विशाल कर देती हैं। और यह दिव्य क्रान्ति दोनों के अन्दर होती है, निम्न भौतिक सत्ता के अन्दर ( द्विपदे ) तथा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण उस आन्तरिक जीवन के अन्दर ( चतुष्पदे ), जो कि अपनी अभिव्यक्ति के लिए इस ( भौतिक जीवन ) का उपयोग करता है*। "वह द्रष्टा सब रूपों को धारण करता है, वह द्विगुण ( द्विपद ) के लिए और चतुर्गुण ( चतुष्पद ) के लिए भद्र को प्रकट कर देता ( रच देता या अभिव्यक्त कर देता ) है", विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः, भद्रं प्रासावीद् द्विपदे चतुष्पदे।

इस नवीन रचना की पद्धति सूक्त के शेष भाग में वर्णित की गई है। सूर्य, रचयिता बन कर, परम वरणीय बन कर, हमारी मानवीय चेतना में उस ( चेतना ) के छिपे हुए दिव्य शिखर को विशुद्ध मन के स्तरों पर अभिव्यक्त कर देता है और हम इस योग्य हो जाते हैं कि अपनी भौतिक सत्ता की पृथिवी पर से ऊपर की ओर देख सकें और हम अज्ञान रूपी रात्रि के अन्धकारों से छूट जाते हैं। वह, प्राकृतिक सूर्य की तरह, उषाके प्रयाण का अनुसरण करता है तथा हमारी सत्ताके सब प्रदेशों को, जिनके ऊपर इसका प्रकाश पड़ता है, यह आलोकित कर देता है; क्योंकि इस से पहले कि स्वयं सत्य, अतिमानस तत्त्व, इस निम्न सत्ता पर अधिकार पा लेवे, हमेशा मानसिक प्रकाशका पहले आना अपेक्षित होता है। "वह रचयिता, वह परम वाञ्छनीय, सारे द्यौ को अभिव्यक्त कर देता है, और उषा की अग्रमुख गति [ प्रयाण ] के बाद या उस के अनुसार अनुगमन करता हुआ व्यापक

---

*"द्विपदे" और "चतुष्पदे" शब्दों के प्रतीकवाद की इससे भिन्न भी व्याख्या की जा सकती है। यहां इस विषय में विवाद उठायें तो वह बहुत अधिक स्थान ले लेगा।

रूपमें प्रकाशित हो उठता है", वि नाकमख्यत् सविता वरेण्यः, अनु प्रयाणमुषसो विराजति। (मन्त्र २)

सब अन्य देव सूर्य के इस प्रयाण में उसके पीछे पीछे आते हैं और वे उसके प्रकाश की शक्ति द्वारा उसकी बृहत्ता को पा लेते हैं। अभिप्राय यह कि जब मनुष्य के अन्दर सत्य और प्रकाश का विस्तार हो जाता है तब उसके साथ-साथ अन्य सब दिव्य शक्तियां या दिव्य संभाव्यतायें भी उसके अन्दर विस्तारित हो जाती हैं; आदर्श अतिमानस तत्त्व (विज्ञान) के बल द्वारा वे उचित सत्ता, उचित क्रिया और उचित ज्ञान की उसी असीम विशालता को पा लेती हैं। सत्य जब अपनी विशालता में होता है तब सबको असीम और विराट् जीवन के रूपों में ढाल देता है; सीमित वैयक्तिक सत्ताको हटाकर उसके स्थान पर इन्हें ला देता है, भौतिक चेतनाके लोकों को जिन्हें कि सविता बनकर इसने रचा था, उनकी वास्तविक सत्ता के स्वरूपों में माप देता है। यह भी हमारे अन्दर एक रचना ही है, यद्यपि असल में यह केवल उसे व्यक्त करता है जो पहले से ही विद्यमान है पर हमारे अज्ञानके अन्धकार से ढका हुआ है,—ठीक उसी तरह जैसे कि भौतिक पृथिवीके प्रदेश अन्धकार के कारण हमारी आंखों से छिपे होते हैं, पर तब प्रकट हो जाते हैं जब कि सूर्य अपने प्रयाण में उषा का अनुसरण करता है और एक-एक करके उन पार्थिव प्रदेशों को दृष्टि के आगे मापता चलता है। "जिसके प्रयाणका अनुसरण करते हुए अन्य देव भी, उसकी शक्ति द्वारा, दिव्यता की महत्ता को पा लेते हैं। दीप्तिमान् वह सविता देव अपनी महत्ता द्वारा प्रकाश के पार्थिव लोकों को पूर्ण तौर से माप देता है", यस्य प्रयाणमनु अन्य इद् ययुः, देवा, देवस्य महिमानम् ओजसा। यः पार्थिवानि विममे, स एतशः, रजांसि देवः सविता महित्वना ॥ (मन्त्र ३)

परन्तु यह केवल हमारी भौतिक या पार्थिव चेतना ही नहीं है जिसे यह दिव्य सत्य इसकी पूरी क्षमता तक आलोकित करता है और इसे पूर्ण क्रिया के लिये तैयार कर देता है। पर यह विशुद्ध मन के तीन प्रकाशमान लोकों (त्रीणि रोचना) को भी व्याप्त करता है; यह हमारे अन्दर संवेदनों और भावोद्वेगों को, प्रज्ञा को, अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि को सब दिव्य संभाव्यताओं के संस्पर्श में ले आता है और उच्चतर शक्तियों को उनकी सीमा से तथा भौतिक जगत् के साथ उनके सतत संपर्क से छुड़ाता हुआ यह हमारी समस्त मानसिक सत्ता को परिपूरित कर देता है। इसकी क्रियायें अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति को पा लेती हैं; वे सूर्य की किरणों द्वारा, अर्थात् हमारे अन्दर व्यक्त हुए दिव्य अतिमानस तत्त्व (विज्ञान) की पूर्ण दीप्ति द्वारा, पूर्ण सत्य के जीवनमें आकर इकट्ठी हो जाती हैं। "और हे सवितः! तू तीन प्रकाशमान लोकोंमें जाता है, और तू सूर्य की किरणों द्वारा पूर्ण तौर से अभिव्यक्त किया गया है (या, किरणों द्वारा एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है)", उत यासि सवितः त्रीणि रोचना, उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।

तब यह होता है कि अमरता का, प्रकाशित हुए सच्चिदानन्द का, उच्च साम्राज्य इस लोक

में पूरे तौर से चमक उठता है। इस अतिमानस स्वतःप्रकाश की ज्योति में उच्च और निम्न का वैर शान्त हो जाता है। **अज्ञान, रात्रि,** हमारी पूर्ण सत्ता के दोनों पार्श्वों में, न कि केवल एक पार्श्व में जैसी कि हमारी वर्तमान अवस्थामें है, प्रकाशित हो उठती है। यह उच्च साम्राज्य अपने आप को **आनन्द** के तत्त्व में प्रमाणित करता है, जो आनन्द का तत्त्व हमारे लिए मित्र देवता से द्योतित होने वाला प्रेम और प्रकाश का तत्त्व है। **सत्य का देवता** ( सविता ), जब वह अपने आप को पूर्ण देवत्व में प्रकट करता है, **आनन्द का देवता** ( मित्र ) हो जाता है। उसकी सत्ता का नियम, उसकी क्रियाओं को नियमित करने वाला तत्त्व, प्रेम रूप धारण करता हुआ देखा जाता है; क्योंकि ज्ञान तथा क्रियाके उचित व्यवस्थामें आ जाने पर प्रत्येक ही वस्तु यहां भद्र, ऐश्वर्य, आनन्दके रूपों में परिवर्तित हो जाती है। "और तू रात्रिको दोनों पार्श्वों से घेर लेता है, और हे देव! तू अपनी क्रिया के नियमों से मित्र बन जाता है", **उत रात्रीमुभयतः परीयसे, उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः।** ( मन्त्र ४ )

दिव्य सत्ताका सत्य अन्ततः अकेला हमारे अन्दर सब रचनाओंका एकमात्र अधिपति हो जाता है; और अपने सतत अभ्यागमनों द्वारा या अपनी निरन्तर प्रगतियों द्वारा वह **रचयिता पोषक** बन जाता है, **सविता पूषा** बन जाता है। वह एक सतत, उत्तरोत्तर प्रगतिशील रचना के द्वारा हमें समृद्ध करता चलता है, जब तक कि वह हमारी संभूतिके (जो कुछ हुवा है उसके) समस्त लोक (विश्वं भुवनम्) को आलोकित नहीं कर देता। हम बढ़ते हुवे पूर्ण, विराट्, असीम हो जाते हैं। इस प्रकार 'श्यावाश्व आत्रेय' सविता को अपनी सत्ता के अन्दर स्तुत–सुस्थापित–कर लेने में सफल हो सका है, उस सविता को जो कि आलोकप्रदाता सत्य है, रचयिता है, प्रगतिशील है, मनुष्य का पोषक है—जो मनुष्य को अहंभाव की सीमा में से निकाल कर व्यापकता में परिणत कर देता है, सीमित से हटा कर असीम कर देता है। "और तू अकेला ही रचना के लिये शक्ति रखता है; और हे देव! तू गतियों द्वारा पोषक बनता है, और तू इस समस्त लोक को (भुवनम्, शाब्दिक अर्थ है 'संभूति को') पूर्णतः प्रकाशित कर देता है। श्यावाश्व ने, हे सवितः! तेरे स्तवन को प्राप्त कर लिया है", **उत ईशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत, उत पूषा भवसि देव यामभिः। उत इदं विश्वं भुवनं विराजसि, श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे॥**

---

# कर्मयोगी

## पञ्चम अध्याय

## बलिदान का सिद्धान्त

आत्मबलिदान का भाव सब राष्ट्रों और सभी व्यक्तियों में आम नहीं है; यह दुर्लभ और अति उत्कृष्ट है, यह मनुष्यजाति की नैतिक उन्नति का पुष्पित रूप है, स्वार्थरत पशुत्व से स्वार्थरहित देवत्व की ओर हमारे क्रमिक उदय का प्रमाण है। आत्मबलिदान के लिये जिसमें सामर्थ्य है ऐसे मनुष्य ने, चाहे उसके अन्य प्रकार के पाप कितने ही हों, पशु को अपने पीछे छोड़ दिया है; उसमें भावी और उच्चतर मानवता के निर्माण की सामग्री है। जो राष्ट्र आत्मबलिदान करने की राष्ट्रीय तौर पर सामर्थ्य रखता है उस का भविष्य सुरक्षित है।

आत्मबलिदान चाहे अनैच्छिक हो या स्वार्थ के रूपों से आवृत हो, फिर भी वह हमारे जीवन की शर्त है। मानवता में इस की क्रमिक वृद्धि हुई है। प्रथम बलिदान सदा ही स्वार्थमय होते हैं—उन में अपनी उन्नति के लिये दूसरों का बलिदान समाविष्ट रहता है। एक माता में, जो कि अपने बच्चें के लिये अपना जीवन बलिदान करने के लिये तैय्यार है, पाशविक प्रेम की सहज प्रवृत्ति पहला क़दम आगे बढ़ा लेती है, उसी प्रकार एक मनुष्य में जो कि अपने साथी के लिये अपने जीवन की बलि देने के लिये तैय्यार है, रक्षा की सहज प्रवृत्ति पहला क़दम आगे बढ़ा लेती है। इस प्रवृत्ति की वृद्धि इस बात का चिह्न है कि आत्मा के सम्बन्ध में हमारा मानसिक विचार विस्तृत हो गया है। जब तक मनुष्य अपने शरीर और उसकी इच्छाओं को ही अपनी आत्मा करके जानता है तब तक जीव की अवस्था अप्रगतिशील है और पाशविक है। जब आत्मा विस्तृत होकर अपने साथी और बच्चों को अपने अन्तर्गत समझने लगता है, केवल तभी प्रगति सम्भव हो पाती है। यह मनुष्यता में आने की सब से पहली अवस्था है, किन्तु इस में भी पशुत्व की कुछ मात्रा बची रहती है क्योंकि इसमें स्त्री और बच्चों के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार का विचार रहता है कि ये मनुष्य के अपने सुख, बल, शान, आराम के लिये अभिप्रेत चल व अचल संपत्ति-रूप हैं। पर परिवार इस दृष्टि से देखा जाने पर भी सभ्यता का आधार बनता है, क्योंकि यह सामाजिक जीवन को सम्भव बना देता है। परन्तु मनुष्य में देवत्वकी वास्तविक उन्नति तब तक नहीं शुरू होती जब तक कि परिवार अपने शरीर के जीवन से इतना अधिक प्रियतर नहीं हो जाता कि मनुष्य इसके लिये अपने आप को बलिदान करने और इसके हित अथवा इसके रक्षण के लिये अपने आराम वा अपने जीवन तक को

भी उत्सर्ग कर देने के लिये तैय्यार न हो जाय। परिवार के लिये अपने आराम को त्याग देना, यह एक ऐसी अवस्था है जिसे बहुत मनुष्य प्राप्त कर चुके हैं; स्त्री के सम्मान या घर की सुरक्षा के लिये अपने जीवनका उत्सर्ग कर देना, यह एक उच्चतर प्रकृतिका कार्य है जिस में कि मनुष्य व्यष्टि रूपमें, विशेष वर्गों के रूप में भी समर्थ होता है, परन्तु समष्टि रूप में नहीं। परिवार के आगे समाज या जनसंघ आता है और एवं आत्मा के विस्तार में अगला क़दम आता है जब कि शरीर में विद्यमान आत्मा और परिवार में विद्यमान आत्मा के साथ तादात्म्य, समाज (संघ) में विद्यमान आत्मा के साथ तादात्म्य के सामने झुक जाता है। इस बात को स्वीकार करना कि मनुष्य पर अपने परिवार की अपेक्षा अपने जनसंघ का अधिक बड़ा दावा है, सामाजिक अवस्था की ओर प्रगति की सब से पहली शर्त है। यह अवस्थाक्रम उसी दर्जे का है जैसे कि पितृशासित परिवार में से जाति की उत्पत्ति और उन सांघिक संस्थाओं की परिपक्वावस्था जिनका नमूना कि हमारा ग्रामसंघ (पंचायत) था। यहां फिर, पारिवारिक स्वार्थ को संघ के अधिक विस्तृत स्वार्थ पर बलि चढ़ाने के लिये सदा उद्यत रहना, साङ्घिक जीवन की सर्वप्रथम आवश्यक शर्त होनी चाहिये और संघ की सुरक्षा के लिये अपना जीवन दान कर देना एक दिव्यता का कार्य होना चाहिये जो दिव्यता विस्तृत हो रही आत्मा की सांघिक विचार में पूर्णताप्राप्ति का चिह्न है। अगला विशालीकरण है राष्ट्र में विद्यमान आत्मा। राष्ट्र का विकास एक ऐसी प्रगति है जो कि आधुनिक अवस्था में मानवता के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य के स्वार्थ को, परिवार के स्वार्थ को, वर्ग के स्वार्थ को, जिनकी कि गहरी जड़ें अब तक भी अतीत में जमी हुई हैं, अब विशालतर राष्ट्रीय आत्मा में अपने आप को विलुप्त कर देना अवश्य सीखना होगा जिससे कि मानवता में विद्यमान ईश्वर वृद्धि पा सके। इसीलिये ही राष्ट्रवाद इस युग का धर्म है, और ईश्वर हमारी सार्वजनीन माता के रूप में अपने आप को हमारे सामने व्यक्त कर रहा है। राष्ट्रीयता का निर्माण करने के लिये सर्वप्रथम प्रयत्न थे यूनानी नगर, सैमिटिक या मंगोलियन एकराजतन्त्र, कैल्टिक गण, आर्य कुल या जाति। इन सब विचारों के सम्मिश्रण का ही यहां तक परिणाम हुवा कि मध्यकालीन राष्ट्र बने और आधुनिक जनताओं, राष्ट्रीय प्रजाओं का विकास हुवा। यहां फिर, यह अपने स्वार्थ, पारिवारिक स्वार्थ, वर्ग के स्वार्थ को विशालतर राष्ट्रीय स्वार्थ पर बलि चढ़ाने के लिये उद्यत रहना ही है जो कि मानवता की राष्ट्र के रूप में पूर्णताप्राप्ति की शर्त है और इस की भलाई या सुरक्षा के लिये मर मिटना विशालतर राष्ट्रीय 'अहं' में आत्मा की पूर्णताप्राप्ति का परम कार्य है। इससे भी अधिक ऊंची एक पूर्णता है जिसके लिये केवल कुछेक व्यक्तियों ने ही अपने आप को तैय्यार दिखलाया है, वह है सारी मानवता को अन्तर्गत कर लेने के लिये आत्मा का विस्तार। मानवतावाद के आदर्शों पर कुछेक व्यक्तियों के अपने आप को बलि चढ़ा देने से इस दिशा में आगे क़दम बढ़ाया जा चुका है, परन्तु राष्ट्र के हितों को मानवता के विशालतर हित पर बलिदान कर डालना एक ऐसा कार्य है जिस के लिये कि

मानवता समष्टि रूप में अभी तक तैय्यार व समर्थ नहीं हुई है। परमेश्वर तैय्यारी करता है, पर वह फल को उसकी ऋतु से पहले पकाने की जल्दी नहीं करता। एक समय आवेगा जब कि यह भी सम्भव होगा, परन्तु वह समय अभी नहीं है। न ही मानवता के लिये यह अच्छा होगा कि यह बृहत्तर अवस्था अभी उपस्थित हो जाय पूर्व इसके कि दूसरा और लघुतर तादात्म्य पूरा हो; क्योंकि ऐसा होने से फिर पीछे हटना आवश्यक हो जायगा ताकि जिस क़दम को छोड़ दिया गया है उसे पीछे हट कर, ठहर कर सुरक्षित कर लिया जाय। मानवता का आगे बढ़ना एक अविरत प्रगति है और दूर आगे की स्थितियों पर जल्दी से जा पहुँचने का कोई बड़ा लाभ नहीं है, जब तक कि पीछे के आवश्यक स्थान काबू में नहीं लाये जा चुके हों।

राष्ट्रीय अहं का सहज ही में यह अर्थ हो सकता है कि यह सामूहिक स्वार्थपरता है, इससे अधिक यह और कुछ नहीं। मैं धन दौलत और आरामको देशके लिए बलिदान करनेको तैयार हो सकता हूं ताकि अपने धन, यश या स्थिति और संपत्ति को, जो कि उसकी सुरक्षा और महत्ता पर निर्भर करते हैं, सुरक्षित रख सकूं। मैं अपनी उस घर गृहस्थी की रक्षा के हेतु, जिसे कि उस ( राष्ट्र ) की सुरक्षा दृढ़ कर देती है, इन्हें और इनसे भी अधिक चीज़ोंको उस पर बलिदान करनेको उद्यत हो सकता हूं। मैं उसके लिये बहुत कुछ बलिदान करने को तैयार हो सकता हूं क्योंकि उस की महत्ता, ऐश्वर्य, आराम का अर्थ होता है मेरे संघ या मेरे वर्ग की महत्ता, ऐश्वर्य, आराम। या उस में मेरा स्वाभिमान निहित होने के कारण और अपने राष्ट्र को बलशाली तथा साम्राज्यशाली देखने की मेरी इच्छा होने के कारण, उस की महत्ता को अधिगत करने के लिए प्रत्येक चीज़ का उत्सर्ग करने को मैं उद्यत हो सकता हूँ। ये सब स्वार्थ के रूप हैं जो मनुष्य का उस विशालतर जीवन में पीछा करते हैं जो ( विशालतर जीवन ) कि उसे स्वार्थ से मुक्त करने में सहायता करने के लिए अभिप्रेत है। पूंजीवाद का अभिशाप, साम्राज्यवाद का अभिशाप जो कि आधुनिक राष्ट्रों को पीड़ित कर रहे हैं उन का कारण इन स्वार्थों में रत रहना, इन्हें न छोड़ सकना ही है। यह स्वार्थपरता उस अभिमान, मद और अन्याय का उद्‌गमस्थान है जो कि किसी राष्ट्र की समृद्धि पर आघात पहुंचाते हैं और, उस घातक प्रगति के द्वारा जिस की कि यूनानियों ने ( इन चीज़ों के लिये अपनी तीव्र संवेदन-शक्ति रखनेके कारण ) स्पष्टतया सीमा निर्धारण की थी, यह ( स्वार्थपरता ) उस समृद्धिसे मद और क्रोधावेशकी ओर ले जाती है और मद तथा क्रोधावेश से उस अन्धसंमोहकी ओर, जो कि मनुष्यों और राष्ट्रों के संहार के लिये ईश्वर का साधन है। इस पीछा करने वाली बुराई का केवल एक ही इलाज है और वह है राष्ट्र को सर्वसमान मानवता में एक आवश्यक इकाई समझना किन्तु इससे अधिक नहीं।

किसी राष्ट्रके जीवन में दो अवस्थायें आती हैं, पहली तब जब कि यह अपना निर्माण या नव निर्माण कर रहा होता है, दूसरी, जब कि यह निर्मित, गठित और शक्तिशाली हो जाता है। पहली

यह अवस्था है जब कि राष्ट्रवाद व्यक्ति के सामने अपनी बड़ीसे बड़ी मांगें उचिततया ही पेश करता है; दूसरी में इसे अपनी मांगों को न्यून कर देना चाहिये और, सन्तुष्ट होकर, अपने आपको विश्वबन्धुत्व में रक्षित या कायम रखना चाहिये कुछ उसी ढंग से जैसे कि व्यक्ति अपने आप को परिवार में कायम रखता है, परिवार अपने को वर्ग में, वर्ग राष्ट्र में—अपने आप को अनावश्यक तौर पर नष्ट करते हुए नहीं बल्कि विशालतर हित को अंगीकृत करते हुए। किसी पराधीन राष्ट्र के अपने पृथक् अस्तित्व को उपलब्ध करने के लिये किये गये सङ्घर्षों में, इस विशालतर हित को केवल एक आगे आने वाली दूर की वस्तु के तौर पर ही सामने रखा जा सकता है, और विशालमनयुक्त तथा उदार देशभक्ति के एक उच्चतर प्रेरक के तौर पर ही अपनाया जा सकता है। ऐसे राष्ट्रका विशालतर हित पर कोई बलिदान सम्भव नहीं है, क्योंकि उस राष्ट्र को अपना अस्तित्व अवश्य कायम रखना होगा पूर्व इसके कि वह उच्चतर भलाई के लिए अपने हितों की बलि दे सके।

इस समय हम पहली या निर्माण होने की अवस्था में हैं, और इस अवस्था में राष्ट्रवाद की मांग पूरी करना अवश्यंकर्त्तव्य है। राष्ट्र का निर्माण करने के परम ध्येय पर व्यक्ति, परिवार और वर्ग के बलिदानों से ही यह सम्भव है कि ऐसी विरोधी परिस्थितियों में राष्ट्रवाद अपनी सत्ता के लिये आवश्यक सर्वप्रथम अवस्थाओं को सुरक्षित तौर पर दृढ़ कर सके। नवीन राष्ट्रीयताका प्रत्येक कार्य कष्ट-सहन और आत्मत्याग के लिए पुकार रूप हो कर उपस्थित होता रहा है। स्वदेशी एक ऐसी पुकार थी, पंचायत एक ऐसी पुकार थी, राष्ट्रीय शिक्षा एक ऐसी पुकार थी, इन सब से बढ़ कर, निष्क्रिय प्रतिरोध एक ऐसी पुकार थी। व्यक्ति और परिवार को राष्ट्र के हितों पर उत्सर्ग करने की आम तैयारी के बगैर इनमें से कोई भी चीज़ उपलब्ध नहीं की जा सकती। आजकल एक नई पुकार स्पष्ट रूप धारण कर रही है, उच्चतर वर्गोंके प्रति यह पुकार कि वे निम्न वर्गोंके उत्थानके लिए अपने विशेषाधिकारों और अविचारपूर्ण पूर्वग्रहों को उस प्रकार बलिदान कर डालें जैसे कि जापानी सामुराइयों ने किया। स्वेच्छापूर्वक आत्मबलिदान की आम भावना का प्रसार भारतीय राष्ट्र के निर्माण की अपरिहार्य पूर्वभूमिका है। यह सत्य केवल हमारे उस आन्दोलन के स्वरूप से ही स्पष्ट नहीं होता है जो कि हमने प्रारम्भ किया है, बल्कि इतिहास और अनुभव की कसौटियों से भी पुष्ट होता है जिन ( इतिहास और अनुभवकी कसौटिओं ) पर आजकल हमें अपने प्रत्येक फुटकर मामले को परखकर प्रमाणित करना होता है इससे पहिले कि हम उसविषयक बलिदानकार्य का अन्तिम निश्चय करें। इतिहास और अनुभव की बात पर जोर देकर राष्ट्रवादी दलने ( राष्ट्र की ) बुद्धि को कायल किया है, वैसे ही जैसे कि अपने प्रेरणादायक आदर्शों और कष्टसहन की तैयारी से इसने राष्ट्र के हृदय को अपने साथ ले लिया है। यह मांग कि हमें प्रत्येक फुटकर बात के सम्बन्ध में सारे प्रश्न पर ही फिर से विचार करना चाहिये अत्यधिक है और असम्भव है। इतना काफी है कि हमें बलिदान की उपयोगिता और आवश्यकता पर सामान्यतया विश्वास हो चुका है और हम

व्यक्तिगत पुकार को अनुभव करते हैं। यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि उस जनसमाज की अवस्थासे जो कि सुगठित है, स्वाधीन है और समृद्ध हो रहा है, हम उस जनसमाजकी अवस्थाका अनुमान नहीं कर सकते जो कि पराधीन है, सङ्घर्ष कर रहा है और आपद्ग्रस्त है। पहली अवस्था में व्यक्ति को आत्मबलिदान के बार बार होने वाले कार्यों के लिए नहीं पुकारा जाता है, किन्तु केवल उनके लिए जिन की मांग राष्ट्र को नियमित तौर से रहती है, और आवश्यकता आ पड़ने पर विशेष बलिदान की सामान्य तैयारी रखने के लिये भी। परन्तु दूसरी अवस्था में बलिदान की आवश्यकता एक स्थिर वस्तु है। न ही यह कोई युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ऐसी परिस्थितियों में साहस तथा आत्मोत्सर्ग के प्रत्येक फुटकर कार्य के लिए पर्याप्त मूल्य की मांग की जाय। अपनी स्वाधीनता का मूल्य मांगे जाने पर पराधीन राष्ट्र के व्यक्तियों का कर्मफलप्रदाता से यह कहना निःसन्देह अजीब होगा, "मेरे प्रत्येक फुटकर बलिदान के बदले में आप को मुझे इतना देना पड़ेगा और हमें आप की शर्तें पहले से ही मालूम होनी चाहियें। अपने कष्टों के लिए प्रतिफल पाने को हम एक पैसा भर भी आप पर विश्वास नहीं करेंगे।" ऐसे पुरुषों द्वारा और ऐसी भावना से कभी कोई पराधीन राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं हुए हैं।

---

इन विविध साधनों में जो मुख्य बात है जिस के होने से ही ये सब साधन बनते हैं वह है निम्न प्रकृति की चेष्टाओं को अपने अधीन करना, काम के प्रभुत्व को घटाकर उसके स्थान में किसी महती शक्तिको प्रतिष्ठित करना, अहमात्मक भोगको त्याग कर उस दिव्य आनन्दका आस्वादन करना जो यज्ञ से, आत्मोत्सर्ग से, आत्मप्रभुत्व से, अपने निम्न आवेगों को किसी महत्तर ध्येय पर न्योछावर करनेसे प्राप्त होता है।

—'गीताप्रबन्ध' पृ. १६३

× × ×

एक पूर्णताप्राप्त समाज भी तभी वर्तमान रह सकता है जब उसके प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करें, और पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक सत्ताको ढूंढ निकाले और जीवनमें उसे प्रतिष्ठित करे तथा सब लोग अपने आध्यात्मिक एकत्वका और सामूहिक जीवनके अन्दर एकत्वका आविष्कार करें।

—दि लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ. ११५६

---

श्रीअरविन्द के पत्र—

# रूपान्तर-योग

रूपान्तर से मेरा अभिप्राय प्रकृति के कुछ परिवर्तन से नहीं है—उदाहरणार्थ, मेरा मतलब सन्तपने या सदाचारसम्बन्धी पूर्णता या ( तान्त्रिक की सिद्धियों जैसी ) यौगिक सिद्धियों या चिन्मय ( transcendental ) शरीर की प्राप्ति से नहीं है । रूपान्तर को मैं विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता हूँ । वह अर्थ है चेतनाका आमूलचूल और पूर्ण और एक विशिष्ट प्रकार का परिवर्तन जिस की कि इस प्रयोजनके लिये कल्पना की गयी है कि वह जीवके आध्यात्मिक विकास में एक दृढ़ तथा निश्चित कदम को आगे बढ़ाने वाला होगा, जो नया विकास उससे अधिक महान् और उच्च प्रकार का तथा विस्तीर्णतर क्षेत्र और पूर्णता वाला होगा जो कि तब हुआ था जब कि मनोमय जीव प्राणमय और अन्नमय प्राणिजगत् में सर्वप्रथम प्रकट हुआ । अगर इससे कम कोई चीज हो या यदि कम से कम इस आधार पर वह एक वास्तविक उपक्रम न हो, इस पूर्णता की ओर आधारभूत प्रगति न हो, तो मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होता । कोई आंशिक उपलब्धि, मिश्रित और अनिर्णायक वस्तु, उस मांग को पूरा नहीं करती जिसकी पूर्त्ति मैं जीवन और योग से चाहता हूं ।

साक्षात्कार का प्रकाश और अवतरण एक ही वस्तु नहीं हैं । साक्षात्कार अपने आप में सत्ता को समग्र रूप से आवश्यक तौर पर रूपान्तरित नहीं कर देता; यह केवल शिखर पर चेतना को उद्घाटित या उन्नत या विस्तीर्ण कर सकता है जिससे कि प्रकृति के भागों में किसी मूलगत परिवर्तन के आये बग़ैर पुरुषभाग में कुछ साक्षात्कार प्राप्त किया जा सके । कोई भी व्यक्ति चेतना के आध्यात्मिक शिखर पर साक्षात्कार का कोई प्रकाश प्राप्त कर सकता है परन्तु नीचे के भाग वही बने रहते हैं जो कुछ कि वे थे । इसके कितने ही दृष्टान्त मैंने देखे हैं । प्रकाश का अवतरण केवल मन या उस के किसी भाग में ही नहीं किन्तु स्थूलभौतिक और उससे भी नीचेके भागों तक सम्पूर्ण सत्ता में होना चाहिये पूर्व इसके कि वास्तविक रूपान्तर हो सके । मन में प्राप्त प्रकाश मन को या उसके भाग को अध्यात्ममय कर सकता या किसी न किसी ढङ्ग से अन्य रूप में परिवर्तित कर सकता है, किन्तु प्राणमय प्रकृति को बदल देना इसके लिये आवश्यक नहीं; प्राण में प्राप्त प्रकाश प्राणमय गतियों को पवित्र और विस्तृत कर सकता है या फिर प्राणमय सत्ता को शान्त और निश्चल कर सकता है, किन्तु सम्भव है कि शरीर और भौतिक चेतना को वैसी की वैसी छोड़ दे, या इसे जड़ ही

---

ये पत्र श्रीअरविन्द द्वारा अपने शिष्यों के प्रश्नों के उत्तर में लगभग १६३०-३१ के वर्ष में लिखे गये थे ।

धनी रहने दे या इसके संतुलन को हिला दे। साथ ही प्रकाश का अवतरण ही काफी नहीं है, समग्र उच्चतर चेतना का, उस की शान्ति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम, आनन्द का अवतरण होना चाहिये। और फिर, यह हो सकता है कि अवतरण मुक्त करने के लिये पर्याप्त हो किन्तु पूर्ण बनाने के लिये न हो अथवा यह आन्तरिक सत्ता में महान् परिवर्तन लाने के लिये पर्याप्त हो सकता है, जब कि बाह्य सत्ता अपूर्ण यन्त्र ही—भद्दा, रुग्ण या अभिव्यक्ति में असमर्थ—बनी रहे। अन्त में, साधनासे सम्पादित रूपान्तर पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि वह सत्ता का विज्ञानमयीकरण न हो। अन्तरात्ममयीकरण पर्याप्त नहीं है, यह तो केवल प्रारम्भ है; अध्यात्ममयीकरण और उच्चतर चेतना का अवतरण पर्याप्त नहीं है, यह केवल मध्यावस्था है; चरम उपलब्धि तो विज्ञानमय चेतना और शक्ति की क्रिया की अपेक्षा रखती है। इस से कम किसी चीज़ को व्यक्ति भले ही पर्याप्त समझ सकता है किन्तु पृथ्वीचेतना के लिये यह काफ़ी नहीं है जिस से कि वह एक निश्चित बड़ा क़दम आगे बढ़ा सके जो कि उसे एक न एक समय बढ़ाना ही होगा।

मैंने यह कभी नहीं कहा है कि मेरा योग अपने सभी तत्त्वों में कोई बिल्कुल नवीन वस्तु है। मैंने इसे पूर्णयोग के नाम से पुकारा है और उसका अर्थ है कि यह पुराने योगों के सार और अनेक क्रियाओं को अपनाता है—इसकी नवीनता इसके लक्ष्य, दृष्टिकोण और इसकी पद्धति की समग्रता में है। प्रारंभिक अवस्थाओं में, जिनकी ही चर्चा कि मैं पहेली या प्रदीप या प्रकाशित होने वाली नयी पुस्तक * में करता हूं, ऐसी कोई बात इस योग में नहीं है जो इसे पुराने योगों से विभिन्न दर्शावे, सिवाय उस लक्ष्य के जो कि इसकी सर्वसंग्राहकता के आधार में विद्यमान है, उस भावना के जो कि इसकी गतियों में है और उस अन्तिम प्रयोजनके जिसे कि यह अपने सामने रखता है—साथ ही, सिवाय इसके मनोविज्ञान की तथा इसकी क्रियाप्रणाली की शैली के: परन्तु क्योंकि इसे इन पत्रों में पद्धतिपूर्वक और योजनापूर्वक न तो विस्तारित किया गया और न किया जा सकता था, अतएव वे लोग जो बौद्धिक परिचय द्वारा या कुछ थोड़े से अभ्यास के द्वारा इस योग से पहले से ही परिचित नहीं हैं, इसे समझ नहीं पाये हैं। योग की पिछली अवस्थाओं की, जो कि अज्ञातप्राय या अक्षुण्ण प्रदेशों में पहुंचती हैं, बारीकियां या विधियों को मैंने जनसाधारण के समक्ष नहीं रखा है और फिलहाल मैं ऐसा करने का इरादा भी नहीं रखता।

मुझे यह भी भलीभांति विदित है कि इस से मिलते जुलते दीखने वाले आदर्श और इसकी पूर्व झांकिआँ पहले रही हैं—मनुष्यजाति को पूर्ण बनाने की संभावना, कतिपय तान्त्रिक साधनायें, योग के कुछ सम्प्रदायों का पूर्ण भौतिक सिद्धि के लिये प्रयत्न इत्यादि इत्यादि। मैंने स्वयं भी इन बातों की ओर संकेत किया है और इस विचार को प्रस्तुत किया है कि मनुष्यजाति का आध्यात्मिक भूतकाल केवल संसार से परे भगवान् को पानेके लिये नहीं किन्तु पृथ्वी-चेतना के विकास

* योग के आधार

ने अभी जो अगला ही क़दम आगे रखना है उसके लिये भी प्रकृति की तैयारी रूप रहा है। इसलिये मुझे इस बात की तनिक भी पर्वाह नहीं है,—यद्यपि ये आदर्श, कुछ हद तक, मेरे आदर्शों के साथ समानान्तर तो थे पर फिर भी अभिन्न नहीं थे,—कि आया यह योग और इसका लक्ष्य तथा पद्धति नवीन करके माने जाते हैं या नहीं; यह बात अपने आप में तुच्छ वस्तु है। जो बात एकमात्र महत्त्वपूर्ण है वह यह कि जो लोग इसको स्वीकार कर सकते और इसका अभ्यास कर सकते हैं वे इसे अपने आप में सच्चा समझें और यह योग लक्ष्यसिद्धि द्वारा अपने आपको सच्चा सिद्ध करे। यह कोई महत्त्वकी बात नहीं कि इसे नया कह कर पुकारा जाता है या जो पुराना योग भुला दिया गया था उस की पुनरावृत्ति या पुनर्जागृति कह कर। कुछ साधकों को लिखे एक पत्र में मैंने इसके नये होने पर ज़ोर दिया था, उन्हें यह बात स्पष्ट समझाने के लिये कि पुराने योगों के लक्ष्य और धारणा को दोहराना मेरी दृष्टि में पर्याप्त नहीं है, कि मैं एक सिद्ध करने योग्य कार्य को सामने रख रहा हूं जिसे कि अभी तक सिद्ध नहीं किया गया है, अभी तक साफ़ साफ़ दृष्टिगोचर नहीं किया गया है, यद्यपि संपूर्ण अतीत आध्यात्मिक प्रयास का यह एक स्वाभाविक किन्तु अब तक निगूढ परिणाम है।

पुराने योगों की तुलना में यह नया है :

( १ ) क्योंकि इस का लक्ष्य संसार से कूच कर जाना और परलोक में जीवन बिताना या निर्वाण प्राप्त करना नहीं है, प्रत्युत जीवन और सत्ता का परिवर्तन करना है— किसी गौण या आनुषङ्गिक वस्तु के तौर पर नहीं, किन्तु स्पष्टभिन्न और केन्द्रीय उद्देश्य के तौर पर। अगर दूसरे योगों में अवतरण ( अवरोहण ) है भी तो भी वह केवल मार्गप्राप्त या आरोहण के परिणामस्वरूप प्राप्त प्रासङ्गिक घटना है—आरोहण ही वास्तविक वस्तु है। यहां आरोहण पहला कदम है, परन्तु यह अवरोहण के लिये साधन है। आरोहण से उपलब्ध नवीन चेतना का अवतरण ही इस साधना की वास्तविक मुद्रा तथा छाप है। तन्त्र और वैष्णववाद भी जीवन से छुटकारा प्राप्त करने में अपनी इतिश्री मानते हैं; यहां इस योग में जीवनकी दिव्य पूर्णता ध्येय है।

( २ ) क्योंकि जिस ध्येयकी खोज करनी है वह व्यक्तिके हितके लिए भागवत साक्षात्कार की व्यष्टिगत उपलब्धि नहीं है, किन्तु ऐसी चीज़ है जो कि पृथ्वी-चेतना के लिये प्राप्त करनी है, यहीं प्राप्त करनी है अर्थात् ऐहलौकिक न कि केवलमात्र अतिलौकिक (supra-cosmic) उपलब्धि। जिस वस्तु को प्राप्त करना है वह भी है चेतना की उस ( विज्ञानमय ) शक्ति को क्रियाक्षेत्र में लाना जो कि अभी तक पृथ्वी की प्रकृति में, यहां तक कि आध्यात्मिक जीवन में भी संगठित नहीं है या सीधे तौर पर क्रियाशील नहीं है, किन्तु जिसे अभी संगठित करना या साक्षात् रूपसे क्रियाशील बनाना है।

( ३ ) क्योंकि इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये एक पद्धति खुले तौर पर प्रकट की गई है जो कि अपने सामने स्थापित उद्देश्य, चेतना और प्रकृति का समग्र और सर्वाङ्गीण परिवर्त्तन, की तरह ही समग्र और सर्वाङ्गीण है, यह पद्धति पुरानी पद्धतियों को ग्रहण तो करती है किन्तु केवल

आंशिक क्रिया के तौर पर और अन्य अपनी विधियों के, जो कि स्पष्टभिन्न हैं, वर्तमान सहायक के तौर पर। मैंने इस पद्धति को (अखण्ड रूप में) या इस जैसी किसी पद्धति को पुराने योगों में प्रतिपादित या संसिद्ध नहीं पाया है। अगर मैं पाता तो मैं काट काट कर रास्ता बनाने में और तीस वर्ष के अनुसंधान तथा आन्तरिक सर्जन में अपना समय व्यर्थ न गंवाता, जब कि मैं पहले से ही डंके की चोट घोषित किये हुए, निर्मित, नक्शे में पूरी तरह से चित्रित, पक्के बनाये हुए, सुरक्षित और आम बनाये हुए मार्गों पर आसानी से सपाटे के साथ चल कर शीघ्र ही अपने लक्ष्य पर सुरक्षित पहुँच जाता। हमारा योग पुराने मार्गों का अनुसरण करना, उन्हें ही पादाहत करते जाना नहीं है, किन्तु यह एक आध्यात्मिक साहसकार्य है।

भगवान् चित्-शक्ति और आनन्द की लीलाके द्वारा तथा अतिमानस-तत्त्व की सृजनकारी मध्यस्थता के द्वारा अपनी विशुद्ध सत्ता से नीचे विश्व-सत्ता में अवतरण करते हैं; हम अपने विकसनशील प्राण, मन और अन्तरात्माके द्वारा तथा अतिमानस की आलोकप्रद मध्यस्थता के द्वारा जड़ से ऊपर दिव्य सत्ता की ओर आरोहण करते हैं। इन दोनों की, उच्चतर और निम्नतर गोलार्द्ध की ग्रंथि वहाँ है जहाँ मन और अतिमन मिलते हैं और जहाँ इन दोनों के बीच एक पर्दा है। इस पर्दे को दूर करना ही मनुष्यता के अन्दर दिव्य जीवन को स्थापित करने की शर्त्त है; क्योंकि उस पर्दे के हटने पर ही, निम्नतर सत्ता की प्रकृति के अन्दर उच्चतर सत्ता का ज्योतिर्मय अवतरण होने तथा उच्चतर सत्ता की प्रकृति के अन्दर निम्नतर सत्ता का सवेग आरोहण होने पर ही मन सर्वज्ञ अतिमानस के अन्दर अपनी दिव्य ज्योति को प्राप्त कर सकता है, अन्तरात्मा सर्वग्राही, सर्वसुखमय आनन्द के अन्दर अपने दिव्य आत्मा की उपलब्धि कर सकता है, प्राण सर्वशक्तिमान् चिच्छक्ति की लीला के अन्दर अपनी दिव्य शक्ति को अधिकृत कर सकता है और जड़ दिव्य सत्ता के एक आकार के रूप में अपने-आपको अपनी दिव्य स्वतन्त्रता के प्रति उन्मुक्त कर सकता है। और अगर क्रम-विवर्तन का, जिसका यहाँ पर वर्तमान मुकुट और मस्तक मनुष्य है, उद्देश्यहीन आवर्तन तथा व्यक्ति के इस आवर्तन से भाग जाने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य हो, अगर इस जीव की, जो एकमात्र आत्मा और जड़ के बीच मध्यस्थता करने की क्षमता रखते हुए दोनों के बीच यहाँ पर अवस्थित है, अनन्त सम्भावनाओं का कोई अर्थ हो और वह अर्थ जागतिक प्रयास से निराशा और घृणा हो जाने के कारण जीवन की माया से अन्तिम जागृति तथा जीवन का पूर्ण त्याग न हो तो ऐसा एक ज्योतिर्मय और शक्तिशाली रूपान्तर और जीव के अन्दर भगवान् का आविर्भाव ही वह परमोच्च लक्ष्य और वह चरम अर्थ हो सकता है।

—दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ. ४०४

# जीवन और कला

## संस्कृति

एक महान् संस्कृति का सम्पूर्ण ध्येय मानव को किसी ऐसी ऊंचाई तक ले जाना है जहां कि वह पहले नहीं गया है, एक अथाह अज्ञान से उठाकर उसे ज्ञान तक पहुँचाना है, उसके अबुद्धि-पूर्ण प्राकृत जीवन को परिष्कृत करके संस्कारी बुद्धि से जीना बताना है, उसे सिखाना है कि वह जीवन में भलाई और एकता के सूत्र का पालन करे; यद्यपि अभी वह बुराई और असंगति से भरा है, वह सौन्दर्य और सामञ्जस्य के मार्ग पर चले जब कि उसका असली जीवन कुरूपता की अप्रिय विश्रृंखला और कर्कश बर्बरता ही है, और यह सिखाना है कि वह अपने आत्मा के किसी उच्चतर नियम से जीवे—अभी तो वह अहङ्कारी, पार्थिव, अध्यात्मशून्य तथा अपने भौतिक पुरुष की ही माँगों और वासनाओं से आक्रान्त है। यदि किसी सभ्यता में इनमें का एक भी ध्येय नहीं है तो उसकी कोई संस्कृति, कम से कम कोई महान् और भव्य संस्कृति नहीं है।''''किन्तु इनमें से अन्तिम ध्येय—जिसे कि प्राचीन भारत ने अपनाया था—सर्वोच्च है, क्योंकि और सभी ध्येय इस में समा जाते हैं और इससे नीचे रहते हैं। इस दिशा में पग उठाना जाति के जीवन को उदात्त बनाना है; इसमें विफल होने से तो अच्छा है कि यह प्रयोग आरम्भ ही न किया होता; इसमें की आंशिक सफलता भी मानवजाति की भावी संभावनाओं के लिए एक बड़ी देन है।

* * *

आखिरकार, अब तक अच्छे से अच्छे काल में जो कुछ मुख्य रूप से हमने प्राप्त किया है वह है बर्बरता के बड़े ढेर में खमीर उठाने के लिए बुद्धि, संस्कृति और अध्यात्म की एक अल्प राशि। मानवजाति, अभी तक, अर्ध-सभ्य से अधिक नहीं है और जहां तक इस सृष्टि का इतिहास हमें मिलता है वह कभी इसके सिवाय और कुछ थी भी नहीं।

* * *

## जीवन

आखिर, जीवन का मतलब क्या है? हमारा जीवन कब अधिक से अधिक भरा हुआ और महान् होता है? सचमुच, जीवन मानव के चैतन्य की शक्तियों की, क्षमताओं की सृष्टि और सक्रिय आत्माभिव्यक्ति के सिवाय और क्या है; बने रहने का, सोचने का, निर्माण का, प्रेम का, कुछ करने का और प्राप्तिका सङ्कल्प ही तो जीवन है। जब उसका अभाव होता है, अथवा—क्योंकि उसका सर्वथा अभाव कभी नहीं होता—जब वह आन्तरिक कारणों से अथवा बाहर की परिस्थितियोंसे कुछ म्लान हो जाता है,दब जाता है, निरुत्साहित अथवा जड़तासे अभिभूत हो जाता है,

तब हम कह सकते हैं कि जीवन की कुछ कमी है। अधिक विस्तृत अर्थों में कहें तो जीवन है हमारी आन्तर और बाह्य क्रिया का एक बड़ा तन्तु-जाल, महाशक्ति की लीला, कर्म का खेल। धर्म और दर्शन, चिन्तन और विज्ञान, काव्य और कला, नाटक, संगीत, नृत्य और अभिनय, राजनीति और समाज, शिल्प, व्यवसाय और व्यापार, साहस और यात्रा, युद्ध और शान्ति, संघर्ष और मेल, जय-पराजय, अभीप्साएँ, भाग्योंके फेर, विचार, भावनायें, शब्द और कृत्य, हर्ष और शोक —जिससे भी मानव का अस्तित्व बनता है वह सभी तो जीवन है। कुछ संकुचित अर्थ में जीवन को कभी-कभी कहा जाता है कि यह अधिक स्पष्ट और बाहर की सप्राण क्रिया मात्र है, एक ऐसी चीज़ है जिसे बोझिल बुद्धिशीलता अथवा चढ़ती आध्यात्मिकता विपण्ण कर सकती है, विचारों की धुंधली छाया मन्द कर सकती है। दुनिया से थकान की और भी मैली छाया जिसे प्रभारहित कर सकती है, रीति और रूढ़ि में बंधी हुई, एकदम बेलचक, समाज की रचना जिसे बिल्कुल हताश, रूखा और नीरस बना दे सकती है। फिर, हो सकता है समाज के एक छोटे और लाभ-प्राप्त भाग के लिये जीवन बहुत सरस, क्रियाशील और रंगों से भरा हो, किन्तु जन-साधारण का जीवन जड़, शून्य और दुःखमय ही हो सकता है। और अन्त में, जीने-भर की सब साधारण सामग्री और परिस्थितियाँ भी उपस्थित हों, किन्तु जीवन किन्हीं बड़ी आशाओं, आकांक्षाओं और महान् आदर्शों द्वारा ऊंचा नहीं उठा हो। तो हम अच्छी तरह कह सकते हैं कि समाज में कोई वास्तविक जीवन नहीं है; वह मानवी आत्मा की विशिष्ट महानता से हीन है, दोषपूर्ण है।

* * *

## प्रतिभा (Intuition)

बुद्धि इन्द्रियानुभूतिसे ऊपर उठती है और हमें सत्यकी अगली और सूक्ष्मतर श्रेणियों पर जाने देती है, इसी प्रकार प्रतिभा बुद्धि को भी क्रान्त कर जाती है और हमारे लिए सत्य की अधिक सीधी और प्रकाशभरी शक्ति को खोल देती है। किन्तु, इतना तो स्पष्ट है कि कवि और कलाकार अपनी प्रतिभा का उपयोग करने में ठीक उसी शैलीसे नहीं चल सकते, जिससे कि वैज्ञानिक और दार्शनिक। लियोनार्डो दा बिन्ची की विज्ञान में कमाल की प्रतिभा और उसी की कला में रचनात्मक प्रतिभा एक ही शक्ति से उपजीं, किन्तु आस-पास की अथवा अवान्तर मानसिक क्रियाओं का वर्ण और स्वभाव एक नहीं था। फिर, स्वयं कला में भी प्रतिभा का प्रकाश भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। शेक्सपियर की जीवन के विषय में जो दृष्टि है, वही बालज़ाक अथवा इब्सन की नहीं है, उसमें स्वभाव और साधनों का भेद है, किन्तु दोनों में प्रक्रिया का तात्त्विक अंश, जो उसे प्रतिभा का शील देता है, एक ही है। एक बौद्ध और वेदान्ती की वस्तु के विषय में दृष्टि कलात्मक सर्जन के लिये समान शक्तिशाली आरम्भ-बिन्दु बन सकती है, एक को वह बुद्ध की सौम्य-शान्ति और दूसरे को शिव के आनन्द-नृत्य अथवा गौरव-महिम स्थिरता का दर्शन करा सकती है, और कला के प्रयोजन में वह

बात सर्वथा निरपेक्ष है कि मानस-शास्त्री की तार्किक रुचि दोनों में से किस पर झुकती है। यह तो आरम्भिक भाव है, और जो इनकी उपेक्षा करता है वह भारत की सबल और सूक्ष्म कला-सृष्टि को समझने में ग़लती करे इसमें आश्चर्य ही क्या।

## मन्दिर

एक भारतीय मन्दिर, चाहे उसमें किसी भी देवता की प्रतिष्ठा हो, अपनी आन्तरतम यथार्थतामें दिव्य 'आत्मा' के प्रति उठाई गई पवित्र वेदी है, विश्वमें व्याप्त विराट् पुरुषका एक घर है, अनन्त के प्रति एक मूर्त्त प्रेरणा और अभीप्सा है। इसी प्रकार तथा इसी दृष्टि और धारणा के प्रकाशमें सबसे पहिले उसे समझना चाहिये और शेष सब कुछ उसी चौखट और उसी चांदनेमें देखना चाहिये, केवल तभी उसके स्थापत्यको कुछ ठीक समझा जा सकता है। कोई भी कलापूर्ण आंख चाहे वह कितनी भी सजग और अनुभूतियुक्त हो, कोई भी रसिक मन कितना भी भरा और भावुक वह क्यों न हो, उस समझको नहीं पा सकता, यदि वह पश्चिमसे प्रभावित बुद्धि सम्मत सौन्दर्यकी धारणामें आसक्त है या अपने को पार्थिवी तथा बौद्धिक व्याख्याओं में बन्द किये है और विश्वचेतना के किसी स्पर्श की निकट अनुभूति, बृहत्तर आध्यात्मिक 'स्व' के किसी आविर्भाव और अनन्त के किसी इशारे का अभिप्राय कहने वाली इन महान् रचनाओंके प्रति अपने को खोल नहीं सकता। आत्मा, विराट् पुरुष, अनन्त यह पदार्थ बुद्धि के क्षेत्र के नहीं हैं, इनका क्षेत्र 'अति-बुद्धि' है, बुद्धिसे ऊपर है, यह सनातन आध्यात्मिक तत्त्व हैं। बुद्धि के लिए तो यह मात्र शब्द हैं, किन्तु केवल हमारे अन्तस्तम 'अन्तर' में की एक प्रतिभा और ऐश्वर ज्ञान के लिए यह सब दृश्य है, स्पृश्य है, समीप है। जो कला इनको अपना प्रथम आदर्श मान कर चलती है वही हमारे अन्दरके, हमारी अपनी आत्माके, द्रष्टाके अपने 'स्व' के किसी आविर्भाव और प्रतिभा के द्वार से इनका स्पर्श और इनका सामीप्य हमें दे सकती है, इन्हें हमारे सामने खोल देती है।

* * *

ताज, मात्र एक शाही प्रणयलीला की विलासभरी यादगार अथवा चन्द्रमाकी शुभ्र खानों के चमकीले पत्थर से गढ़ा गया अप्सराओं का मायालोक नहीं है। वह उस प्रेम का सनातन स्वप्न है, जिसे मृत्यु स्पर्श नहीं कर पाती।

बड़ी-बड़ी मस्जिदें प्रायः एक आडम्बर-शून्य उदात्त तपस्या की ओर उठती हुई धार्मिक अभीप्सा की मूर्त्त रूप हैं, उनमें की गौण सज्जा और शान से संस्कार में कोई कमी नहीं आती बल्कि मदद ही मिलती है।

मकबरे मृत्यु से परे रहने वाले सौन्दर्य और स्वर्ग के आनन्द पर पहुंचने का यत्न करते हैं।

## मूर्त्तिकला

मूर्त्तिकला और चित्रकला दोनों में जो अन्तर है वह इन कलाओं की भिन्न प्रकृतिके लिए आवश्यक पृथक् मनोदशा पर निर्भर है जिसपर हम काम करते हैं वह आधार द्रव्य सर्जनात्मक शक्ति के सामने अपनी ही विशेष मांग रखता है, अपनी ही स्वाभाविक दशाएं प्रस्तुत करता है—जैसा कि रस्किन ने एक दूसरे प्रकरण में संकेत किया है। प्रस्तर में अथवा ताम्र में अभिव्यक्ति के लिए एक विशेष मानसिक अवस्था आवश्यक है जो प्राचीनोंमें थी और अर्वाचीनमें नहीं है, अथवा रही भी है, तो विरले व्यक्तियोंमें ही। उसके लिये चाहिये एक कलात्मक मन जो बहुत जल्दी अस्थिर और स्वगत न हो उठे, जो अपनी वैयक्तिक सत्ता और उद्वेगों और क्षणिक उद्दीपन देकर लुप्त होजाने वाले स्पर्शों से बहुत अधिक प्रभावित अथवा उनके अधीन न हो जाय; किन्तु स्थिर विचार और स्पष्ट दृष्टि के किसी बृहत्तर आधार पर आश्रित हो, उन द्रव्यों पर जो कि दृढ़ और ठहरने वाले हैं, अपनी कल्पना में निश्चित हो। इन कठोर पदार्थों के साथ आसानी सें लापरवाह होकर खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। कोई देर तक और सुरक्षित रूपमें उनके अन्दर केवल शोभा, बाह्य सौन्दर्य या अधिक ऊपरी अस्थिर और हलके आकर्षण के हेतुओं से नहीं रम सकता।

रसात्मक आत्म-विलास जिसे वर्ण की आत्मा ( चित्रकला में ) अनुमति देती है, बल्कि आमन्त्रित करती है, जीवनकी चंचल क्रीड़ाका आकर्षण जिसे तूलिका, लेखनी या पेन्सिल शिथिलता या छूट देती है, यहां ( मूर्त्तिकलामें ) वह सब निषिद्ध है अथवा यदि कुछ दूर तक सम्मत है तो केवल एक मर्यादित सीमा के अन्दर ही, जिसके आगे पग उठाना सङ्कटपूर्ण और विनाशक है। मूर्त्तिकला में एक महान्, गम्भीर हेतु की अपेक्षा है, कुछ कम या अधिक भेदक अध्यात्मदृष्टि आवश्यक है, अथवा कला-सृष्टि का आधार बनने वाली नित्य वस्तुओं की कुछ समझ जरूरी है। मूर्त्तिकारकी कला स्थाणु (static) है, आत्मनिहित है, नियम रूप से दृढ़, उदात्त अथवा अर्थ-गम्भीर कठोरता से भरी है और इसके लिए वही सौन्दर्यशक्ति चाहिये जो इन गुणों से समर्थ हो। जीवन की कुछ थोड़ी-सी चञ्चलता और रेखा की अधिकार-पूर्ण सश्रीकता इस आधार पर उतर आ सकती है, किन्तु यदि वह द्रव्यके मौलिक धर्म को ही लुप्त कर दे तो इसका अर्थ है कि प्रतिमा (statuetle) की भावना मूर्त्ति (statue) में आ गई और हमें समझना चाहिये कि ह्रास निकट है।

* * *

## मूर्त्तिकार का आदर्श

भारत की मूर्त्तिकला का धार्मिक अथवा मन्दिरसम्बन्धी पार्श्व भारतीय ध्यान और उपासना के आध्यात्मिक अनुभवों के साथ—अन्तर की खोज की उन गहरी अनुभूतियों के साथ, जिन्हें भारतीय संस्कृति के आलोचक बड़ी अवज्ञा के साथ यौगिक अभ्यास का नाम देते हैं—घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। आत्मा का साक्षात्कार उसकी सर्जन की पद्धति है और आत्म-साक्षात्कार ही उसके

स्वाद और समझने का हमारा प्रकार होना चाहिये। मानव व्यक्तियों अथवा समूहों की आकृतियों के साथ भी बराबर वही लक्ष्य है जिस पर मूर्त्तिकार की रचना उठती है। किसी राजा की या किसी सन्त की मूर्ति का अभिप्राय केवल एक राजा या एक सन्त की कल्पना देना नहीं है, या किसी नाट्य-भङ्गी का अङ्कन अथवा प्रस्तर पर चरित्र का चित्रलेखन ही नहीं है, अपितु आत्मा की किसी दशा को या अनुभूति को या किसी अधिक गहरे आत्मा के गुण को मूर्त्त करना है। उदाहरण के लिए उसका अभिप्राय बाह्य आवेगको नहीं, किन्तु अपने इष्ट देवता की उपस्थितिके आगे, उपासना और भगवद्दर्शन में एक सन्त की अथवा भक्त की परम आनन्द-मुग्धता की जो अवस्था होती है, उसके आन्तरिक आत्मपार्श्व को मूर्त्त करना है। यही उस कार्य की प्रकृति है जिसे भारतीय मूर्त्तिकार अपने निर्माण की दृष्टि में रखता था। और हमें उसके सङ्कल्प से दूर और उसके आदर्श के प्रतिकूल किसी गुण अथवा उद्देश्य जैसी दूसरी वस्तु के अभाव से नहीं, अपितु इसी लक्ष्यके आधार पर, उस की रचना और उसके श्रम की सफलता का निर्णय करना होगा।

* * *

## कला

भारत की सब कलाओं में आत्मदर्शनको व्यक्त करनेका प्रयत्न है। कलाकारको रूप और आकार के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए अपने अन्दर उतरने पर जो गम्भीर आत्मदृष्टि मिली उसका बाह्य विन्यास, विषय का अपने गहरे अन्तर में आविष्कार, उस अन्तर्दर्शन में चेतनरूप का आधान तथा अविभाज्य कलात्मक समष्टि के प्रत्येक अङ्ग में भाव की अधिक से अधिक अविच्छिन्न छन्दोमयी एकता और रूपरेखाकी अधिकसे अधिक संभव शुद्धता और बलके साथ मूल वस्तुकी आत्मा के सत्यको अभिव्यक्त करनेके लिये द्रव्य और आकृति को फिरसे गढ़कर रूपान्तरित करना—यही सारी भारतीय कला है। भारतीय चित्रकला की कोई श्रेष्ठ कृति लीजिये, हम देखेंगे कि उसमें यह सब ध्येय लक्ष्य में हैं और कल्पना एवं रचना के विजयी सौन्दर्य के साथ प्रकट हुए हैं।

* * *

## चित्रकला

मूर्त्तिकारकी कला सदा स्थाणु रूप में ही व्यक्त होनी चाहिये। उसके लिए अमूर्त्तका विचार रेखा और पिंड में ही व्यवस्थित है, और इसी आग्रह की स्थिरता में उसकी सार्थकता है। वह इस आग्रहके भारको हलका तो कर सकता है, किन्तु इससे छूटकर दूर नहीं जा सकता। मूर्त्तिकार के लिए नित्यता समय को उसकी आकृति में जा पकड़ती है और उसे ताम्र या पाषाण के स्मारक में बांध छोड़ती है।

इसके विपरीत चित्रकार अपनी आत्मा को वर्णमें बेरोक उँडेल देता है। वहाँ रूप में एक तरलता है। उसकी खींची गई रेखा सूक्ष्मता की अस्खलित रमणीयता लिये रहती है और इससे उसकी

आत्म-अभिव्यक्ति अधिक गतिमान् और आवेगभरी होती है। वह जितना ही हमें आत्मिक जीवन का बदलता रूप और आवेग और रंग देता है, उतनी ही उसकी रचना सौंदर्य से चमक उठती है, उतना ही वह आन्तरिक रसानुभूति पर अधिकार पाता है और उसके आगे वह वस्तु ला खोलता है जो किसी और की अपेक्षा उसकी कला हमें अधिक अच्छी तरह देती है अर्थात् अन्तर की गति का आनन्द। इसी आनन्द की कुछ बाह्य अभिव्यक्ति, सृष्टि की सुन्दर आकृतियों और रंगभरी कान्तियों को देखकर इन्द्रियों को जो आध्यात्मिक शैली का सुख मिलता है उसमें होती है।

चित्रकला में स्वभाव से ही इन्द्रियों का आकर्षण सब ललित कलाओं से अधिक है। चित्रकारके लिये जो ऊंची महानता खुली है वह यह है कि अधिकसे अधिक परिस्फुट बाह्य सुन्दरता में सूक्ष्म अध्यात्म-भावना का आविर्भाव करके वह इस इन्द्रिय-रागात्मक प्रेरणा को आध्यात्मिक रूप दे डाले, जिस से कि आत्मा और इन्द्रिय दोनों ही अपनी गंभीरतम और उच्चतम शोभा समृद्धि में सामञ्जस्य पा सकें और जीवन तथा पदार्थों के आन्तरिक आशय की अपनी सन्तुष्ट समस्वर अभिव्यक्ति में एक हो जांय।

चित्रकार की कार्य-शैली में तपस्या की कठोरता कम है, रूप और द्रव्य के पीछे छिपे आधारभूत सत्यों की और नित्य पदार्थों की अभिव्यक्ति पर उतना कड़ा नियन्त्रण नहीं है। किन्तु निष्कृतिके रूप में यहीं आत्माका हृदयस्पर्शी वैभव अथवा प्राणप्रेरणा की ऊष्मा है, कालके क्षणों में सनातनकी क्रीड़ा के सौन्दर्य का भरपूर आनन्द उतरा है और वहां कलाकार उसे हमारे लिए आबद्ध कर लेता है; आत्माके जीवनके क्षणों को, हमारी अध्यात्मदृष्टि के ध्रुव और सम्पन्न अभिप्राय से पूर्ण प्रकृति के, मनुष्य के, पशु के, किसी प्रसङ्ग अथवा दृश्य के रूप में प्रतिमूर्त्त कर देता है। इन्द्रिय की आनन्द के लिए जो खोज है उसका चित्रकार की कला आत्माके सामने चाक्षुष रीति से समर्थन करती है। चित्रकार उसे स्वयं आत्मा की ही अपने विश्वजनीन सौन्दर्य के—जिसे उसने सृष्टि में प्रकट अथवा प्रच्छन्न किया है—गहन अर्थ की पवित्र खोज का रूप दे देता है। रूप और वर्ण की पूर्णता में नेत्र की आसक्ति किसी रसात्मक आनन्द के द्वार से अन्तःपुरुष का ही उद्बोधन या संस्कार बन जाती है।

* * *

भारतीय चित्रकला का संचारी भाव कुछ दूसरा ही है। यहाँ भी वह इन्द्रियों का आकर्षण तो है, किन्तु वह परिष्कृत होकर अन्तर के सौंदर्य और शोभा अर्थात् 'लावण्य'—और भारतीय चित्रकार की दृष्टि में यही सच्चा सौन्दर्य है—आत्मा की संपन्नता में, एक अप्रधान अङ्ग ही रह गया है। नाटकीय वृत्ति की प्रमुखता नहीं रही और वह विशुद्ध रूप से गौण तत्त्व बन गई है। चेष्टा और चरित्र को वहीं तक स्थान दिया गया है जहां तक वह अन्तरकी आध्यात्मिक गम्भीर अनुभूति अर्थात् 'भाव' को बाहर लाने में सहायक हो सके। बाह्य रूप में क्रियाशील अन्य वस्तुओं को महत्त्व अथवा बल नहीं मिला है, क्योंकि उनसे आध्यात्मिक भावावेश बहुत अधिक बहिर्मुख हो जाता और चेष्टा-भरी बाह्य प्रकृति से प्रभावित होने वाले आवेगों के स्थूल उद्रेक उस की गाढ़ पवित्रता को नष्ट कर देते।

---

(३)

# राजयोग

हठयोग से एक स्तर ऊपर राजयोग है। हम कह चुके हैं कि राजयोगका संबंध शरीर या प्राणके साथ नहीं है, इसका केन्द्र मन है। मनको वशमें करके, उसकी सहायतासे राजयोग मनुष्यको परिवर्तित, भागवत सत्तामें अधिष्ठित करना चाहता है। मनको शुद्ध, संयत और शान्त करना होगा अर्थात् समस्त मानसिक राज्य को — अपने सब विचारों, भावनाओं, वासनाओं और प्रेरणाओं को नियन्त्रित करना होगा। अभी जो मनके विचित्र खेल हो रहे हैं, उसकी जो बहुमुखी वृत्तियां हैं, उन सबका उद्गम-स्थान चित्त है। हम जो कुछ करते, सोचते और अनुभव करते हैं, वह सब चित्त-सागरसे उठता है, उसीमें विलीन होता है और फिर उसीमें संस्कारके रूपमें रह जाता है। इसी चित्त पर, जो मन का आश्रय-स्थल है, मूल है, राजयोगकी दृष्टि है। यदि चित्तको एक बार वशमें कर लिया जाय तो फिर सारा मन अपने आप वशमें आ जायगा इसलिए पतंजलिके योगदर्शनका पहला सूत्र है— योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है। मनुष्य का चित्त सदा सैंकड़ों ओर दौड़ा करता है। इन वृत्तियों के उद्दाम विक्षोभ से मनुष्य का अन्तःकरण सर्वथा मलिन, इतस्ततः विक्षिप्त रहता है। इसी कारण मनुष्य अपने आपको नहीं जान पाता, अपने भीतर जो विराट् महान् सत्ता है उन भगवान्का, उन परमपुरुषका स्पर्श वह अनुभव नहीं कर पाता। क्षुद्र प्रवृत्तियों ने भगवान् को उनके स्थान से हटाकर भगा दिया है— नौकर मालिक के आसन पर बैठकर राज्य चला रहा है। इस चित्तवृत्ति को वशीभूत, शान्त करने के लिए राजयोगी अष्टांगयोग की साधना करते हैं। ये अष्टांग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। सबसे पहले है यम और नियम। मनका, चित्तका जो अति चांचल्य है, प्रवृत्तिका जो उच्छृङ्खल वेग है, उसका कुछ हद तक शमन-दमन करना यम और नियमका लक्ष्य है। अहिंसा, सत्यभाषण, मिताचार, शौच, संतोष, ईश्वरचिन्तन इत्यादि विधि-निषेधोंके अन्दर रहकर साधक चित्तविक्षोभ के दासत्वसे बहुत-कुछ मुक्त हो जाते हैं। वे मनको संयत करके, नियमके अन्दर बाँधकर धीरे-धीरे उसे स्थिर और शान्त होनेकी शिक्षा देते हैं। परन्तु केवल मनके द्वारा मनको शान्त नहीं किया जा सकता। मन के ऊपर शरीर और प्राणका भी बहुत-कुछ आधिपत्य रहता है। इसीलिये राजयोग में आसन और प्राणायाम की भी व्यवस्था है। तब हठयोगी जिन सैंकड़ों कष्टसाध्य आसनों और विभिन्न प्रकार की प्राणायाम की जटिल क्रियाओं से सहायता लेते हैं, उन सबको राजयोगी सहज, सरल बनाकर उनमें से जितना आवश्यक है केवल उतना ही ग्रहण करते हैं। राजयोगके अनुसार स्थिर सुखासन ही एकमात्र आसन है अर्थात् जिस प्रकार बैठने से मनको स्थिर करने में सुविधा हो, प्राणायाम आसानीसे हो सके, वही

आसन है। प्राणायाम है श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध। इस श्वास-प्रश्वास के गतिरोध के दो उद्देश्य हैं। पहला उद्देश्य यह है कि श्वास-प्रश्वास को रोकने के साथ-साथ चित्तवृत्ति भी सहज ही रुक जाती है। दूसरा उद्देश्य यह है कि श्वास-प्रश्वास की क्रियाको वशमें करना प्राणवायुको अपने अन्दर धारण करना है, उसको अधिगत करना है। इससे सुप्त कुण्डलिनी जो प्राणशक्तिका आधार है, जाग उठती है, चित्तके ऊपर जो तम, जो घना परदा पड़ा हुआ है वह हट जाता है, चित्त स्वच्छ सत्त्वप्रकाशक हो जाता है। चित्तको सत्त्वपूर्ण प्रकाशक बनाना ही आसन और प्राणायाम का एकमात्र लक्ष्य है। इस लक्ष्यसाधन के अतिरिक्त या अवान्तर जो प्रक्रियायें हैं उन्हें राजयोग छोड़ देता है। इसके सिवा, प्राणायामके द्वारा साधक जिन ऐश्वर्यों, जिन अलौकिक शक्तियों, को प्राप्त करता है उन सब के प्रति भी राजयोगी हठयोगी की तरह आकृष्ट या आसक्त नहीं होते।

जब चित्त निर्मल, शान्त हो जाता है, प्रसन्नता से भर उठता है, तब उसको सर्वथा विचार-शून्य, पूर्णरूपेण निश्चल करने के लिये विषयों से इन्द्रियों को हटाकर एकमात्र प्रतीति या ज्ञान के अन्दर धीरे-धीरे तन्मय हो जाना पड़ता है। इसी प्रकार क्रमसे प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके द्वारा अन्तमें 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' के अन्दर पहुंच जानेपर राजयोग की सिद्धि हो जाती है। इस समाधि-अवस्थामें बहिःकरण और अन्तःकरण सब निश्चेष्ट, शान्त हो जाते हैं, यहीं पर सब प्रकार की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में तुम और मैं, ध्याता और ध्येय कुछ भी नहीं रहता, केवल एक उदार महान् विराट् स्वप्रतिष्ठ चैतन्य रहता है। यह समाधि-अवस्था जब इस प्रकार पूर्ण और सिद्ध हो जाती है, जब चित्तके सारे संस्कार केवल शान्त ही नहीं, वरन् एकदम निर्मूल, लुप्त हो जाते हैं तभी 'दोषबीजक्षये कैवल्यम्' की प्राप्ति होती है।

राजयोगसे हमें प्रधानतः दो शिक्षायें मिलती हैं। प्रथमतः साधारण तौर पर हम इन्द्रियोंके दास बने स्थूल के अन्दर ही पड़े रहते हैं, इन्द्रियातीत भूमिका की कुछ भी खबर नहीं रखते। राजयोग हमें यह दिखला देता है कि इन्द्रियों की क्रिया का दमन करने से, मन को शान्त, विचारशून्य करने से हम एक दूसरे प्रकार के चैन्यत के अन्दर जाग्रत होते हैं। उस समय हमारा ज्ञान इन्द्रियलब्ध प्रतीति के अन्दर ही आबद्ध नहीं रहता, बल्कि ज्ञान का एक और ही नया तथा गभीरतर स्रोत हमारे अन्दर खुल जाता है। और वही है सत्य, अव्यर्थ ज्ञान। उस समय वस्तु की आभ्यन्तर सत्ता अपने आप ही प्रतिभात होती है, उसी समय जीव अपने आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित होता है। इसी का नाम स्वाराज्य-सिद्धि है। द्वितीयतः, केवल हम अन्तर्जगत् को ही वशमें नहीं कर सकते, केवल आत्म-चैतन्य के अन्दर ही नहीं डूब सकते, वरन् समाधि-अवस्था की उस केन्द्रीभूत महती चित्-शक्ति के द्वारा हम बहिर्जगत् को भी वश में कर सकते हैं, उसके द्वारा अपने स्वभाव, कर्मजीवन और पारिपार्श्विक अवस्था को नियन्त्रित, संघटित और परिचालित कर सकते हैं। इसी को साम्राज्य-सिद्धि कहते हैं। वर्तमान समय में इस साम्राज्यसिद्धि को राजयोगी बहुत महत्त्व नहीं देते, इसको एक प्रकार

से उन्होंने राजयोग-साधना से निर्वासित कर दिया है। परन्तु प्राचीन काल के साधक साम्राज्य-सिद्धि के विना स्वाराज्यसिद्धि को कदापि पूर्ण और सार्थक नहीं मानते थे।

राजयोग मनुष्य को शरीर और प्राण से ऊपर उठा कर मानसिक क्षेत्र में पूर्णता प्रदान करता है; उसको वास्तविक अध्यात्मजीवन का रसास्वादन कराता है। यही राजयोग की देन है। परन्तु राजयोग में कमी यह है कि उसने समाधि-अवस्थाको ही अत्यधिक महत्त्व दे रखा है। हम जो चाहते हैं वह है अतीन्द्रिय क्षेत्र की चेतना को स्थूलके अन्दर जागरित करना; जगत् को आत्मा की शक्तिके द्वारा निर्मित करना। परन्तु राजयोगी स्थूल का बन्धन तोड़कर, प्राण और मन के सब व्यापारों को निस्तब्ध करके किसी तुरीय लोक में चले जाना चाहते हैं। वे जाग्रत अवस्था को हेय समझकर उसे भूल जाते हैं और अपने-आपको स्वप्न या सुषुप्ति के अन्दर ढाँक रखते हैं।

—नलिनीकान्त

---

पतंजलि का योगदर्शन राजयोग की केवल एक आभ्यंतरीण प्रणाली है, एक आन्तरिक अनुशासन है, एक नपी-तुली पद्धति है, एक बंधा हुआ कठोर साधनसूत्र है जिसमें उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ एक कठोर शास्त्रीय साधनक्रम है, जिसके द्वारा मनको निस्तब्ध करके समाधिमें पहुँचाया जाता है जिससे कि हमारे इस आत्म-अतिक्रमणके हमें ऐहिक और पारलौकिक, दोनों फल प्राप्त हो जाँय; ऐहिक, जीवके ज्ञान और बलके अति विस्तार द्वारा और पारलौकिक, भगवान्‌के साथ एकताके द्वारा। परन्तु..................

राजयोग में कर्म से मिलने वाली सिद्धि के मिलते ही कर्म को हटा देना पड़ता है या यह कहिये कि योगसाधन के लिए फिर उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

—'गीता-प्रबंध', पृ. ११३–११४

* * * *

इस योग ( पूर्णयोग ) की साधनाका कोई बंधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यानका कोई निश्चित प्रकार अथवा कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है। यह साधना साधकके हृदयकी अभीप्सा से प्रारंभ होती है। साधक आरम्भमें अपने ऊर्ध्वस्थित या अन्तःस्थित आत्माका ध्यान करता है, अपने आपको भगवत्प्रभावके अधीन कर देता है, ऊर्ध्वस्थित भागवत शक्ति और उस के कार्य की ओर अपने-आपको खोल देता और हृदयस्थित भागवत सत्ताके अभिमुख होता है, और इन बातों के विरुद्ध जो कुछ है उसका परित्याग करता है। श्रद्धा, अभीप्सा तथा शरणागति से ही यह आत्मोद्घाटन बनता है।

—'योगप्रदीप', पृ. ४–५

# माता जी से—

## तेरा परिचय

### ( १ )

हृदय में कई बार एक वृत्ति पैदा हुई है कि तेरा कुछ परिचय लिखूं। इस वृत्ति में कुछ तथ्य है या नहीं इसकी जांच करने के लिये अब बैठा हूं। प्रथम तो यह विचार होता है कि ऐसा कोई काम करने की मेरे लिये अनिवार्य आवश्यकता नहीं। जिसके लिये तेरा परिचय आवश्यक होता है उसको वह परिचय इष्ट रूप में देने के लिये तू आप ही समर्थ है। दूसरे किसी के माध्यम से यह काम सिद्ध नहीं होता है यह तो प्रायः सभीका अनुभव है। तेरी सब स्थूल अभिधानात्मक उपाधियोंको छोड़कर हम तुझे माँ कह कर संबोधित करते हैं, अपनी माँ बनाकर हृदय में स्थापित करते हैं। अगर यही तेरा सत्य तत्त्व है तो मनुष्य तेरा बालक बन कर ही तुझे पहिचान सकता है। और यह बात तो हमारे दिमाग़ को भारी उलझन में फंसा देती है।

सच है, तेरे पास आते ही दिमाग़ की हलचल, उसकी तार्किक क्रीड़ायें बन्द हो जाती हैं। इस अज्ञात विश्व को जानने के लिये हमें जो छोटा सा दीप मिला है उसको तू मानो गुल कर देती है। फिर हमारे पास क्या बचा रहता है? हमारे दीपक को गुल कर क्या तू कहीं अंधेरे में हमें ले जाती है? नहीं, बुद्धि प्रथमतः तो स्तब्ध सी हो जाती है तो भी यह अनुभव बड़ा सुखदायी है। हृदय कहता है कि अगर यह अवस्था अन्धकार की है तो भी बड़ी आह्लादक है, उसमें जमे रहनें में ही कृतार्थता है। किन्तु नहीं, हमारी यह जो नयी अवस्था है वह किसी अन्धकार के गर्त में पतन नहीं है लेकिन मनके ऊर्ध्व प्रदेश में उत्थान है। शरीरकी निर्बलता, प्राणकी छटपटाहट, और बुद्धिकी रूखी दलीलबाज़ी से छुड़वाकर मनुष्य को उसके जीवन में अबतक अननुभूत ज्ञानके, आनन्दके और शक्तिके ऐसे प्रदेश में तू ले जाती है कि उसको एक नया सा जीवन मिलने का अनुभव होता है और वह आनन्दकी और सुखकी बाढ़ में बहता हुआ तुझे 'माँ' कहकर पुकार उठता है। जब मनुष्य तुझे माँ कह कर पुकार उठता है वही क्षण है उसके इस नये जीवनकी प्राप्तिका। यह नया जीवन क्या पदार्थ है, 'किमिदं यक्षम्?' प्राकृत जीवन बिताते हुए, उस जीवन की उन्नति में लगे हुए मनुष्यों को यह प्रश्न होता है कि यह नया जीवन मनुष्यके वर्तमान जीवनसे क्या संबंध रखता है, हमारे आजके जीवन से उस में कौन से अधिक तत्त्व हैं, हमारी जीवनसुधार की जो भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं, उनकी अपेक्षा इस में क्या विशेषता है।

आज से कोई ३० साल पहले जीवन का लक्ष्य तूने यों सोचा था:—

"क्रमशः एक विश्वव्यापी सामंजस्य की स्थापना। इसकी सिद्धि के लिये **व्यक्तिगत तौर पर** यह किया जाय कि,

(१) हरेक व्यक्ति अपने अंदर दिव्य सत्ता की अनुभूति प्राप्त करे और अपने आप को उस के साथ एकरूप कर दे।

(२) आज तक मनुष्य में चैतन्य की जो कक्षायें अप्रकट और अननुभूत रही हैं उनको व्यक्ति में प्रकट किया जाय और इस तरीके से, पृथ्वी को विश्वशक्ति के एक या एक से अधिक ऐसे स्रोतोंके साथ जोड़ दिया जाय कि जिनका प्रवाह अभी तक उसको मिला नहीं है।

(३) जगत् को शाश्वत शब्द, उस का आज का मानस जैसे ग्रहण कर सके ऐसे नये रूप में; सुनाया जाय।

**और सामुदायिक तौर पर**

(४) यह नयी मानवजाति—ईश्वर के पुत्रों की जाति फल फूल सके इसके लिये अनुकूल स्थान पर एक आदर्श समाज की स्थापना की जाय।" *

हिन्दुस्तान के पूर्वीय समुद्र के किनारे पर एक छोटे से नगर में आज वर्षों से क्या तू यही काम कर रही है? जगत् की, मनुष्यजाति की हितकामना करने वालों को यह नयी मानवजाति की कल्पना अति आकर्षक होने पर भी केवल स्वप्न जैसी लगेगी। मनुष्य चाहे कितना भी प्रयत्न करे किन्तु उसका जीवनदर्शन, उसकी गम्भीर से गम्भीर भावना-सृष्टि बुद्धि की सीमा से मर्यादित है। आम तौर पर मनुष्यकी आज की बुद्धि पृथ्वी पर केवल मनुष्य को देख सकती है। मनुष्यसे अतिरिक्त कोई बल, शक्ति, चेतना उसको दिखाई नहीं देती। जीवन के उद्भव का और अन्तिम गतिका विचार उसने दूर कर दिया है, और अपने जीवनके पुनर्गठन में वह अपने दिमागको, और प्राणकी शक्तियों को प्रयोजित कर रहा है। इतनेसे ही अपना काम बन जायगा ऐसा उसको विश्वास है, और यदि काम न बना तो भी इस असहाय अवस्था में ही वह अपना अन्तिम विराम समझता है। उस के लिए ईश्वर जैसा कोई तत्त्व नहीं, पृथ्वी पर आविर्भूत हुए बलों और चैतन्य की कक्षाओंके सिवा और किसी बल तथा चैतन्यावस्थाओंका अस्तित्व उसके लिए संभवित नहीं। इस अवस्थामें सारी पृथ्वीके जीवनको मानवमें अभी तक अप्रकट चैतन्यकी कक्षाओंसे जोड़ना, पृथ्वीको विश्वशक्ति (Universal Force) के निर्झरों से संबन्धित करना, और पृथ्वी पर नयी मनुष्यजाति का आविर्भाव सिद्ध करना ये बातें बिल्कुल अस्वीकार्य रहें इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

* Words of the Mother, पृ. ३–४

लेकिन जो तत्त्व वास्तविक रूप में सिद्ध है, उसका अस्तित्व यदि मनुष्य को अब तक अनवगत रही हुई सूक्ष्म भूमिकाओं पर रहा है तो भी उस का कार्य मनुष्य की बुद्धि की स्वीकृतिके ऊपर निर्भर नहीं। मनुष्यकी बुद्धि चाहे कुछ भी कहे, लेकिन अपनेसे ऊपरकी इस सत्ताको, इस चेतना को उसके कार्यसे वह रोक नहीं सकती। लेकिन आनन्दकी बात यह है कि मनुष्यका जीवन केवल बुद्धिसे नियन्त्रित नहीं होता। उसका नियन्त्रण होता है बुद्धि और प्राण की भूमिकाओं से गहरी चेतना की भूमिका से, मनुष्य के अन्तःकरण के भीतर बैठी हुई उसकी चेतना के द्वारा। यह चेतना जब इस विश्वचेतना के साथ और उस से भी ऊर्ध्व प्रदेशों की चेतना के साथ संपर्क में आती है तब वह अपनी अर्द्धजाग्रत बुद्धि की भूमिका की मर्यादाओं से बद्ध नहीं रहती। वह अपनी अपूर्णता को उस ऊर्ध्व के प्रकाश से भर लेती है, और अपनी शक्तियों को उस के कार्य में नियोजित करने लगती है।

पृथ्वीके ऊपर संस्कृतिका प्रारंभ हुआ उस समयसे आजतक मानवजाति में कोई न कोई ऐसा मनुष्य तो रहा ही है जो ईश्वरकी बात करता है, 'मैं उसको जानता हूँ' ऐसा असंदिग्ध शब्दोंसे बोलता है, और ईश्वरके तत्त्वको, केवल अमूर्त तत्त्वको ही नहीं बल्कि उसकी तमाम शक्तियोंसे युक्त मूर्त्त स्वरूप को प्रत्यक्ष करके औरों को भी अपना यह अनुभव संक्रान्त कर सकता है। मालूम होता है वैसी ही बात आज तू कर रही है, उस शाश्वत शब्द को फिर हम समझ सकें, आज के भौतिक विज्ञान से, तार्किक विज्ञानसे तीक्ष्ण और बलिष्ठ हुई बुद्धि भी समझ सके ऐसे रूप में तू हम को सुना रही है।

तू कहती है, "जगत् में सामंजस्य की स्थापना करने का मार्ग यही है कि व्यक्ति अपने आपको विकसित करके ईश्वर के साथ एक कर दे, अपनी चेतना को सर्व रूप से ईश्वरी सत्ता में रूपान्तरित कर दे, वह स्वयं ईश्वररूप हो जाय, पृथ्वी के ऊपर उस अगम्य के सर्व गुण, धर्म और भावों का पूर्ण प्रतिनिधि बन जाय। वह स्वयं ऐसा स्वरूप प्राप्त करे और दूसरों को भी उनके विकास में, उनके ईश्वरी रूपान्तर में, दैवीभवन में सहायरूप होवे, और जगत् में एक नयी–दैवी–समाज-रचना सिद्ध करे।"

जिन्होंने तुझे देखा है, जिन्होंने तुझ से इस नये जीवन की ज्योति पायी है उनको इस आदर्श की सिद्धि में अब शङ्का नहीं है। हमारे व्यक्तिगत जीवन में और पृथ्वी के समष्टिगत जीवन में, तेरे द्वारा जो कार्य आज हो रहा है उसकी प्रतीति, ज्यों ज्यों हमारा वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन तू उस दैवी ढांचे में रूपान्तरित करती जाती है त्यों त्यों, होती जाती है। अर्थात् तुझे हम उतना ही समझ पाते हैं जितना तेरे चैतन्य में हमारा उत्थान होता है, जितनी हमारी चेतना तेरे रूप में बदल जाती है, जितने हम तन्मय हो जाते हैं। तुझे पूर्णरूप से समझने का अर्थ यही है कि पूर्ण रूप से तेरे रूप को प्राप्त करना।

लेकिन यह कार्य बड़ा दुर्घट है। पूर्ण भाव से तेरे आदेश को स्वीकार करने पर भी बार-

पार हमारी प्रकृति की अशक्तियां और विकृतियां हम को अपनी श्रद्धा से विचलित कर देती हैं, हमारी गति को मन्द कर देती हैं, हमारी अग्नि को बुझा देती हैं। मानो ऐसी अवस्थाओं का प्रतिकार करने के लिये, तूने अपने रूपान्तर की कहानी लिख दी है। उस को पढ़ते हुए हमें अपने विकास की अनुभूत अवस्थाओं का समर्थन मिलता है, हमारी वेदनाओं को ही मानो तू अति समर्थ वाणी में उस जीवनविधायक तत्त्व के सामने निवेदित कर रही है, और अब तक अननुभूत अवस्थाओं का इशारा उस में देखा जाता है, और हमारे लिये और सारी मानवजाति के लिये तेरी उपस्थिति का रहस्य हमारे समक्ष प्रकट होता है। आओ, अपने अन्तःपुर में तू हमको व्यक्त शब्द द्वारा जहां तक ले गई है वहां तक प्रवेश करें और अपना जो परिचय तू हम को आम तौर पर नहीं देती उस को प्राप्त करें।

( २ )

अपने अनुभवों को और अभीप्साओं को शब्दगत करने का जब तूने आरम्भ किया उसी समय तेरी अभीप्सा ईश्वर के समक्ष इस रूप में प्रकट होती है :—

"......'एक दिन ऐसा आवेगा जब कि मैंने तेरे साथ तादात्म्य प्राप्त किया होगा, और मेरे पास तुझे कुछ भी कहने का रहेगा नहीं, क्योंकि उस समय मैं तू बन गई हूंगी। इस लक्ष्य को प्राप्त करनेकी मैं आकांक्षा रखती हूँ।''मैं उस दिन के लिए अभीप्सा कर रही हूँ जब कि मैं अपने को 'मैं' नहीं कह सकती, क्योंकि मैं तू बन जाऊंगी।" *

यह अभीप्सा वही है जो हरेक व्यक्ति के हृदय में प्रकट होनी चाहिये ऐसा तूने कहा है। हमारे जीवन में अनेक शुभ उन्नत अभीप्सायें, भावनायें, आदर्श होते हैं, लेकिन इस प्रकार की अभीप्सा होना अति दुर्घट है। हमारी दृष्टि के क्षितिज में ईश्वर का अस्तित्व शायद ही स्फुरित होता है, होता है तो भी एक तर्क रूप से, या तो अर्धजाग्रत संभावना के रूप से या अप्रत्यक्ष रहे हुए तत्त्व की ओर श्रद्धा के रूप से। ईश्वर हमारे सामने जीवन्त मूर्त्त पदार्थ बन कर कभी नहीं आता, फिर उसके साथ तादात्म्य प्राप्त करने की इच्छा हम में कैसे उत्पन्न हो सके? अर्थात् इस प्रकार की अभीप्सा का जन्म होने के पहले ईश्वरके साथ किसी न किसी रूपसे हमारा मिलन होना ही चाहिये। यह मिलन कब होता है? जब कि व्यक्ति की निगूढ़ आन्तर चेतना, अपने विकासक्रम में बढ़ती हुई, उस परम चेतना के साथ संलग्न होने के लिये तैयार हो। अगर किसी व्यक्ति की आज तक ईश्वर से

---

* यह और इसके बाद के सब उद्धरण 'Prayers and Meditations of the Mother' नामक पुस्तक से दिये गये हैं। अब उन के पृष्ठांक और तिथि ही केवल नीचे टिप्पणी में दिये जायेंगे। पृ. २, नवम्बर २, १९१२

भेंट नहीं हुई तो इसका अर्थ इतना ही है कि अभी उसकी चेतना का आवश्यक परिपाक नहीं हुआ। ऐसा कभी हुआ ही नहीं कि चेतना का परिपाक हुआ हो और ईश्वर से मिलन न हो। यहां यह प्रश्न उपस्थित होगा कि यह परिपाक कब हो जाता है। लेकिन चैतन्य के विकास की इस निगूढ़ प्रक्रियां को स्थूल तर्कशक्ति को गम्य कराना संभवित नहीं। हमें ईश्वर के मिलन की घटना की वास्तविकता को स्वीकार करके आगे बढ़ना होगा। क्योंकि जब मनुष्य कहता है, जब तू प्रभु से कहती है कि, 'मैंनें निश्चयात्मक रूप से तुझे पाया है, तेरे साथ मेरा मिलन सतत बना रहता है, तेरी उपस्थिति मेरें लिए एक निरपेक्ष, अविकारी, सुस्थिर हकीकत है, और तेरी शान्ति मेरे हृदयमें प्रतिक्षण बस रही है।' तो इस अनुभव को अप्रमाणित या अवास्तविक समझने का हमारे पास कोई आधार नहीं हो सकता।

इस सतत सान्निध्य का अनुभव होने के बाद अब ईश्वर बनने की घटना, मनुष्यचेतना का ईश्वरीभवन, दिव्य रूपान्तर कैसे हो सकता है इसका कुछ खुलासा तू करती है।

"अब मुझ में कोई मर्यादा नहीं दीखती। शरीर की, इन्द्रियों के संवेदन की, वृत्तियों की और विचारों की अनुभूति अब बन्द हो गई है। प्रेम और प्रकाश से भरी हुई, एक अनिर्वचनीय आनन्द से पूर्ण ऐसी स्पष्ट, शुद्ध, प्रशान्त विराट् चेतना ही केवल अस्तित्व में रही है, और केवल वही चेतना ही मुझे अपना स्वरूप सी लगती है, और मेरा यह 'अपनापन' मेरे पुराने मर्यादित और अहंकेन्द्रित 'अहं' से इतना कम सादृश्य रखता है कि मैं नहीं कह सकती कि यह चेतन मैं हूं या तू है।

"प्रभो, मेरी प्रार्थना का तूने प्रत्युत्तर दिया है, मैंने तुझ से जो मांगा था वह तूने मुझे दिया है; वह 'मैं' मिल गया है, अब तेरी सेवा के लिये एक विनम्र उपकरण तेरे पास आ गया है, तेरे अनन्त और शाश्वत किरणों को केन्द्रीभूत और आविर्भूत होने के लिये एक केन्द्र तेरे चरणों में आया है। तूने मेरे जीवन को ले लिया है और अपना बना दिया है, तूने मेरी संकल्पशक्ति को ले लिया है और उसे अपने संकल्प के साथ संयुक्त कर दिया है, तूने मेरे प्रेम को ले लिया है और अपने प्रेम के साथ उसका तादृरूप्य कर दिया है, तूने मेरी विचारशक्ति को ले लिया है और उसके स्थान में अपनी परात्पर चेतना को रख दिया है।" *

यह विकास महान् है, लेकिन यहां विकास की परिसीमा नहीं। वह पहले की अभीप्सा फिर एक बार भिन्न रूप से प्रकट होती है और अपने रूपान्तर का एक अनूठा रूपक ले आती है।

"प्रभो, मैं तुझे पुकार रही हूं, दिव्य प्रेम बन जाने के वास्ते, प्रेम जो कि सामर्थ्ययुक्त है, अवधिरहित है, अगाध है, मेरी प्रत्येक क्रिया में, मेरी चेतना की सब सृष्टिओं में वह प्रेमस्वरूप बन जाने के वास्ते।" "मुझे तू अग्नि से भरे हुए उस अग्निकुण्ड में परिवर्त्तित कर दे जिसकी ज्वाला से पृथ्वी का सारा वायुमण्डल विशुद्ध हो जाय।" †

---

* पृष्ठ ३६; ४०; अप्रेल १०, १९१४ † पृष्ठ ५१, अगस्त २७, १९१४

अग्नि से भरा हुआ अग्निकुण्ड बन जाना। तेरे सान्निध्य में आने पर तेरी इस विशुद्धि-कारिणी प्रेम से प्रदीप्त शान्त ज्योतिका अनुभव किसे नहीं हुआ? और फिर 'पृथ्वीका सारा वायुमण्डल' ये शब्द कितने आश्वासक हैं। ईश्वरोपासना, अध्यात्मसाधना, योग को जो लोग केवल व्यक्ति के अपने हित की ही प्रवृत्ति समझते हैं, और उससे समष्टि के कल्याण की कोई संभावना ही नहीं देखते उनके लिये ये शब्द कुछ द्योतक बनेंगे।

और एक दिन तू भी उस परम सत्ता को माँ कह कर पुकार उठती है, जैसे कि हम तुझे पुकारते हैं, और एक असाधारण अनुभव का वर्णन करती है।

"हे दिव्य मातः, कैसे उत्साहपूर्वक, कैसे ज्वलन्त प्रेमसे मैंने तेरी गहनतम चेतना में प्रवेश किया, तेरे दिव्य प्रेम और संपूर्ण मुद्रा की ऊर्ध्व अवस्था में मैं आ बैठी; और तेरी भुजाओं में इतनी लिपट के बैठी और तुझे इतनी तीव्रता से चाहने लगी कि मैं सर्वभाव से तन्मय बन गई। फिर हमारी इस मूक आनन्दोद्रेक की शान्तिमें और भी गहराई से एक आवाज उठी; और उस आवाजने कहा 'जिन को तेरे प्रेमकी ज़रूरत है उनकी ओर तू अभिमुख हो।' चेतनाकी तमाम कक्षायें, तमाम क्रमगत सृष्टियां प्रकट हुईं। उनमेंसे कई भव्य और जाज्वल्यमान थीं, सुव्यवस्थित और स्पष्ट थीं, उनका ज्ञान दीप्तिमान् था, उनका आविर्भाव सामंजस्यपूर्ण और विशाल था, संकल्पशक्ति समर्थ और अजेय थी। फिर सृष्टियां अधिकाधिक अंधकारमय और अव्यवस्थित होने लगीं, शक्ति उग्र बनने लगी और यह भौतिक सृष्टि तमसावृत और शोकाकुल बन गई। और हमारे उस निरवधि प्रेम से हमने जब उस व्यथा और अज्ञान की दुनियाकी भयानक यातनाको समग्रतया देखा, हमने जब अपने बच्चोंको क्लेशपूर्ण संघर्षमें फंसे हुए देखा, अपने सच्चे लक्ष्यसे च्युत हुई शक्तियोंके द्वारा एक दूसरेके ऊपर फेंके जाते देखा, तब हमने तीव्र संकल्प किया कि दिव्य प्रेमका प्रकाश, इन व्यग्र तत्त्वों के बीच में एक रूपान्तर करने वाली शक्ति, प्रकट होनी चाहिये। फिर, हमारा यह संकल्प और भी बलवान् और कार्यसाधक बने इसलिए हम, हे अचिन्त्य परात्पर, तेरी ओर फिरे और तेरी सहायता की याचना की। और अज्ञात की उन अस्पृष्ट गहराइयों से प्रत्युत्तर उठा दिव्य और दुर्धर्ष, और हमने जाना कि पृथ्वी अब बच गई।"*

दुःख, व्यथा, क्लेश और संघर्ष से भरी हुई हमारी इस पृथ्वी को मुक्त करने के लिए ईश्वर ने इच्छा की है यह बात इतने स्पष्ट रूप से शायद ही किसी मनुष्य के मुख से बाहर निकली है। लेकिन पृथ्वी का बचाव कैसे होगा? कुछ दिनों के बाद तू प्रभु से निवेदन करती है —

"उन अचिन्त्य वास्तविकताओं और इस भौतिक सृष्टि की सापेक्षताओं के बीच योग्य माध्यम के रूपमें तूने हमें स्वीकार किया है, और हमारे अन्दर तेरी अखण्ड उपस्थिति तो तेरे सक्रिय सहयोग की द्योतक है।

---

* पृ० ५४, सितम्बर १, १९१४

पृथ्वी के ऊपर एक नयी ज्योति प्रकट होगी।
एक नयी सृष्टि का जन्म होगा।" †

परात्पर सत्य और इस तमसावृत पृथ्वीके बीच माध्यम बनने की अभीप्सा फिर भी व्यक्त होती है।

"व्यथा और अनिश्चितता के इस समय में कई लोग आज तुझे ढूंढ रहे हैं। तेरे पास उनको ले आने का मुझे माध्यम बना कि तेरा प्रकाश उन को प्रकाशित करे, तेरी शान्ति उनको शान्त करे। मेरा जीवन अब तो केवल तेरे कार्यका एक आधारबिन्दु है और तेरी चेतनाका केन्द्र है।" *

इन शब्दों का उद्गार होने का समय है गत यूरोपीय युद्ध की प्रारंभावस्था। और तेरे हृदय से एक आर्त प्रार्थना उठती है कि "इस वर्तमान संक्षोभ के आवरण में, इस बेहद गोलमाल के भीतर ही से उस अद्भुत घटना को तू सिद्ध कर दे, तेरी परम प्रशान्ति और विशुद्ध अचंचल प्रकाश का नियम सब के समक्ष प्रकट हो जाय और यह (नियम) तेरी दिव्य चेतनाके प्रति अन्ततः जाग्रत हुई मानवजातिमें इस पृथ्वी पर शासन करने लगे।" ‡

और सारी पृथ्वी के प्रति तेरे हृदय में उस समय कैसा भाव रहा है?

"सारी पृथ्वी हमारे हाथोंमें एक बीमार बालक जैसी है; उसका रोग मिटाना ही चाहिये, और उस की अशक्ति के कारण ही उस की ओर खास प्रेम रहता है।" ¶

लेकिन इस जगदुद्धार का दायित्व छोटी सी बात नहीं। अब तक जो अनुभव हुए वे इस महान् कार्यके लिये पर्याप्त न भी हों। और मानो फिर नये सिरेसे साधना शुरू होती है। ईश्वरके संपर्क से जो कुछ सुखानुभव होता था वह सब यकायक छीन लिया जाता है और तू कहती है —

"हर प्रकार के आध्यात्मिक सुख से मुझे निर्वासन मिल चुका है; और तेरी भेजी हुई सब अग्निपरीक्षाओं में यह अत्यन्त वेदनापूर्ण है। ... अगर इस बहिश्चेतना से बिलकुल निकल जाना संभवित हो जाय और दिव्य चेतना में आश्रय पाया जाय तो? लेकिन इसकी तो तूने मना की है, और अब भी और हमेशा ही मना कर रही है। जगत् से भाग निकलना नहीं होगा। चाहे सब प्रकार की दैवी सहायता बन्द हो गयी प्रतीत हो तो भी जगत् के अन्धकार का और उस की दुर्मुखता का भार अन्त तक ढोना ही होगा। मुझे रात्रि के गर्भ में रहना ही चाहिये और चलते ही रहना चाहिये बिना दिग्द्योतक, बिना दीपक, बिना आन्तरिक मार्गदर्शक।" @

इस अवस्था की गहराई में तू हमें और भी ले जाती है।

"कई बार एक महान् निःश्वास निकल पड़ता है, शोक का, दर्दभरे अकेलेपन का, आध्यात्मिक बिछोह का—मानो कि भगवान् से त्याग दी हुई पृथ्वी की निराशापूर्ण प्रार्थना का निःश्वास। यह व्यथा जितनी मूक है उतनी ही क्रूर है। यह दर्द बिलकुल नम्र है, इस में विरोध की वृत्ति नहीं, इस को टालने की या इस से निकल जाने की इच्छा नहीं, इस में एक निरवधि माधुर्य

---

† पृ० ५६ * पृ. ६० ‡ पृ. ६२ ¶ पृ. ६३ @ पृ. ६६

भरा है, व्यथा और आनन्द दृढ़भाव से जुड़े हुए हैं; यह कोई निःसीम, विशाल, महान् और गहरी अवस्था है, इतनी महान्, इतनी गहरी कि शायद मनुष्य उसको समझ भी न पावें—कोई ऐसी अवस्था जो कि अपने में कल का बीज धारण कर रही है।" *

ईश्वर का माध्यम बनने के लिये ही यह अनुभव हुआ होगा न ? इसके बाद करीब दो वर्ष बीत जाते हैं, और इस बीच पूर्ण माध्यम बननेकी तैयारियां अन्तःकरणकी गहराईमें होती रही हैं।

"मुझ में वस्तुएं विकसित होने लगी हैं, शक्तियां और प्रवृत्तियां, फूलों के सदृश खिल रही हैं, आप ही आप, बिना प्रयत्न, होने के आनन्द में, उगने के आनन्द में, तुझे अभिव्यक्त करने के आनन्द में, उस अभिव्यक्ति का प्रकार चाहें कोई भी हो। अगर अब संघर्ष हैं, तो भी वह इतना मन्द और आसान हैं कि उसको संघर्षका नाम ही नहीं दिया जा सकता। लेकिन इतने महान् प्रेमको धारण करने के लिये यह हृदय कितना छोटा है! और यह प्राण और शरीर उस प्रेम का वितरण करने की शक्तिको धारण करनेको कितने दुर्बल हैं! इस प्रकार तूने उस आश्चर्यपूर्ण पथकी ड्योढ़ी पर तो मुझें ला रखा हैं लेकिन उस पथपर आगे बढ़नेकी क्या मेरे पैरों में शक्ति होगी ?' 'लेकिन तू मुझे कहता है कि मेरी गति का स्वरूप तो उड़ने का है, चलने की इच्छा करने में गलती होगी।' 'प्रभो, तेरी करुणा कितनी निःसीम है ! फिर एक बार तूने अपनी सर्वशक्तिमान् भुजाओं में मुझे ले लिया है और अपने अगाध हृदय के झूलने पर रख कर मुझे झुलाया है और तेरे हृदय ने मुझे कहा है, "अपने को बिल्कुल दुःखी मत कर, बच्चे के समान विश्वासपूर्ण बन जा: मेरे कार्य के लिये मूर्त्तिमन्त हुआ हुआ तू क्या मैं ही नहीं हूँ ?" †

तेरे पर भगवान् की कृपा की वर्षा और भी होती रहती है।

"तूने अपनी कृपाओं से मुझे तर कर दिया है, तूने मेरे समक्ष बहुत से रहस्यों को अनावृत किया है, तूने मुझे कई अकल्प्य और आशातीत आनन्दों का आस्वाद कराया है, किन्तु तेरी कोई कृपा इस कृपा के समान नहीं जिसके होने पर तेरे दिव्य उच्छ्वास के स्पर्श से ही मानव का हृदय उछल पड़ता है।

"मुझे बता कि आकुल हृदयों में इस उषाको जन्म देनेकी, तेरी दिव्य सत्ताके प्रति मानवों की चेतना को जगाने की और इस बीहड़ और दुःखमय जगत् में तेरे सच्चे स्वर्गका कुछ अंश ले आने की अद्भुत शक्ति क्या तू मुझे देगा ? इस आश्चर्यपूर्ण दान के समान कौन सा सुख, कौन सी समृद्धि, कौन सी पार्थिव शक्तियाँ हो सकती हैं ?" ‡

इस अपूर्व ईश्वरी तत्त्व की प्राप्ति के रहस्य में तू हमें और भी ले जाती है।

"तूने मुझे एक बहुत बड़े साधनापथ पर चलाया है। तेरे पास ले जाने वाली सीढ़ी के

---

*पृ० ७१, मार्च ८, १९१५

† पृ० ७३, दिसम्बर २६, १९१६ ‡ पृ० ७८, ७९; मार्च ३१, १९१७

सोपानोंको तूने मुझे एक एक करके चढ़वाया है, और उस आरोहण के शिखर पर तेरे साथ तादूरूप्य के संपूर्ण आनन्द का आस्वाद तूने मुझे कराया है। फिर तेरी आज्ञा के वश हो कर, उन सोपानों से एक एक कर उतरती हुई मैं बाह्य प्रवृत्तियों में और चेतनाकी बहिर्मुख अवस्थाओं में आ पहुंची हूं, तुझे खोजने के लिये मैंने जिन सृष्टियों को छोड़ दिया था उनमें मैं फिर आ बैठी हूं। और अब मैं सीढ़ी के नीचेके तल में वापिस आ गई हूँ तो यहाँ मुझ में और मेरे इर्दगिर्द सब कुछ इतना नीरस, इतना मामूली, इतना निःसत्त्व मालूम होता है कि मुझे अब कुछ भी समझ में नहीं आता।...अब तू मुझसे क्या अपेक्षा रखता है? उस धीमी और दीर्घ तैयारी का क्या उपयोग होने वाला है?" *

थोड़े दिनों के बाद उस प्रश्नका उत्तर मिलता है।

"क्योंकि तू अपनी ज्योतिके द्वार पर मुझे ले गया था और अपने सामञ्जस्य का मुझे आनन्द दिया था इससे मैंने यह समझ लिया था कि मैं लक्ष्य को प्राप्त कर चुकी हूँ। लेकिन, सत्य तो यह था कि अपने प्रकाश की संपरिपूर्ण स्पष्टता में अपने इस उपकरण की आलोचना करने के लिये ही तू मुझे वहाँ ले गया था और फिर उसको इस जगत् के अग्निभाण्ड में इसलिये डाल दिया है कि वह फिर नये सिरे से पिघल जाय और विशुद्ध बन जाय।

"वेदनापूर्ण और तीव्र अभीप्सा के इन क्षणों में मैं देख रही हूँ, मैं अनुभव कर रही हूँ कि मैं रूपान्तर के पथ पर प्रचण्ड वेग से खींची जा रही हूँ और मेरा समग्र सत्त्व उस अनन्त के साथ सचेतन संपर्क से आन्दोलित हो रहा है।"†

अब तो जगत् के लिये कार्य की प्रायः सब तैयारियाँ हो चुकी हैं। तू कहती है—

"तूने अपने दिव्य प्रकाश से मुझे भर दिया है। अपना महान् आनन्द मुझ में छलका दिया है। अपनी मैत्रीका तूने फिर विश्वास दिलाया है और अपने सतत सान्निध्यका मुझे वचन दिया है। तू कभी न टलने वाला मित्र है, शक्ति है, आधार है, मार्गदर्शक है।...अब तू हमारे पास है इस से सब कुछ स्पष्ट हो चुका है। मेरे दुर्ग के समान बने हुए हृदय में अग्नि फिर प्रदीप्त हुआ है, उस की ज्योति जगमगा रही है, और वायुमण्डल को तेजस्वी कर रही है और इसे विशुद्ध कर रही है।..."

"तूने मुझ से कहा है: 'मैं वापिस आया हूं, हमेशा तेरे साथ रहने के लिये'।"‡

अब सम्पूर्ण रूपान्तर की बधाई तू देती है —

"पहले जैसे मेरी आत्मा तेरे सम्मुख स्मित करती थी, वैसे आनन्द के साथ अब मेरा शरीर तेरे सम्मुख स्मित कर रहा है। और अबकी बार तो, हे मेरे प्रभु, इस आनन्दको मुझसे तू वापिस नहीं ही ले लेगा। मैं समझता हूं अब शिक्षा काफी हो चुकी है।...एक समर्थ प्रेम के सिवा भूत-काल का कोई तत्त्व मुझमें अवशिष्ट नहीं रहा। उससे मुझे बालक का शुद्ध हृदय मिला है और देव का विचार-स्वातन्त्र्य और हलकापन मिला है।" ¶

---

* पृ. ८४, सितम्बर २४, १९१७ † पृ. ८७, अक्तूबर १५, १९१७

‡ पृ. ८८, नवम्बर २५, १९१७ ¶ पृ. ९२, सितम्बर ३, १९१९

और अब तेरे सामने अपना कार्य आ पहुँचा है। यूरोपने अपने खूंख्वार युद्ध से विराम पाया है, जगत् नये संसार की, स्वातन्त्र्य के सुख की कल्पनाओं में प्रवृत्त होने लगा है। लेकिन यह युद्ध-विराम युद्ध का सर्वकाल के लिये अन्त नहीं लाया है। अब भी संग्राम मचने वाला है, क्योंकि ईश्वर का राज्य पृथ्वी के ऊपर स्थापित नहीं हुआ। अपने अविगलित दूषित तत्त्वों से मुक्त होने के लिये मानवजाति कोई बीस साल के बाद युद्ध में फिर प्रवृत्त होने वाली है। लेकिन सूक्ष्म जगत् में तेरा संग्राम तो अब से ही शुरू हो जाता है।

"मुझे वाचातीत आनन्दका दान करनेके बाद, अब मेरे प्यारे प्रभु, तूने मेरे पास संघर्षको, अग्निपरीक्षा को भेजा है और इस को भी मैं तेरा बहुमूल्य दूत समझ कर स्मितपूर्वक स्वीकार करती हूँ। पहले तो मैं संघर्षसे डरती थी, क्योंकि सामंजस्य और शान्ति की मेरी प्रिय भावना को उस से आघात होता था। लेकिन अब, हे मेरे प्रभु, मैं उसका सहर्ष स्वागत करती हूँ। तेरी क्रियाके अनेक रूपों में से यह भी एक रूप है, हमारे कार्य के कुछ तत्त्वों को फिर प्रकाश में ले जाने का उत्तम साधन है। इस प्रकाश के बिना वे तत्त्व शायद विस्मृत ही हो जाते। इस संघर्ष के साथ विपुलता, संकुलता और शक्तिका अनुभव भी होता रहा है।" *

( ३ )

इस संघर्ष ने कैसा रूप लिया, और तेरा कार्य जगत् में कैसे मूर्त्त हुआ उस के बारे में तू वर्षों तक चुप रहती है। हम इतना ही जानते हैं कि भारत देश की एक महाज्वलन्त विभूति के कार्य के साथ तूने अपने जीवनकार्य को सम्मिलित होता हुआ देखा। तू इनके पास आकर रह गयी और तुम दोनों का कार्य एकरूप बन कर सिद्धि की दिशा में अग्रसर होने लगा। अन्त में वह दिन आ गया कि जब प्रगट रूप से तेरे हाथों से मानव जीवन को दिव्य बनाने का कार्य शुरू हुआ। उस दिन से आज तक उस अग्निकुण्ड जैसे तेरे सान्निध्य में आकर मानवता अपनी दिव्यता का अनुभव प्राप्त कर रही है। तू अनगिनत मानव आत्माओं को दिव्य जीवन में जन्म देने वाली जननी, 'माता' बन चुकी है और बन रही है। तेरी भूतकालीन भौतिक स्थूल उपाधियों का नाम धाम आदि सब का लय होकर आज तू केवल 'माता जी' बनी है। मनुष्य के लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि तू हमारे में दिव्य जीवन की रचना करने वाली उस अनिर्वचनीय की मूर्तिमन्त शक्ति है। और उसके सामने इतना ही कर्तव्य है कि जैसे तू अपनी अभीप्सा के बल से, और ईश्वर की कृपाके अवतरणसे ईश्वरमय बन गई है वैसे वह भी तन्मय, ईश्वरमय हो जाय। ईश्वरत्व को पूर्ण रूप से जब जो मनुष्य प्राप्त करेगा तब उस को तेरा परिचय पूर्ण रूप से होगा।

---

* पृ० ६४, जून २२, १९२०

यह सर्वथा संभवित है कि तेरे हाथ से दिव्य जीवन की अनुभूति जिसने नहीं पायी वह इन सब बातों में संशयित रहे। तेरा कार्य तो सारी पृथ्वी के जीवन को पलट कर उस में दिव्यत्व की स्थापना कर एक नयी मानवजाति की स्थापना करने का है। आजकल मानवसमाज में प्रचलित आदर्शों से यह आदर्श कई गुना उच्चतर है। उसकी सिद्धि के लिये सामर्थ्य भी उतना ही असाधारण होना चाहिये। तेरे संपर्क में आने से उस जगत् की रचना करने वाले सामर्थ्य की प्रतीति मनुष्य को होती है। ऐसे अतिमानव सामर्थ्य से युक्त होकर तू आज जगत् के जीवन को दिव्यता की ओर ले जा रही है। आज पृथ्वीतल के ऊपर जो घटनायें हो रही हैं उन से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि वह संबन्ध स्थूल भूमिका की अपेक्षा, इन घटनाओं के पीछे प्रवर्तमान सूक्ष्म और बलवत्तर शक्तियों के साथ अधिक है और उस की महत्ता प्राकृत मनुष्य की समझ में सरलता से आ नहीं सकती तो भी पृथ्वी के लिये तेरे कार्य का महत्त्व अल्प नहीं होता।

मनुष्य की स्थूल भूमिका के ऊपर आज के संघर्ष के प्रकट होने से पहले ही तूने उस को ताड़ लिया था, जगत् में जो कुछ अनिष्ट और मलिन तत्त्व अपनी सत्ता को जमाने का यत्न कर रहे थे उन को तूने देख लिया था और उन के प्रतिकार के लिये तू सज्ज हो रही थी। आज से कुछ साल पहले की बात है कि जब तूने जगत् की इस गहरी विषमता का अनुभव कर के प्रभु से कहा था—

"तेरे कार्य की सिद्धि के लिए मैंने स्थूल तत्त्व के अगाध गह्वरों तक डुबकी लगाई है, मैंने अपनी अंगुलियों से असत्य और अचेतना की भयंकरता को छुआ है, मैं विस्मृति और परम अन्धकार की भूमि तक हो आयी हूं। किन्तु मेरे हृदय में वह स्मृति मौजूद थी, मेरे हृदय से वह पुकार निकल पड़ी और तेरे पास जा पहुंची : "प्रभो, प्रभो, हर स्थान में तेरे दुश्मन विजयी होते देखे जाते हैं; जगत् के ऊपर असत्य का शासन चल रहा है; तेरे बिना जीवन मृत्यु सा, सनातन नरक सा बन गया है; संशय ने आशा का स्थान छीन लिया है और उद्दण्डता ने नम्रता को निर्वासित किया है; श्रद्धा खतम हो गयी है, कृतज्ञता उपजी नहीं है, अन्ध और रक्तपिपासु वृत्तियों ने तेरे प्रेम के मधुर नियम पर छा कर उस का गला घोट दिया है। प्रभो, तेरे शत्रुओं की, असत्य, दुर्मुखता और यन्त्रणा की जीत तू होने देगा? प्रभो, तू विजय करने की आज्ञा दे और विजय हो जायगी। मैं जानती हूं कि हम इस कार्य के लिये सुयोग्य नहीं, मैं जानती हूं कि जगत् अभी तैयार नहीं। लेकिन तेरी करुणा में निःसीम श्रद्धा से मैं तुझे पुकारती हूं और जानती हूं कि तेरी करुणा हमें बचावेगी।

"इस प्रकार मेरी प्रार्थना तेरी ओर चली; और उस गह्वर की गहराइयों से अपनी प्रज्वलित दीप्ति में ऊपर आते हुए तुझे मैंने देखा, तू प्रत्यक्ष प्रकट हुआ और मुझ से बोला : 'धैर्य मत खो, दृढ़ बन, विश्वास रख—मैं आता हूँ'।"*

---

*पृ. ६५, नवम्बर २४, १९३१

जगत् की इस वर्तमान विषादकारक दुरवस्था में ये शब्द मनुष्यहृदय के क्षोभ को कुछ तो मिटा सकेंगे। इस संघर्ष के भीतर भी ईश्वर की शक्ति सक्रिय रूप से प्रवर्तमान है और उस की विजय होने वाली ही है इस श्रद्धा की प्राप्ति मनुष्य को अपने जीवनक्रम में बहुत सहायक हो सकती है और उस स्वर्णयुग को निकट ले आने का प्रयत्न करने में प्रेरित करने वाली बन सकती है। *

—सुन्दरम्

—:*:—

## गीत

चल चल रे खो कर अपनापन,
उन मौन भावनाओं में मग्न।
क्या खोज रहा आकाशपुष्प !
चिर रही साधना अति अपूर्ण,
किसलय आशा का हुआ चूर्ण
मत डाल अश्रु कण रे खोज गगन।

यदि पा न सके आकाशपुष्प,
थक कर हों तेरे शिथिल अङ्ग,
कर मौन साध का अचल संग,
रे पायेगा वह जीवन-धन।

खो चुका गगन यदि प्रणय-पुष्प,
आशा हो तेरी अन्त शून्य;
मत रो आत्मा तू अन्त शून्य—
आशा में पा अगला जीवन।

—गुरुदयाल

* श्रीमाता जी १९१२ से लेकर २०-२५ वर्षों तक समय समय के ध्यान, प्रार्थनाओं तथा आध्यात्मिक अनुभवों को एक विशेष अन्तःप्रेरणा के अधीन तारीख दे कर लिख लिया करती थीं। कुछ समय हुआ वे पुस्तक रूप में छाप दिये गये। यह पुस्तक फ्रेंच में है और अङ्गरेज़ी में थोड़ी प्रार्थनाओं को ही अभी तक पुस्तकाकार में छापा गया है। अदिति में हम हर बार मूल फ्रेंच से ही 'प्रार्थना व ध्यान' दिया करते हैं।

इस लेख के उद्धरण इसी पुस्तक में से हैं।—सं० अ०

# श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

योग-साहित्यमें "आत्मसिद्धि-योग" और "विज्ञानयोग" ये दो लेखमालाएं* श्रीअरविन्द की अपनी (व्यक्तिगत) देन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन हैं। आत्मसिद्धि की व्याख्या, मानव और दिव्य पूर्णता के बीच का अन्तर और साधना के उत्तरोत्तर विकास को सूचित करने वाले स्तरों का विस्तृत वर्णन, 'महाशक्ति' और 'श्रद्धा' इत्यादि प्रकरणों में दिखाई देने वाली अपार्थिव उड़ान ये सब श्रीअरविन्द के योग की अपनी विशिष्टता का परिणाम हैं।

उपर्युक्त लेखमाला में आत्मसिद्धि के ६ अंग गिनाये गये हैं; लेकिन अधिक संक्षिप्त रूप में समग्र पूर्णयोग (पाठक जानते ही हैं श्रीअरविन्द के योग को सर्वाङ्गीण होने से 'पूर्णयोग' नाम से पुकारा जाता है) का चार तत्त्वों में समावेश किया जा सकता है। ज्ञानयोग में इन का निर्देश पाया जाता है। इन चार अंगों का विस्तृत विवेचन करना इस लेख का प्रयोजन है।

ये चार अङ्ग हैं, शुद्धि, मुक्ति, सिद्धि और भुक्ति। हरेक योगपद्धति में ये चारों ही अङ्ग आवश्यक हैं। क्योंकि साधना का उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, मोक्ष की व्याख्या भले ही भिन्न हो, फिर भी प्रत्येक साधनापथ में प्रकृति के किसी एक करण का स्वीकार करके ही मानव आगे बढ़ता है। उदाहरण के लिए कर्म, ज्ञान, और भक्तियोग में संकल्पशक्ति ( Will ), बुद्धि और चित्त या हृदय को क्रमशः करण स्वीकृत किया गया है। और मानव प्रकृति के ऐसे ही किसी एक करण की शुद्धि, मुक्ति द्वारा सिद्धि और भुक्ति प्राप्त की जाती है।

सबसे पहले शुद्धि की आवश्यकता होती है। मानव प्रकृति अभी अपूर्ण है, उसके हरेक और सब करण अपूर्ण हैं—अशुद्ध हैं, इसलिए हरेक साधना-प्रणाली में सबसे प्रथम उसमें अपनाये गये करणकी शुद्धि आवश्यक हो जाती है। उदाहरणके लिए हठयोग शरीर को अपने करण के रूपमें स्वीकार करता है इसलिए इस योग में सर्वप्रथम शारीरिक विशुद्धि ज़रूरी हो जाती है। अन्य योगोंमें भी इसी प्रकार होता है।

लेकिन पूर्णयोग में शुद्धिकी व्याख्या और ही प्रकार से की गई है। इसके सिवाय उस में मानव प्रकृति के किसी एक करण की नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण आधार की शुद्धि करनी होती है। पूर्णयोग के अनुसार आधार का अर्थ है मन, प्राण, शरीर इत्यादि का व्यवस्थित पिण्डीभूत अस्तित्व जो भगवान् के कार्य करने का 'आधार' है। इससे भी आगे बढ़ कर यह शुद्धि केवल अभावात्मक ही नहीं भावात्मक भी होनी चाहिये। इसलिए पूर्णयोग में यह काम अत्यन्त जटिल हो जाता है। बहुत लोग यह प्रश्न करेंगे आखिर इतने बड़े कार्य का प्रारम्भ किया कहाँ से जाय? हठयोगादि साधना

*अंग्रेजी 'आर्य' पत्रिका में प्रकाशित। Yoga of self-perfection तथा Supramental Yoga

मार्ग के आसन-प्राणायाम या भक्तियोग के भावोन्माद अथवा ज्ञानयोग के ध्यान-धारणा आदि प्रचलित सोपानों का उपयोग क्यों न किया जाय ?

प्रचलित योगमार्गों में मुक्ति अथवा सिद्धि का आधार प्रकृति के बने किसी करण पर ही आश्रित है यह हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। अर्थात् वहां साधना की सफलता प्रकृति पर ही आश्रित रहती है "अमुक क्रिया करने से अमुक फल मिलता है", तन्त्र की विशिष्ट प्रक्रियाओं का विशेष परिणाम होता है इसीसे स्पष्ट है कि सिद्धि या सफलता का आधार प्रकृति पर ही है। निःसन्देह ऐसी मुक्ति और सिद्धि भी मानवजाति में सर्वसामान्य नहीं हुई है। अज्ञानमय, अविद्यामय, अपूर्ण प्रकृति के किसी एक करण का सहारा लेकर भगवत्प्राप्ति करने वाले भी विरले ही हैं।

परन्तु पूर्णयोग प्रकृति के करण या उसकी अनुमति पर आश्रित नहीं है। भावात्मक और अभावात्मक शुद्धि और मुक्ति, प्रकृतिके साथ किये गये समझौते या शर्तोंपर ही आधार नहीं रखतीं। मानव अपने मूल स्वरूप में प्रकृति का साक्षी, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता ही नहीं ईश्वर भी है इस अनुभवसिद्ध सिद्धान्त पर पूर्णयोग की रचना हुई है। मानव के अन्तःस्थित इस स्वयंसिद्ध ईश्वरत्व को आधार मान कर प्रकृति को उसे स्वीकार करने के लिए बाधित किया जाता है। बुद्धि से लेकर स्थूल शरीर तक प्रत्येक करण में यह सत्य स्थापित किया जाता है। पूर्णयोग के दृष्टिबिन्दु से तो मानवको योगसिद्धि–दिव्य योगसिद्धि भी नहीं प्राप्त करनी है क्योंकि यह सिद्धि तो अब भी मानव की विद्याप्रकृति में अव्यक्त रूप से स्थित है। पूर्णयोग का अर्थ है मानव में स्थित अव्यक्त ईश्वरत्व को सक्रिय करना, अब तक अज्ञात इस तत्त्व को ज्यादा से ज्यादा अग्रभाग में लाते हुए प्रकृति के नियामक के रूप में स्थापित करना। पूर्णयोग का मतलब है मानव के अन्तःस्थित अव्यक्त भागवत जीवन का आविर्भाव।

इस दृष्टि से देखें तो शुद्धि का अर्थ अविद्या की अशुद्धियों से प्रकृति की शुद्धि करना इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक करण की प्रकाशमय विकसित क्रिया को स्थापित करना यह है। शुद्धि का प्रारम्भ प्रत्येक करण में पुरुषचैतन्य को स्थापित करके, प्रकृति से भिन्न-तटस्थ और उसके ईश्वर-स्वरूप को अग्रस्थान देने से होता है। मूल स्वरूप में अशुद्धि है ही नहीं इस सत्य पर आश्रय करके प्रकृति पर, सबसे प्रथम, पुरुष की इस स्वयंसिद्ध शुद्धिको मानने के लिए ज़ोर डाला जाता है। उसके बाद क्रमशः इस शुद्धि को स्वीकार करने और अपनी अशुद्धियों का त्याग करनेको उसे बाधित किया जाता है। पुरुषमें ऐसी स्वयंभू शक्ति है कि एक बार उसका साक्षात्कार होने के बाद धीरे धीरे प्रकृति उसके नियमन में स्वयं आती जाती है।

शुद्धि के प्रारम्भ होने का चिह्न है समता। साधक, पुरुष के रूप में प्रकृति की सब क्रियाओं को, द्वन्द्वों को, अविद्या के आक्रमण को और अपने अज्ञान, अविद्या तथा अशुद्धियों को समता की दृष्टि से देखता है; क्योंकि उन सबको वह अपने से बाहर अर्थात् प्रकृतिगत अनुभव करता

है। साधक की यह समता धीरे धीरे प्रकृति के करणों में स्थापित होती जाती है। वह ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है अशुद्धियां भी उतनी ही जल्दी दूर होती जाती हैं। समताके भी अभावात्मक और भावात्मक दो रूप हैं, इन्हें निष्क्रिय और सक्रिय इन दो स्वरूपों द्वारा प्राप्त करना होता है। समताके स्वरूपों में समता; शान्ति, सुख और हास्य अर्थात् आनन्द इन चार का समावेश होता है।*

शुद्धि के अभावात्मक रूप के सिद्ध होने के साथ ही उसका भावात्मक स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। प्रचलित विचार में शुद्धिका अर्थ अशुद्धिका अभाव ही किया जाता है परन्तु पूर्णयोग में शुद्धि के इस अभावात्मक स्वरूपके अतिरिक्त भावात्मक समर्थतत्त्व को भी प्रकृतिमें स्थापित करना शुद्धि का आवश्यक भाव माना गया है। संक्षेप में, पूर्णयोग जिस शुद्धि को स्थापित करना चाहता हैं वह केवल नीति या सदाचार के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली पापरहितता, निर्दोषता अथवा सामर्थ्यहीन श्वेतिमा ( सात्त्विकता ) नहीं है। ऐसी शुद्धि प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल है। बुद्धि का उपयोग करके मानव मन अपने प्राणके आवेगोंको, प्राणकी इच्छाओंको, अपने बाह्याचार को बुद्धि द्वारा संयत करके अपने प्राणमय जीवन पर एक प्रकारके मानसिक बुद्धिजन्य नैतिक अंकुश की स्थापना कर सकता है। सामान्यतया 'पवित्र', 'साधु'; 'महात्मा' माने जाने वाले लोग इसी पद्धति का आश्रय लेते हैं। लेकिन यह शुद्धि मौलिक नहीं होती। प्राण की अशुद्धियों का इस प्रकार मन के दबाव से निग्रह मात्र हो जाता है और उसके दो परिणाम होते हैं। एक तो प्राण स्वयं सत्त्वहीन होकर दबकर कुचला जाता है और अन्त में जीवन को भोगने का व्यक्ति का सामर्थ्य और प्रजा की प्राणशक्ति कम हो जाती है। ऐसे व्यक्ति और प्रजायें उल्लासहीन, महान् आदर्शों को सिद्ध करने की संकल्पशक्ति से रहित, निस्तेज और प्राणमय- जीवन में निस्सत्त्व हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति या प्रजायें प्राणमय जीवन की शक्ति वाले व्यक्ति या प्रजा के सामने ठहर नहीं सकते। जीवन में पराजित होकर मानसिक आदर्श की ऊंची उड़ान में और अपने नियमों को पालने में ही उन्हें सन्तुष्ट रहना पड़ता है; व्यवहार में हार खाकर नैतिक विजय द्वारा ही जी बहलाना पड़ता है।

वैदिक स्वराट् या सम्राट् होने का आदर्श एकपक्षीय नहीं है, वह तो जीवन के सब क्षेत्रों को स्वीकार करके हरेक पर प्रभुत्व सिद्ध करने का आदर्श है।

मन की शक्ति द्वारा प्राण के निग्रह करने का दूसरा परिणाम यह होता है कि प्राण दबने की जगह सामना करता है; और मन को ठगने के उपाय ढूंढ कर उसे समझा बुझा कर अपनी कामना उससे पूरी करवा लेता है। प्राण ऐसा तत्त्व है कि जिस के बिना व्यक्ति या प्रजा का काम कभी चल ही नहीं सकता। यही स्पष्ट करता है कि प्राण अपनी मांगों को किसी न किसी रूप में पेश करके मनको ठगाता रहता है। दृष्टान्त देने से यह विचार स्पष्ट हो जायगा। मेरे एक मित्रने चाय या कॉफी कुछ भी न पीने का प्रण किया। कुछ समय के बाद वे गेहूं को सेककर उसका काफी जैसा

*'आत्मसिद्धि-योग' के प्रारंभिक प्रकरणों में इन का विवेचन किया गया है।

पेय बनाकर पीने लगे। लेकिन इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी न था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि वे मुझे आग्रहपूर्वक समझाने लगे कि उनका यह काम युक्तियुक्त है। मैंने उन्हें दिखाने का प्रयत्न किया कि उनकी वृत्तिका बाह्य स्वरूप जरूर बदल गया है लेकिन प्राणकी वृत्ति तो ज्यों की त्यों स्थिर रही है। पर इस प्रयत्न में मुझे सफलता नहीं मिली क्योंकि उनकी बुद्धि ने भी मान लिया था कि प्राण की वृत्तियों को उन्होंने जीत लिया है। मन के घड़े हुए सिद्धान्त कभी यथार्थ रूप में नहीं पाले जा सकते; समझौते की जरूरत उसमें अनिवार्य रूप से आ ही पड़ती है। और एक समय ऐसा आता है कि प्राण मन से भी पूरी तरह बदला ले लेता है। यही कारण है कि पूर्ण प्रेम, पूर्ण न्याय-वृत्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता इत्यादि मानसिक आदर्श कभी सिद्ध नहीं हो पाते।

इसका कारण यह है कि मनुष्य का मन अत्यन्त शक्तिशाली करण है, उस में प्राण का निग्रह करने का बल है, अपनी कामना वासना दबाये रखने की उसमें ताकत है; फिर भी एक तो उसमें सम्पूर्ण सत्य प्राप्त करने की क्षमता नहीं है, दूसरे प्राण, शरीर इत्यादि करणों का रूपान्तर करने की, उनमें मौलिक शुद्धि स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है। संक्षेप में इन दोनों दिशाओं में मानव मन सीमित है। इस समस्या का हल यह है कि मन पर अधिकार करने के स्थान पर मन के ऊपर स्थित विज्ञानमय भूमिका या अतिमानस चेतना ( Super-mind ) को प्राप्त कर उसकी शक्ति द्वारा उसका रूपान्तर किया जाय। इसीलिये वेद, उपनिषद्, गीता आदि में मन से पर होने के लिये स्पष्ट रूप से खूब जोर दिया गया मालूम होता है। विज्ञान की भूमिका सत्य भूमिका है, सत्यधर्म की भूमिका है, ज्ञानज्योति की भूमिका है इसलिये उसके नियमन में स्खलन की संभावना ही नहीं रहती। प्राण की वृत्तियों के पीछे रहने वाले सत्य को वह जानता है, हरेक अशुद्ध वृत्ति के पीछे काम करने वाले उसके सत्य स्वरूप का उसे ज्ञान होता है, इसलिये विज्ञान प्रकृति की सब अशुद्धियों के प्रति मन जैसी असहिष्णु वृत्ति नहीं धारण करता। पाप में भी कार्य करते हुए सत्य को वह जानता है इसलिये वह पापका भी तिरस्कार नहीं करता। उदाहरण के तौर पर मानव के अन्दर रहने वाली कामवासना का केवल बाह्य स्वरूप ही असत्य है—पाशव है, लेकिन उसके पीछे कार्य करते हुए सत्य को विज्ञान जानता है इसलिये वह उस में अन्तर्हित सत्य को स्थापित करके असत्य स्वरूप दूर कर सकता है।

इतने से पाठक के मन में मनकी अभावात्मक, विनाशक शुद्धि और विज्ञान की भावात्मक और सर्जनात्मक शुद्धि का भेद स्पष्ट हुआ होगा। मानव मन प्राण को दबा कर कुचल डालने का मिथ्या या सफल प्रयत्न कर सकता है जब कि विज्ञान उसका सत्य स्थापित करके उसे चरितार्थ करता है, उसके असत्य को दूर करके सत्य स्थापित करता है।

भावात्मक दृष्टि से, शुद्धि, निर्मल श्वेतिमा की जगह, वीर्यवान् ओजस् बन जाती है। भावात्मक शुद्धि के कारण बुद्धि, चित्त, प्राणादि करणों में सामर्थ्य स्थापित होता है। अशुद्धियाँ

केवल दूर होती हों इतना ही नहीं किन्तु आध्यात्मिक जीवन का बीज अंकुरित होकर वृक्ष रूप में उगने लगता है। प्रकृति में रहने वाली लेकिन अब तक अज्ञात पूर्णता भी प्रगट होने लगती है और परिणामस्वरूप शरीर, प्राण; चित्त और बुद्धि में विज्ञान के चार चार तत्त्व स्थापित होने लगते हैं। शरीर में महत्त्वबोध, बल, लघुता और धारणसामर्थ्य; प्राण में पूर्णता, प्रसन्नता, समता और भोग-सामर्थ्य; चित्त में सौम्यता, ओजस् अर्थात् रौद्रता, कल्याणी श्रद्धा और सर्वप्रेम-सामर्थ्य; बुद्धि में विशुद्धि, प्रकाश, विचित्र बोध और सर्वज्ञान-सामर्थ्य ये सब प्राथमिक पूर्णता के रूप हैं। दूसरे शब्दों में इन चार चार तत्त्वों का संग्रह आधार की भावात्मक शुद्धि को सूचित करता है। *

अब मुक्ति के विषय में। वास्तव में देखें तो शुद्धि की भावात्मक स्थापना शुरू होते ही मुक्ति का भी प्रारम्भ हो जाता है। मुक्ति प्राप्त करनी है लेकिन आत्मा की नहीं, क्योंकि आत्मा तो नित्यमुक्त है; परन्तु मुक्ति प्राप्त करनी है प्रकृति में बद्ध उसके स्वरूपों की, मुक्ति प्राप्त करनी है अविद्याप्रकृति की।

इस समय हम लोगों में प्रचलित मोक्षकी धारणा और पूर्णयोग की मुक्ति में बहुत अन्तर है। आजकल के मोक्ष का विचार सामान्य रूप में मध्ययुग में से आया है; उस पर संन्यासवृत्ति और विशिष्ट मायावादी ज्ञानयोग की गहरी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इस मोक्ष का अर्थ है लयमोक्ष। संन्यासवृत्ति और मायावाद के साम्राज्य वाले मध्ययुग को पार करके उपनिषद्-काल में नज़र डालें तो हमें मालूम होगा कि प्राचीन समय में मुक्ति और पूर्णता ( सिद्धि ) का आदर्श अलग था। ईशोपनिषद् में विद्या अविद्या, संभूति और असंभूति दोनों को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है इतना ही नहीं, उसमें विज्ञानलोक की प्राप्ति और विज्ञान के धर्म के विषय में भी उल्लेख किया गया है। अन्य उपनिषदों में भी और विशेष कर तैत्तिरीय आदि में इस विषय की विशेष रूपसे विवेचना की गई है।

मुक्ति की अन्तिम अवस्था में साधक को उसके भावात्मक रूप की प्राप्ति, सिद्धि होती है। प्रकृति के करण ज्यों ज्यों अविद्या से मुक्त होते जाते हैं त्यों त्यों उनकी शक्ति बढ़ती जाती है और इसके सिवाय अहंताका लोप हो जानेके बाद साधकको विशुद्ध आत्मा—सच्चिदानन्द, विराट् आत्मा आदि—का साक्षात्कार होता है। साथ ही प्रकृति में भी महान् परिवर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है। अन्त में साधक में विज्ञान के स्तर की अविच्छिन्न और स्थिर क्रिया शुरू हो जाती है।

भुक्ति का आदर्श अंशतः राजयोग और बहुत बड़े अंश में तन्त्रमार्ग में स्वीकार किया गया मालूम होता है। अन्य योगपद्धतियों में उसका स्वेच्छापूर्वक त्याग किया गया है। यही नहीं बल्कि उसे ( भुक्ति को ) साधक के मार्ग में आने वाले महान् अन्तराय के रूप में गिना गया है। अहंकारमय, कामनाप्रेरित जीवन में रह कर ऐसे भोग को भोगने का प्रयत्न करना निश्चय ही साधक

---

* 'आत्मसिद्धि-योग' के प्रकरणों में इन सब पर विस्तार से विवेचना की गई है।

के लिये हानिकारक है। हानि से मतलब है आध्यात्मिक हानि। पर पूर्णयोग में उसे आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि दिव्य पूर्णता का आविर्भाव करने के लिये पूर्णयोग जीवन के सब क्षेत्रों को स्वीकार करता है। और इस पूर्णता के दिव्य होने के कारण उसमें अहंकार, कामना या इच्छा के तत्त्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार किया गया है। जीवन में दिव्य पूर्णता का आविर्भाव करना, सम्पूर्ण जीवन को आध्यात्मिक शक्ति का क्षेत्र मानकर उसका दिव्यभोग करना, यह है भुक्ति का रहस्य। भगवान् जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का कार्य करते हुए भी उसके आनन्द का उपभोग कर रहे हैं, उसी प्रकार दिव्य जीवन—भागवत जीवन—के साधक को भी दिव्य कर्मों का उपभोग करना चाहिये। जीवन का क्षेत्र अभी अज्ञानमय, अपूर्ण और दुःखमय है इसलिये दिव्य प्रकृति को प्राप्त करने वाले साधक के लिये उसका त्याग करना चाहिये यह उचित नहीं। भागवत व्यक्तियों का भागवतत्व उनके चरित्र में व्यक्त न हो—उनकी प्रकृति द्वारा व्यक्त न हो तो ऐसी दिव्य पूर्णता की प्राप्ति का अर्थ ही क्या है? और वह पूर्णता कैसी? सामान्य महापुरुषों में, महान् भक्तों में, साधकों और विभूतियों में भी स्वभाव की विशिष्ट शक्ति उनके चरित्र द्वारा व्यक्त होकर सामान्य मानव को पूर्णता की झांकी कराती है; मानव हृदय में दिव्य संभावनाओं के लिये श्रद्धा उत्पन्न करती है और यदि श्रद्धा हो तो उसे पुष्ट करती है।

(क्रमशः)

—अंबालाल पुराणी

---

यदि विज्ञान से किसी ऐसे महत्तर और पूर्णतर सत्य का अनुभव न होता हो जो उसके नीचे के लोकों में नहीं होता तो वहां पहुंचने का प्रयास करना भी व्यर्थ होता। प्रत्येक लोक के अपने अपने सत्य हैं। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे हैं जो ऊर्ध्वतर लोक में सत्यरूप में नहीं रहते। उदाहरणार्थ, वासना और अहंकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञान के सत्य हैं; यहां कोई अहंकाररहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीव-सा तामसिक यन्त्र मात्र है। पर इस लोक से जब हम ऊपर उठते हैं तब अहंकार और वासना की कोई सत्ता नहीं रहती, वहां वे असत् ही प्रतीत होते हैं और सदात्मा और सत्संकल्प को विकृत विपर्यस्त करनेका काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियोंका संग्राम यहांकी एक नित्य सत्य घटना है; पर ज्यों ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों त्यों इस की सत्यता कम होती जाती है और विज्ञानमय लोक में इस की कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्य रहते हैं, पर पूर्ण स्थिति में उनका स्वरूप, महत्त्व और स्थान बदल जाता है।

—'योगप्रदीप' पृ. १०-११

---

# दिव्य माता

माड़ी[1] ! तोजी[2] मूर्त्ति अय[3] मोहनगारी,[4]
एनी[5] अणुएंजी[6] रचना न्यारी। माड़ी ! ...

मीरा रूपे प्रगटी जग में,
त्रिलोकतारिणी[7] रेखा पग में;
लगेंती[8] प्राणथी प्यारी। माड़ी ! ...

विशाल दिल अय सागर जेडो[9],
उत्तम उदात्त मन पण[10] तेडो;[11]
किंय[12] विसरें मा ! तुं विसारी। माड़ी ! ...

दर्शन मात्रें पाप निवारे,
अधमाधम के[13] तुं उद्धारे;
शरणें थ्या सुविचारी। माड़ी ! ...

कल्पतरू सम इच्छित दाता,
दिव्य जीवनजी[14] मा ! तुं विधाता;
भक्तेंजी बलिहारी। माड़ी ! ...

[15]खंधे–पींधे–हलंधे–चलंधे,
स्मरिया तोके[16] सुमंधे वेंधे;
आशिष दे शिवकारी। माड़ी ! ...

—मगन बाबा (शिवजीभाई)

---

१. मैय्या २. तेरी ३. है ४. मनोमोहिनी ५. इसकी ६. अणुओं की ७. तीनों लोकों को तराने वाली ८. लगती है ९. जितना १०. भी ११. उतना १२. कैसे १३. को १४. जीवन की १५. खाते, पीते, चलते, फिरते १६. सोते बैठते

# तेरा जादू

लोग कुछ झूठ तो नहीं कहते मां, कि तू जादू जानती है, अपनी जादूभरी दृष्टि से दूसरों को अपने वश में कर लेती है।

संसार के थपेड़ों से टूटे-फूटे, जीर्ण-शीर्ण हृदय को लेकर जब वे तेरे पास उस चिर अभिलषित शान्ति की खोज में आते हैं; तब, मोह, मद, मत्सर, तृष्णा आदि लालसाओं में ग्रस्त उनके नेत्रों को, जो तेरा शान्त, स्निग्ध; निर्लेप दृष्टि-स्पर्श प्राप्त होता है; उससे एकबारगी तो उनकी प्रकाश को देखने में अनभ्यस्त आँखें चुँधिया जाती हैं। पर जब तेरा वह कोमल स्पर्श उन्हें उनके अन्तस्तल में जाकर छूता है तो उनको तेरे हरियाले प्रकाशमय मार्ग की एक झांकी मिल जाती है। कुछ गुप्त रस मिला है इतना भास होने लगता है। पर कहां से, कैसे यह उस समय कुछ नहीं जान पड़ता। इस लुकाछिपी के खेल में ही न जाने किस जादूके जोरसे उनके हृदय-तन्तु विविध सुरों में बज उठते हैं। उन के भ्रम और संशय तेरी वात्सल्यमयी मुस्कान में भस्म होने लगते हैं। उन के हृदयों की भग्न दीवारों का जीर्णोद्धार शुरू हो जाता है।

संसारसागर में डूबते उतराते, आशा-निराशा के पलनों में झूलते, मोह-प्रमाद के भंवरों में गोते खाते, हंसते-रोते जब वे तेरे आगे झोली पसारे आते हैं तो उनकी झोली में तू न जाने क्या भर देती है कि जिसको पाकर वे सब कुछ भूल जाते हैं। उनकी आंखोंके आगे से एक पर्दा सा हटता जान पड़ता है। तेरे नेत्रों के पारदर्शी शीशे में 'किसी' की झांकी पाकर वे निहाल हो जाते हैं, जिसको अब तक वे दूर और कल्पना की चीज समझते थे। तब बरबस उनके मुंह से निकल पड़ता है मां, तू अवश्य जादू जानती है।

पर कई ऐसे भी तेरे पास आते हैं जिनको इस बात का अभिमान है कि उनको संसार में सब कुछ प्राप्त है, धन, जन, मान, यश, प्रेम, आनन्द सभी कुछ लभ्य है। वे जब ऊंचा मस्तक और गर्वभरी मुस्कराहट लिए तेरे सम्मुख खड़े होते हैं, मानो चुनौती देते हैं कि हम भरपूर हैं हमें किस वस्तु की आवश्यकता है, तब उनकी ओर जो तेरी दया, प्रेम और वात्सल्य से भीगी दृष्टि उठती है उसे देख कर उस प्रेममयी जननी की दृष्टि का स्मरण हो आता है जो वह बालक को मिट्टी के घरौंदे को वास्तविक महल समझते देखकर उस पर डालती है। वह जानती है एक दिन इसे इन सब बातोंका बोध होगा ही। और फिर तू किस तरह पुचकार पुचकार कर धैर्यपूर्वक उनको उन सुखभोगों की वास्तविकता का अनुभव करा देती है। तब उनको भी कहना पड़ता है—इस रस का स्वाद तो हमने कभी चखा ही न था। सचमुच इस के बिना हमारे किसी भी सुखभोग में मजा ही न था।

अब तू ही बता मां, इस को लोग जादू न कहें तो क्या कहें।

कई ऐसे भी हैं जिन पर तेरा जादू अभी तक नहीं चला। तेरे पास आकर भी वे तेरी शान्त स्निग्ध गोदी में आश्रय ग्रहण नहीं कर सके। मोह और वासना की चक्की में दिन रात पिसने से उनका हृदय इतना कठोर और नीरस हो गया है कि वे तेरे जादूभरे स्पर्शको अनुभव ही नहीं कर पाते। वे चारों ओर भटकते हैं, झुंझलाते हैं, उन्हें तो कहीं कोई परिवर्तन नहीं दीख पड़ता। दुःख की बात तब होती है जब वे गर्वभरे स्वर में कह उठते हैं–'हूं! यह सब क्या है–केवल वहम है या कोरी कल्पना'। पर उनके लिए भी तेरे अन्दर से जो शुभ भावना दिन रात निकलती है, जिस प्रेम और करुणा का स्रोत निरन्तर बहता रहता है उससे क्या वे बचे रह सकेंगे इसमें सन्देह होता है।

पर जो कुछ भी हो मां, मेरे पर तो यह अपना जादू तू चलने दे, निरन्तर चलने दे, पूरे का पूरा चलने दे।

सचमुच यह तेरा जादू, ओ जादूगरनी मां, बड़ा प्यारा, बड़ा शीतल, बड़ा मनोरम है।

—लीलावती

---

**उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्**
**अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।**
**अथा वयमादित्य व्रते तव**
**अनागसो अदितये स्याम॥**

ऊपर नीचे और मध्य के वरुण! करो उन्मुक्त पाश।
बन्धनहीन रहें हम शाश्वत फैलाओ चहुं ओर प्रकाश॥

अन्न, प्राण, मानस के बन्धन तीनों से हम मुक्त बनें।
तेरे व्रत में रहें निरन्तर प्रभु! तुझ में अनुरक्त बनें॥

दिव्य ज्ञान में, दिव्य कर्म में, दिव्य छन्द अनुरूप बनें।
पूर्ण, अखण्डित, अदिति मात हे! तेरे हित निष्पाप बनें॥

**अनागसो अदितये स्याम**

दिव्य ज्ञान में, दिव्य कर्म में, दिव्य छन्द अनुरूप बनें।
पूर्ण, अखण्डित, अदिति मात हे! तेरे हित निष्पाप बनें॥

—विद्याव्रत

# श्रीअरविन्द क्या करते हैं ?

मुझसे या श्रीअरविन्द आश्रम के अन्य साधकों से जो पूछा जाता है— और प्रायः सभी प्रकार के लोगों द्वारा पूछा जाता है, वह है— यह तो बताइये कि श्रीअरविन्द के फिर कार्यक्षेत्र में आने की भी कोई सम्भावना है ? वे अपनी साधना खतम करके फिर मैदानमें कब आवेंगे ? वे अब कुछ काम क्यों नहीं करते ?

इस प्रश्न को सुनकर मैं प्रायः मनमें कहता हूँ, ( कभी-कभी बोल भी पड़ता हूं ) 'इस का मतलब तो यह हुआ कि मानो श्रीअरविन्द अब तक पांडिचेरी में निठल्ले पड़े हुए हैं या चैन-आराम से दिन बिता रहे हैं।' यह नहीं कि प्रश्नकर्ताओंका मतलब मैं नहीं समझता, पर मेरा ध्यान उस समय मनुष्य की उस दुर्बलता की तरफ आकृष्ट हो जाता है, जिस के कारण जिस प्रकारके कार्य को कुछ मनुष्य बड़ा जरूरी और उपयोगी समझ कर स्वयं कर रहे होते हैं, जब तक वैसे ही या उससे मिलते जुलते ही कार्य को दूसरे लोग भी न करते हों, तब तक वे मनुष्य उन दूसरे लोगों को निरर्थक काम करने वाले मूर्ख या समय खोने वाले निठल्ले समझते हैं। अतः यदि श्रीअरविन्द भी देश विदेश में दौरे करें, उनके जलूस निकलें, वे भाषण दें, सम्मेलनों का सभापतित्व करें और हर रोज़ नहीं तो दूसरे तीसरे दिन अपने वक्तव्य प्रकाशित कराते रहा करें, तभी उन लोगों का मन सन्तुष्ट होगा कि 'हां, श्रीअरविन्द जी कुछ काम कर रहे हैं।'

यह भी मैं जानता हूँ कि प्रायः उपर्युक्त प्रश्न लोग श्रीअरविन्द में श्रद्धा रखने या उनसे आशा लगाने के कारण ही प्रेम और आदर भाव से पूछते हैं, कभी-कभी उनमें उपकारसम्बन्धी अपने विचारों के कारण और श्रीअरविन्द को वैसा उपकार करता हुआ न देख कर एक प्रकार का रोष भी होता है, पर उनका वह रोष भी ईमानदारी का और हार्दिक होता है। इसलिए ऐसे लोगों के लिए ही मैं इस लेख द्वारा कुछ निवेदन करने का प्रयत्न करता हूं।

मेरे इतना कहने से तो कुछ बनेगा नहीं कि 'अकेले रहते हुए भी श्रीअरविन्द बहुत भारी काम कर रहे हैं।' मुझे उनका काम दिखाना होगा। तो पहले मैं यह कहना चाहता हूं कि वे एक ऐसे योगाश्रम को चला रहे हैं जिसमें लगभग चार सौ साधक (और साधिकायें) रहते हैं, जिनके कि खाने-पीने, रहने-सहनेकी, अर्थात् सब शारीरिक और भौतिक भी, मानसिक और आध्यात्मिक, आवश्यकताओं की पूर्ति की जिम्मेदारी भी उन्होंने अपने ऊपर स्वभावतः ले रखी है। मैं भी गुरुकुल कांगड़ी जैसी एक बड़ी संस्था का आचार्य के तौर पर संचालक रहा हूं। यदि मेरे जैसे किसी संस्था के चलाने वाले के बारे में यह कहा जा सकता है कि मैं गुरुकुल का आचार्य होने के कारण बड़ा काम कर रहा था ( यद्यपि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के प्रति मेरी वैसी उच्च आध्यात्मिक जिम्मेवारी नहीं थी—न आशा

की जाती थी और न मुझमें उसका सामर्थ्य था, जैसी बड़ी दु:साध्य, गहन और अवर्णनीय जिम्मेवारी श्रीअरविन्द अपने आश्रमवासी चार सौ साधकों की तथा अपने अन्य बाहर के बहुत से शिष्यों की भी उठाते हैं ) तो यह तो नहीं समझा जाना चाहिये कि वे कुछ काम नहीं कर रहे हैं। एक संस्था चलाना ही बहुत भारी काम है, यदि हम इस बात की तरफ न भी ध्यान दें कि वह संस्था अपने अति महान् उद्देश्य के कारण कितनी बड़ी और कितनी असाधारण है।

यह और बात है कि संस्था-संचालन के इस काम को वे बिना किसी बाहरी प्रयत्नके, चुपचाप स्वाभाविक रूपसे करते हैं। वें आश्रम खुलने के बाद लगभग १२ वर्ष तक अपने साधकों से भी बातचीत नहीं करते रहे हैं और अब भी कार्यवश उन के पास आने वाले ८, १० नियत साधकों के अतिरिक्त अन्य किसीसे बातचीत नहीं करते हैं, साल में चार दिन के सिवाय कभी अन्य किसी साधक को भी दर्शन तक नहीं देते और उन दर्शन के चारों अवसरों पर भी मौन ही रहते हैं। फिर भी देश विदेश से आये चार सौ साधक उनके चरणों में बैठकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर रहे हैं। उनको वहां कुछ मिल रहा है, तभी तो वे लोग वहां ठहरे हुए हैं—नहीं तो उन्हें आश्रम छोड़ कर चले जानेसे रोकने वाली अन्य कोई बात नहीं है। इन साधकों का श्रीअरविन्द से सम्बन्ध जोड़ने वाला यदि कोई भौतिक साधन प्रारम्भ के बारह वर्षों तक रहा है तो वह चिट्ठी पत्री था। हर एक साधक चिट्ठी-पत्री द्वारा श्रीअरविन्द से प्रतिदिन बातचीत कर सकता था। श्रीअरविन्द साधकों की चिट्ठियों का जो रोज़ जवाब देते थे, उसमें सुना है कि उनके रात्रि के ५-६ घंटे खर्च हो जाते थे। यदि हम उनका इतना ही, ५-६ घंटे लिखने का ही, काम देखें तो भी वह पूरा काम है; क्योंकि दिन में ५-६ घंटे काम करना प्रोफेसरी, अध्यापकी, संपादकी, अफसरी आदि बहुतसे ऊंचे पेशोंमें भी पूरा काम समझा जाता है। और मैं तो यह भी कहना चाहता हूं कि हम लोग तो दिन रात में ७-८ घंटे सोकर भी अपना समय काट लेते हैं, पर श्रीअरविन्द तो कुछ घंटे यौगिक विश्राम लेने के अतिरिक्त चौबीसों घंटे सोते भी नहीं। कुछ काम ही करते रहते हैं। तो वे हमारी अपेक्षा कितना अधिक काम अथक-रूपसे करते हैं, इसका कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

पिछले लगभग ६ वर्षों से अर्थात् सन् १९३८ के अन्तसे श्रीअरविन्दने वह चिट्ठी-पत्री भी प्रायः बन्द कर दी है। यह उन्हें बन्द करनी पड़ी है कार्य बढ़ जाने के कारण—आन्तरिक कार्य बढ़ जाने के कारण। वह आन्तरिक कार्य क्या है? वे सारा समय और क्या आन्तरिक तौर पर करते हैं? पाठक यह जानना चाहेंगे। पर इसका कुछ उत्तर देना कठिन है। जो कुछ कहा जा सकता है, वह यह है कि यदि केवल आश्रम की दृष्टि से देखें तो वे साधकों को उन्नत करने के लिए—उन की नानाविध कठिनाइयों में से उन्हें निकालने के लिए—अपनी आध्यात्मिक शक्ति की सहायता पहुंचाया करते हैं; विश्व की दृष्टिसे देखें तो वे इस पृथ्वी पर एक नयी सृष्टि रचने के काम में—भगवान् की दिव्य विज्ञानमयी शक्ति को अवतरित कर

जगत् का एक दिव्य रूपान्तर करने के बड़े ऊंचे और अति विशाल कार्य में तत्पर हैं। और इस के लिए उन्हें नानाविध कार्य करने होते हैं, बहुत से ऐसे कार्य भी जो इस हमारे बिलकुल भौतिक जगत् से संबन्ध रखते हैं और इस पर विविध परिणाम उत्पन्न करते हैं, पर इन बातों का यहां वर्णन करना निरर्थक-सा हो जाता है; क्योंकि केवल लेख द्वारा इस कथनको समझा सकना सम्भव नहीं है। इसके लिये आध्यात्मिक जगत् का कुछ अनुभव होना आवश्यक है।

यहां कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक गीत याद आता है। उन्होंने लिखा है— (यहां पर स्मरणशक्ति के आधार पर ही उसका भाव दिया जाता है)

'मां, तू आखिर मुझे मना क्यों करती है ? यही न कि मैं कलमें स्याही में डुबा-डुबा कर कागज़ पर फेर रहा हूँ।

'मां, मैं तो आज ही यह करने बैठा हूँ और एक ही कागज़ पर लकीरें कर रहा हूँ और तू मुझे मना कर रही है।

'लेकिन अम्मी, बताना तो जब पिताजी दिन भर बैठे-बैठे कागज़ों पर स्याही पोतते रहते हैं, इतने कागज़ खराब करते हैं, पुलन्दे पर पुलन्दे काले करते हैं तब तू कुछ नहीं कहती। तब तू शान्त बनी रहती है।

'मां, तू मुझे मना क्यों करती है ?'

बच्चा अपने द्वारा कागज़ खराब किये जानेको और अपने बाप द्वारा या किसी विद्वान् महापुरुष द्वारा कोई आवश्यक कागज़ या कविता या ग्रन्थ लिखे जानेको एक ही बात समझता है। इनमें कोई भेद नहीं समझता। जैसे बच्चा यह नहीं जान सकता कि लेखन-द्वारा वाणी-शक्ति का प्रसार होता है —किसी महापुरुष के काव्य और उनके ग्रन्थ-लेखन द्वारा सारे जगत् में प्रभाव उत्पन्न होता है, अतः वह उनके लिखने को भी अपने जैसा कागज़ खराब करना समझता है, वैसे ही हो सकता है कि हम लोग भी अध्यात्म-जगत् से अनभिज्ञ होने के कारण वहां की संभावनाओं और शक्तियों से अपरिचित होने से ही श्रीअरविन्द के बड़े भारी जगत्-व्यापी आध्यात्मिक कार्य को (जो वह अकेले से रह कर, जगत् से स्थूल सम्बन्ध तोड़ कर, स्थूल दृष्टि से कुछ भी कार्य न करते हुए कर रहे हैं, उसे) अपने आलस्य या व्यर्थ काल-यापन की तरह व्यर्थ में समय बरबाद करना या अकर्मण्यता समझ रहे हों। लेकिन जैसे वह बच्चा बड़े होकर लेखन का महत्त्व—उस पर भी किसी बड़े से बड़े लेखक के लेखन का महत्व—समझ सकता है, वैसे हम भी आध्यात्मिकतया विकसित होकर श्रीअरविन्द के कार्य की महत्ता को अनुभव कर सकेंगे।

एक बार एक गांवका आदमी हम पढ़े-लिखे लोगों की मज़ाक उड़ाता हुआ कहता था कि जब हम हल चलाते हैं तो हमें यह काम करता देख कर आप जैसे लोग जिन्होंने कभी हल नहीं चलाकर देखा, समझते हैं कि यह काम बड़ा आसान है, इसकी मूठ पर हाथ रखे रखो और दूसरे

हाथ से चाबुक से बैलों को हांकते जाओ बस। पर फाल को ज़मीन में ठीक दिशा में धँसाये रखने में जो बड़ा ज़ोर पड़ता है—जो श्रम ख़र्च होता है—उसे तुम लोग नहीं जानते, वह क़लम घिसना नहीं है। और वह ठीक कहता था। उसी तरह मैं कहता हूं कि जो लोग समझते हैं कि श्रीअरविन्द या उनके शिष्य ( या कोई सच्चे योगी ) किसी समय, आराम से, संसार के संघर्ष से जुदा, बन्द कमरे में या सुरक्षित आश्रम में रहते हैं, उनका जीवन कितना आसान है, वें यह नहीं जानते कि आन्तरिक जीवन में प्रविष्ट हो जाने पर ठीक दिशा में उसे चलाने के लिए बलात् उन पर दिन-रात कितना ज़ोर पड़ता है— कितनी शक्ति ख़र्च होती है—जिस से बहुत-से लोग घबरा जाते हैं ; वे यह नहीं जानते कि असल में सारी दुनिया अन्दर है। दुनिया का असली संघर्ष अन्दर है, अन्दर दुनिया की लड़ाई सीधी है, और बड़ी जबरदस्त है, अतः वे यह नहीं जानते कि श्रीअरविन्द एकान्त में रहते हुए भी एक बड़ी भारी लड़ाई लड़ रहे हैं, सारे जगत् के कल्याण के लिए, मनुष्य-जाति के दिव्य उत्थान के लिए दिन-रात लड़ाई के मैदान में हैं और विजय पर विजय कर रहे हैं। यदि यह ठीक है तो यह समझना भी अज्ञान है कि श्रीअरविन्द कुछ उपकार नहीं कर रहे हैं। असल में उपकार करने वाले तो परमेश्वर ही हैं, मनुष्य का तो केवल अहंकार ही है। पर यदि जिस द्वारा उपकार-कार्य होता है, उसे उपकार-कर्ता समझा जाय तो मैं जहां तक देखता हूँ, इस समय श्रीअरविन्द जिस विश्वव्यापी महाकल्याण के साधन बन रहे हैं, उसकी दृष्टि से उन-जैसा उपकारकर्त्ता दूसरा कोई नहीं।

तत्त्वज्ञान की गूढ़ बातें करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है, अतः तत्त्वविवेचन में बिना पड़े आम लोगों के अनुभव में आने योग्य भाषा में यह कहना चाहता हूं कि ज्यों-ज्यों अन्दर सूक्ष्मता में प्रवेश किया जाता है, त्यों-त्यों चंचलता ( जिसे हम ज़रूरी कर्मण्यता या बड़ा भारी काम समझते हैं ) घटती जाती है, पर सच्ची शक्ति, क्षमता, प्रभाव, बल बढ़ते जाते हैं। जैसे सब जगत् में अपार कर्म करता हुआ, सब ब्रह्माण्ड को प्रतिक्षण अपनी शक्ति से हिलाता हुआ परमेश्वर बिल्कुल शान्त, कुछ भी न करता हुआ 'न' के तुल्य दिखाई देता है, वैसे ही परमेश्वर के नजदीक पहुँचे हुए, जगत् के अन्तरात्मा के पास काम करने वाले अन्तःप्रविष्ट विरले योगी यद्यपि बड़ा भारी काम कर रहे होते हैं, पर उनका कर्म हम स्थूल पुरुषों को दृष्टि-गोचर नहीं होता। महात्मा गान्धी को तो कोई अकर्मण्यता, अपरोपकार-रतता का दोषी नहीं ठहरा सकता। पर ज्यों-ज्यों वे अधिक मौन रखते हैं त्यों-त्यों उनकी कार्यक्षमता, लेखों की शक्ति, आन्तरिक बल बढ़ता जाता है। यह उनके साथी भी अनुभव करते हैं, वे स्वयं तो कहते ही हैं। गांधीजी ने तो बहुत बार शान्ति और स्थिरता की महिमा गाई है। उन्होंने कहा है शान्ति ही प्रवृत्ति है, 'जो अपने आपको पत्थर की तरह बनाकर शान्त रह सकता है वह एक ही जगह बैठा हुआ सारे संसार को हिलाया करता है'। अपने विषय में भी वे कहा करते हैं कि ज्यों-ज्यों मेरी आन्तरशक्ति बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों मेरी बाहिरी क्रिया कम होती जायगी

तो हमें भी एक ऐसे महान् पुरुषके अनुभवकी सत्यता स्वीकार करनी चाहिये और उससे लाभ उठाना चाहिये जिन्हें हमने अपनी समझ में आने लायक बहुत भारी कार्य करते हुए साक्षात् देखा है और उनका भी अनुभव यही हुआ है।

और नहीं तो हम यह समझ सकते हैं कि जैसे भौतिक विज्ञान (सायंस) के वेत्ता लोग बीसियों वर्ष या जीवन भर किसी खोज में लगे रहते हैं और उनके विषय में यह नहीं समझा जाता कि वे निरर्थक समय खो रहे हैं, वैसे भौतिक विज्ञान से बहुत अधिक विशाल, बहुत अधिक सच्चे और बहुत अधिक शक्तिशाली आध्यात्मिक ज्ञान—असली विज्ञान—के भारी परीक्षणों में लगे हुए श्रीअरविन्द भी जगत् के लिए कुछ उपयोगी कार्य ही साध रहे हैं।

आशा है मेरे इस नम्र निवेदन से यह अनुमान लगाया जा सकेगा या इसका आभास मिल सकेगा कि श्रीअरविन्द जो तेतीस वर्षों से पांडिचेरी में बैठे हुए हैं और पिछले १७-१८ वर्षोंसे उनके चारों तरफ एक आश्रम भी बन गया है, वह सब कुछ काम हो रहा है, बेकार नहीं है।

—अभय

---

देख जगत् की रचना, आती याद बनाने वाले की।

जग सुषमा में, फूलों में, उनके साथी शूलों में
लता कुंज के भूलों में पत्र पुष्प फल मूलों में —

जग में नव नव सुन्दरता का खेल रचाने वाले की
देख जगत् की रचना, आती याद बनाने वाले की।

कोयल के कल कूजन का, केकी के शुभ नर्तन का
अभिनव चम्पक काननका, उनके विकसित आनन का —

पृथ्वीकी पाटीपर सुन्दर चित्र बनाने वाले की
देख जगत् की रचना, आती याद बनानेवाले की।

शुभ सुरभित सरिता तीरों से, उत्तुङ्ग अचल प्राचीरों से
झरनों के झरते नीरों से, मणियों से, सुन्दर हीरों से—

धूलि प्रस्तर कंकर से भो साज सजाने वाले की
देख जगत् की रचना, आती याद बनाने वाले की।

जीवन का उल्लास लिए, अन्दर की इक प्यास लिए
दुख सुख का आभास लिए सुखमय स्वर्णिम इतिहास लिये—

इस मानव की दुनियां को भी स्वर्ग बनाने वाले की
देख जगत् की रचना, आती याद बनाने वाले की।

—इन्दुमती

## .... .... क्या रखा है ?

"हा ! इतना कुछ करते हुए यह चिन्ता और यह अशान्ति कैसी ?" यह विचार लौट लौट कर रामनाथ के मन में आता। वह समझता था कि उसे दुनियाँ में कुछ भी नहीं लुभाता। वह खूब जानता था कि आखिर जिन बातों में दुनियां सुख मानती है उनमें सुख है ही कहाँ। भला मीठा खा लिया या फीका, नरम बिस्तरे पर सो लिये या सख्त ज़मीन पर, इसमें फर्क ही क्या पड़ता है। जिसने संसार में बहुत सुख भोगे हैं वह क्या किसी तरह से कुछ विशेष हो जाता है ? सभी अपनी जीवनयात्रा करते हैं और सभी की हो जाती हैं। खाने-पीने रहने-सहने की छोटी मोटी ऊंच नीच में क्या रखा है।

यह भाव रामनाथ के लिये इतना कहने सुनने का विषय न था जितना कि जीवन का। उसने अनेक कठोर अभ्यासों द्वारा इसे अपने अन्दर अंकित करने का प्रयत्न किया था। फिर परीक्षा पर परीक्षा लेकर अपने आपको जाँचा भी बहुत था। यह सब करते हुए भी उसकी अशान्ति उसे बराबर चैन न लेने देती थी और पता नहीं वह किस असमंजस में पड़ा रहता था।

यह रंगीन संसार जो सभी के लिये सुन्दर और लुभायमान है रामनाथ के लिये पता नहीं क्यों शुरू से कुछ अनुत्साह और अरुचिका विषय था। घर वालों तथा औरों के लिये वह सदा ही प्रश्न रहा। माता-पिता ने क्या क्या न किया, सिर्फ यह देखने के लिये कि उनका बेटा दूसरों के लड़कों जैसा पढ़-लिख कर बड़ा बनने की आकांक्षा वाला हो।

जब वह इंजीनियरिंग में पास हुआ था तब उसके पिता को बहुत ही प्रसन्नता हुई थी। उस समय रामनाथ के सारे विरोध भूल से गये थे। उसके पढ़ने न पढ़ने अथवा कुछ करने न करने के बारे में जो रगड़े झगड़े चलते रहते थे वे सब अब उनके लिये स्मृति मात्र थे। वह स्मृति भी तब रसमयी हो गयी थी। पिता दिल्लगी में कहते—"अरे रामनाथ तूने मौके मौके पर क्या क्या अड़ङ्गे नहीं लगाये। पहले तो तू कहता था मैं कालेज में भर्ती ही नहीं होता, इसमें क्या रखा है। फिर इंजीनियरिंग कालेज में जाने का तो तूने बेहद विरोध किया था। दो दिन अनशन कर दिया। याद है न ? बोल, अगर अब तू इंजीनियर बन गया है, इसमें यदि कुछ बुरा हुआ है तो यह पढ़ा-लिखा हमें वापस कर दे, हम वापस लेने को तैयार हैं। अपनी भूल के लिये प्रायश्चित्त करने में भी हमें संकोच नहीं।" रामनाथ प्रायः चुप पिता का ठट्ठा सुनता रहता, सिर्फ इतना सा ही कह देता, —"पढ़ा-लिखा वापस कैसे हो सकता है चलिये जो हो गया सो हो गया।"

"तुझे मेरे से शिकायत तो नहीं, मुझे इसी की बड़ी खुशी है। अच्छा अब कोई बढ़िया

सी नौकरी तलाश करनी चाहिये। रेलवे में एक जगह खाली हुई है तुम कल ही अर्ज़ी दे दो। तुम्हारे पास कुछ प्रशंसा-पत्र तो हैं न ?

"देखूंगा"।

पर हुआ वही जो होना था। रामनाथ ने नौकरी नहीं की। अर्ज़ी देने से ही साफ़ इन्कारी हो गया। पहले भी वह पिता के प्रस्तावों का विरोध करता था परन्तु अधिक आग्रह किये जाने पर मान जाता था। जैसे वह आयु में बड़ा हुआ उसका ज्ञान और समझदारी तो बढ़ी ही पर साथ विरोध करने की शक्ति भी बहुत बढ़ गई। जब उसने साफ़ कह दिया कि मैं यह नौकरी नहीं करूंगा तो पिता ने झुंझलाकर पूछा, "तो आखिर फिर करोगे क्या ?"

"देखी जायगी" बस यही उत्तर था।

किसी को कुछ समझ में नहीं आता था कि रामनाथ इंजीनियर-पद के प्रति ऐसा विरक्त क्यों है। औरों के मुँह में पानी भर आता था कि रेलवे में इंजीनियर होने पर कितना तो वेतन मिलता है, रहने को बढ़िया कोठी, फिर सफर के लिये फर्स्ट क्लास के पास। पर रामनाथ पर इन सब बातों का कुछ असर ही न था। वह इन सब सुभीतों को पहले से जानता था परन्तु वे मानो उसे कुछ हिलाते-डुलाते ही न थे। हार कर लोग उससे पूछते "आखिर इस नौकरी के न करने का कुछ कारण भी तो होगा ही।" रामनाथ ने केवल एक बार यह उत्तर दिया कि मुझे अंकों के जोड़ने-घटाने आदि के कामों से बहुत घबराहट होती है मैं इसे नहीं कर सकता।

"पर तुमने इंजीनियर की परीक्षा पास की है उसमें जितना गणित का काम था उससे तो यहाँ बहुत कम होगा।"

"पर वह तो तीन साल ही की बात थी, ज्यों ज्यों पूरी हो गई। सारी आयु के लिये यह झगड़ा कैसे मोल ले लूं ?"

पिता ने जिस जीत को तब अनुभव किया था जब रामनाथ ने इंजीनियरिंग की अंतिम परीक्षा को पास किया था वह शीघ्र ही हार में परिवर्तित हो गई। और उसके साथ पहले की अनेक हारें तो हारें थीं ही जीतें भी एकदम हारें बन गईं। परन्तु पिता के लिये पुत्र आशा-स्वरूप होता है वह पुत्र से हार खाने के बाद शीघ्र ही उसकी बात को स्वीकार कर फिर जीत वाली स्थिति में आ जाता है। पिता ने उदारभाव से रामनाथ से कह दिया "अच्छा बेटा, तुम जो करना चाहो हम उसी में खुश हैं।"

पिता की इस उदारता का फल यह हुआ कि उनके दूसरे प्रस्ताव के लिये रामनाथ बहुत अड़ा नहीं। उस का विवाह हो गया। परन्तु उस से भी माता-पिता की आशायें फलीभूत न हुईं। उसके अन्दर बड़ा बनने की आकाँक्षा न थी और न हुई। रामनाथ दो साल खाली रह कर अपने भाई की कपड़े की दूकान पर बैठने लगा।

(२)

एक रुड़की पास-शुदा इंजीनियर साधारण कपड़े की दूकान पर बैठा हुआ, गज़ पकड़े मलमल-लट्ठा काट काट देते, लोगों के लिये आश्चर्य की बात तो थी ही। और नहीं तो उस इंजीनियर को दूकान पर बैठे देखने के लिये ही बहुतेरे वहां आते जाते। उस दूकान की आमदोरफ्त बढ़ने से बिक्री बढ़ने लगी। फिर सब तमाशे की गरज़ से ही नहीं आते थे। कई लोग धीरे धीरे रामनाथ के विरक्त भाव से प्रभावित होने लगे। कई बार दूकान पर बड़े मजे की बात छिड़ जाती। शहर में बाजार की चहल-पहल के बीच ही रामनाथ कहते सुने जाते "आखिर यहां किसी में कुछ रखा नहीं, सब व्यवहार की बातें हैं, करनी पड़ती हैं इस वास्ते करते हैं।"

दूकान पर कभी मनचले भी उन से टक्कर लेने आ जाया करते। एक बार एक आगन्तुक ने बड़े आग्रह से उन से कहा, "यह संसार तो ऐसा ही है इसमें कहीं भी कुछ नहीं रखा, पर इसमें क्या कहीं भी कुछ प्राप्त करने योग्य है या नहीं ?"

रामनाथ ने अपने सामान्य उदासीन भाव में उत्तर दिया, "कौन जानता है क्या पाने योग्य है ? एक परमात्मा का नाम ही लोग ऐसा बताते आये हैं।

जैसे समय बीतता गया वैसे ही रामनाथ जी का वैराग्य-भाव भी बढ़ता गया। सामान्यतया वह दूकान का काम अच्छा निभाते थे। बस इन्हीं अर्थों में कि मशीन की तरह वह कुछ घण्टे वहां बैठते और उस समय जो गाहक आते उन्हें माल बेच देते। इस से अधिक रुचि काम में उन्होंने कभी दिखलाई ही नहीं।

उनका बैठना-उठना चलना-फिरना अपने ही ढंग का था। दूकान के बीच गद्दी पर बैठे हुए हैं पर मानो ऐसे सकुचाये हुए से कि दूकान से उन्हें शरम आ रही है। कुछ आटंक से या मानो दूकान से दबाये या सिकोड़े हुए हैं। बाज़ार में आते जाते की उनकी दशा अपूर्व थी। ठीक चौराहे पर जहां टांगे, गाड़ी और आदमियोंकी खूब भीड़ होती रामनाथ महोदय बिलकुल बेलाग देखे जाते। वह किसी की तरफ देखते ही नहीं, मानो उन्हें किसी से क्या लेना देना है। कहीं कुछ उन्हें देखने योग्य ही प्रतीत नहीं होता था।

रामनाथ जी का वैराग्य का अभ्यास स्वभाव से बढ़कर एक प्रयत्न की वस्तु बनने लगा। वह समालोचक भाव में देखने लगे कि वास्तव में उन्हें संसार के सुख-दुख की परवाह नहीं। पहले पहल ध्यान खाने पीने पर गया। वह बारबार पड़तालते क्या मैं भोज्य पदार्थों के स्वादका सुख मानता हूं। उन्हें मालूम पड़ा हां मानता हूं। स्वाद की भावना को जीतने के लिए उन्होंने जो जो किया वह सब कुछ बताना संभव नहीं। उपवास किये, कभी बिना नमक के खाया, कभी बिना मीठे के कभी केवल फल और कभी व्यञ्जनों में राख मिला कर। उनकी स्त्री ने इस सब को जिस पातिव्रत्य भाव से निभाया वह निश्चित प्रशंसा की चीज़ थी।

इसी प्रकार बारी बारी से उन्होंने दूसरी इन्द्रियों का पड़तालना शुरू किया। हरबार वह यही अनुभव करते कि संसार के प्रति उनका वैराग्य काफी नहीं। बड़े मौलिक उपायों द्वारा फिर वे इस अभ्यास को बढ़ाते।

अन्त में उनका ध्यान एक नयी दिशा में गया। उन्होंने सोचा मनुष्यों को किसी एक घर के ही पराधीन क्यों रहना चाहिये। वैराग्य की यह भी मांग है कि व्यक्ति को घर की परवाह न हो। क्यों वह किसी एक निश्चित छत के नीचे आकर सोवें। जहां रात पड़ जावे सहज में वहीं क्यों न सो जावे। अब इस अभ्यास की बारी आई। रामनाथ जी ने एक बड़ा ही मौलिक उपाय निकाला। उन्होंने सोचा कि महीने में एक बार वह शाम को दूकान से उठ कर कहीं बाजार, बाग या घाट पर चले जाया करेंगे और लौट कर घर नहीं आयेंगे। जो जैसे बीता करेगी उसे सह लेंगे। दो चार बार ऐसा मौका हुआ कि उन्हें कोई मिलने जुलने वाले घर ले गये। उन से बात सुनते रहे, खाना खिलाया, देर हो जाने पर सोने का भी वहीं प्रबन्ध कर दिया। विरक्त करके प्रसिद्ध तो हो ही गये थे, साधारणतया खयाल भी न आता कि घर में इनकी स्त्री प्रतीक्षा करती होगी। पर एक बार जाड़े के दिन थे वह बाग की बैंच पर ही बैठे रह गये। कोई मित्र उस रास्ते से भी न आया। उन्होंने अपना व्रत निभाया, परन्तु प्रातः शरीर की दशा जो थी वह वे ही जानते थे। घर लौट कर चाय पी, दो घण्टे रजाई लेकर सोये फिर शरीर जरा हिलने लायक हुआ। एक और दिन पहरे वाले सिपाहियों ने उन्हें शक में पकड़ हवालात में बन्द कर दिया। प्रातः वे घर न लौटे तो खोज हुई। भाई ने जाकर उन्हें हवालात से बड़ी मुश्किल से छुड़ाया। उनकी तरफ से यह भरोसा दिया कि वे अब आगे को इस तरह रात में सड़क या बाग में नहीं बैठे रहेंगे। परन्तु रामनाथ जी के मन में इससे कुछ भय नहीं हुआ और वे अपने संकल्प में ज्यों के त्यों बने रहे।

## ( ३ )

यह हमें नहीं भूलना होगा कि रामनाथ जी गृहस्थी थे। जिस भी अवस्था में हो उन्होंने अपने पिता का विवाह का प्रस्ताव मान लिया था। शायद यह उन्होंने रेलवे की नौकरी से इन्कार करने की कमी को पूरा करने के लिये किया था।

उनकी स्त्री शीलादेवी यदि अपने नाम के गुणों को चरितार्थ न कर रही होती तो उनके ढङ्ग उसके लिए असह्य हो जाते। वैराग्य और गृहस्थ तो शत्रु माने जाते हैं। स्त्री अपने पति को अच्छे अच्छे खाने बना तथा और दस प्रकार के सुख पहुँचा कर ही अपने आप को कृतार्थ समझती है। ठीक वही बातें रामनाथ जी के लिये झूठे प्रलोभन थीं। उन्हीं की ही परवाह करना उन्हें छोड़ना था। उनका और उनकी स्त्री का विरोध तो स्वाभाविक हो गया। परन्तु शीलादेवी असाधारण पुराने आदर्श की हिन्दू स्त्री थी। पति की इच्छा के अनुसार चलने को ही अपना धर्म मानती थी। इससे

वह पति के सब नये व अनोखे प्रस्तावों को चुपचाप स्वीकार कर लेती थी। फिर भी आन्तरिक अस्वीकृति कभी कभी प्रकट हो ही जाती और इन दोनों के बीच कुछ गम्भीर बातचीत हो जाती। उनकी स्त्री के उलहनों का भाव हमेशा एक ही होता, रूप बेशक अनेक होते थे।

वह कहती कि आपके यह सब अभ्यास मैं बुरे नहीं कहती किन्तु कुछ तो घरबार का भी ध्यान रखना चाहिये।

"रखता तो हूँ।"

"यह भी भला कुछ खयाल रखना है। आपका घर लौटने का ठीक नहीं, बीमारी की कुछ परवाह नहीं। घरवालों के सुख दुख आपके लिये कुछ चीज ही नहीं हैं।"

"सब ठीक है यों ही काम चल जाता है, संसार में मनुष्य क्या करे धरें। तुम भी किसी बात की परवाह मत किया करो।"

रामनाथजी की अपनी लापरवाही शीला के लिये काफी थी। जब उसे भी लापरवाह हो जाने का उपदेश मिलता तो वह अन्दर ही बड़ी दुःखी होती और इसके उत्तर में उसके न चाहते हुए भी यह शब्द निकल जाते 'हा, मैं भी आप जैसी हो जाऊं तो यह ही नहीं कि घर के बच्चे माँ बाप के होते यतीम बन जांय बल्कि आपके ये सब अभ्यास भी चलने मुश्किल हो जांय। अभी उस दिन जब आप रात जाड़े में बाग में पड़े रहे तो प्रातः घर आकर चाय पीने की इच्छा हुई थी या नहीं। फिर रजाई की गरमाई में सुख की नींद की जरूरत भी पड़ी ही थी न ?'

रामनाथ जी को यह शब्द कहीं गहरे चुभ जाया करते और वे प्रत्यक्षतः अपने सहज उदासीन भाव में टाल कर घर से बाहर चले जाते।

## (४)

एक मानसिक स्थिति में मनुष्य के साथ जो अच्छी बुरी घटना होती है वह सब उसके अपने भाव को ही उत्तरोत्तर परिवर्धित और पूरा करने वाली होती है। जो अन्य को विरोधी बातें दीखती हैं वह उस व्यक्ति के लिये परीक्षा के रूप में उपस्थित होती हैं और वह उन से अधिक बल और शक्ति प्राप्त करता है। घर पर स्त्री की कभी कुछ कहा-सुनी अथवा बाहर की समालोचना रामनाथ जी को अपने वैराग्य-अभ्यास में उत्तरोत्तर दृढ़ करती जाती। वह अधिकाधिक गम्भीरता से पड़ताल करते कि उन में कहीं पर भी संसार के प्रति राग-भाव हो तो उसे निकाल फेंकें।

इसी प्रकार दस साल बीत गये। रामनाथ जी विरक्त भाव के लिये काफी प्रसिद्ध भी हो गये। उनके पास अच्छे अच्छे साधु भी मिलने मिलाने को चले आते। धीरे धीरे उनके साथ वैराग्य-वाद एक निश्चित सिद्धान्त बन गया, जिस का वह बल-पूर्वक प्रचार किया करते। वह सिद्धान्त जीवन के अभ्यास से परिपुष्ट होने से अधिक प्रभावशाली हो चुका था। अनेक बार रामनाथ जी दो-

चार, पांच-दस अथवा पन्द्रह-बीस सुनने वालों को भी समझाते देखे जाते। उनके सिद्धान्त का मूल विचार वही था जो बौद्ध आचार्यों ने बड़ी विद्वत्ता से क्षणिकवाद के नाम से प्रतिपादित किया है। परन्तु उन के लिये वह विचार अपनी रचना थी। वह कहते संवेदन की सत्ता क्षणिक है, रूप-रसादि की चेतना जो कि बाह्य पदार्थों के इन्द्रियों पर आघात पड़ने से पैदा होती है, अत्यन्त अल्प-कालिक होती है। उसमें, इस कारण, सुख कहां ? वह चेतना ही त्याज्य है। यह उनके वैराग्यवाद का, जो दृष्टांतों की विभिन्नता और विशिष्टता से विशाल चीज़ बन चुका था, मूल दार्शनिक अंश था। रामनाथ जी इस सिद्धान्त को बड़े विजयी भाव में उपस्थित किया करते। वास्तव में उनकी उदासीनता के व्याप्त आकाश में यह एक नया तारा निकला था। वैराग्य-वाद का निरूपण करते समय जो उत्साह उनमें देखने में आता वह न पहले कभी देखा गया था और न उस समय ही सामान्यतया देखने में आता था। उनका सारा जीवन 'संसार कुछ नहीं है' इस ऋणात्मक विचार की प्रतिमूर्त्ति था। उसमें अब ऐसा प्रतीत होता था मानो 'वैराग्यवाद का निरूपण' एक धनात्मक भाव पैदा हो गया। समुद्र की असीम अविभिन्नता में एक हरा-भरा द्वीप प्रकट हो गया था।

परन्तु यह धनात्मक भाव की उत्साहपूर्ण घड़ियां जब समाप्त होतीं तो रामनाथ जी फिर अपने सहज उदासीन भाव को प्राप्त हो जाते। बल्कि जितनी यह उत्साह की घड़ियां चढ़ी हुई होतीं उतनी उनकी सामान्य स्थिति ज्यादा गिरी हुई होती। वे वास्तव में चिन्ताग्रस्त हो जाते और बड़ी तीव्र अन्तर-वेदना में जानने का यत्न करते कि आखिर क्या कारण है कि उन्हें अभी तक शान्ति प्राप्त नहीं है। कौन सी तृष्णा शेष है जो इतनी गंभीर चिन्ता पैदा कर देती है। वे अपने वैराग्य-भाव से सन्तुष्ट थे इसी कारण उन्हें अपनी अशान्ति समझ में नहीं आती थी।

(५)

यह जिज्ञासा उग्र रूप धारण करती चली गई। उनके लिये अपनी अशान्ति असह्य हो गई। हर क्षण ही वे अपनी चिन्ता का कारण अन्दर ही अन्दर ढूंढा करते। सामान्य व्यवहार में भी उनकी यह अन्तर-व्यस्तता प्रत्यक्ष ही दिखाई देने लगी। दूकान पर बैठे हुए हैं, ग्राहक माँग कुछ रहा है वे उसे दिखा कुछ रहे हैं। ग़रज़े के ऐसी अनेक उलटी-सीधी बातें उनके व्यवहार में दिखाई देने लगीं। दूकान की निन्दा होने लगी। रामनाथ जी को कोई कोई तो अब सिद्ध समझने लगा परन्तु ज्यादा यही कहते कि उनका दिमाग़ फिर गया है। उनके घरवालों की चिन्ता बहुत बढ़ गई। एक दिन तो विशेष संकट वाली स्थिति बन गई। दूकान पर बैठे बैठे रामनाथ एकदम अचेत से गिर पड़े। आध घन्टे तक बेसुध से पड़े रहे।

पर इन कष्टों से रामनाथ जी को भय न था। उनकी जिज्ञासा पूरी होगी और उन्हें शान्ति प्राप्त होगी, इस पर उन्हें पूरा विश्वास था।

एक दिन तीसरे पहरका समय था। रामनाथ दूकान पर बैठे थे। उस समय कोई ग्राहक

नहीं था। एक नौकर दूकान के अन्दर कोने में बैठा हुआ कुछ खुले हुए थानों को लपेट रहा था। रामनाथ जी की दृष्टि एकदम कहीं दूर अदृष्ट स्थान पर गड़ सी गई। वे कुछ देख नहीं रहे थे, बस ऐसा मालूम पड़ता था पता नहीं कहाँ कहीं बहुत दूर शायद कुछ देख रहे हैं। सारा ध्यान ही उठकर कहीं दूर देश में जा गड़ा था। उस अपूर्व एकाग्रताकी घड़ी में रामनाथजी ने कुछ अद्भुत अनुभव किया। चमत्कृत से हो गये। एक नये प्रकाश से जैसे हृदय आलोकित हो गया हो। उन्होंने अपने अन्दर से ही एक भावना को उदय होते देखा। वह थी—'तुम संसार से वैराग्यवान् नहीं, भयभीत हो। इसी कारण उससे सदा घृणा की है, उसे तिरस्कृत किया है, उससे बदला लेना चाहा है। जिसे तुम अपना प्रभु और परमात्मा कहते हो कभी उससे प्रेम तो नहीं किया'।

यह विचार रामनाथ जी के लिए उलटा थप्पड़ था। परन्तु उनके मन में उस समय कितना आनन्द था। वे भूल रहे थे, और वे इस अनुभूति के रस में हिलोरे ले रहे थे। अभी वे इस प्रसन्नता के प्रवाह में ही बह रहे थे कि उनके सामने एक बचपन का चिरविस्मृत दृश्य जाग्रत हुआ। घर के सामने गली में वे आस-पड़ोस के तीन चार बच्चों के साथ खेल रहे हैं। एक खिलौने पर झगड़ा हो जाता है। दूसरा लड़का एक ज़ोर का झपट्टा मार खिलौने को उनसे छीन लेता है। वह ताकते रह जाते हैं। फिर पीछे को हट घर की दीवार के साथ लगकर भय और क्रोध की तीव्र दृष्टि से उन सब लड़कों की ओर देखते हैं और कहते हैं, 'जाओ, मुझे यह खिलौना क्या करना है, रद्दी सा खिलौना है'।

रामनाथ जी इस दृश्य से बहुत चकित हुए। उस प्रसन्नता में अब एक प्रश्न सम्मिलित हो गया—इस चित्र का उस अनुभूति के साथ सम्बन्ध क्या ? क्या यह उसके लिये प्रमाण है ?

इतने में एक गाहक दूकान पर आधमका और उसने रामनाथ जी की इस अन्तर चेतना को हठात् भंग कर दिया। रामनाथ जी ने अपने अन्दर-बाहर झाँकते हुए ग्राहक को कपड़ा दिया और फिर उसी अन्दर के प्रसन्नता-प्रवाह में सहज ही बहने लगे। बार बार भाव उठता तूने प्रेम नहीं किया घृणा की,– प्रेम ! प्रेम !! प्रेम !!! प्रेम का एक नया राग सा शुरू हो गया मालूम पड़ता था। रात हो गई फिर दिन हुआ, वह राग ऐक मधुर ध्वनि के समान सदा सुनाई दे रहा था। सप्ताह बीत गया वह अजपा जाप बन की सुगन्धि की तरह अनन्त में फैला हुआ मालूम पड़ता था।

वैराग्य और त्याग उनके लिये अब पराये शब्द हो गये। छोड़ना नहीं, प्राप्त करना है। संसार से हटने का विचार नहीं, प्रभु की ही ओर बढ़ने का एकमात्र भाव था। शीघ्र ही उनके बाह्य जीवन में भी नयी बातें देखने में आने लगीं। उनकी स्त्री ने उन्हें सब से पहले अनुभव किया। अन्य लोगों को भी जानने में देर नहीं लगी। क्योंकि उनका अन्दर-बाहर का अजपा-जाप मन्त्र यही हो गया—प्रेम, अपने प्रभु से प्रेम, प्रभु के संसार से प्रेम, संसार के प्राणियों से प्रेम। प्रेम ! प्रेम !! प्रेम !!!

—इन्द्रसेन

# योग-विचार

भारत अपनी अध्यात्म-जिज्ञासा के लिये सारे संसार में विशेषता रखता है। अध्यात्म-ज्ञान ही संसार को इसकी सर्वोत्तम देन है। परन्तु निश्चित ही भारत के लम्बे इतिहास में अनेक उतार चढ़ाव आये और आध्यात्मिक खोज भी नित्य एक ही स्वरूप में नहीं रही। अनेक बार अनेक प्रकार के दूसरे भाव आ आ कर भारतीय आत्मा पर अपना प्रभुत्व जमाते रहे। जड़वाद, संदेहवाद, शुष्क बुद्धिवाद, इन्द्रियसुखवाद, मान-मर्य्यादावाद तथा परम्परावाद हमेशा ही मानवात्मा को अपने अपने अनुभव दिया करते हैं। अध्यात्म-जिज्ञासा की जो स्थिति भारत में शायद उपनिषदों के समय में थी वह अन्य किसी समय में नहीं हुई। कम से कम अब कई शताब्दियों से भारतीय जीवन अधिकांश परम्परा-शैली से ही चला आ रहा है। वास्तव में समूचा जीवन ही इसी ढङ्ग पर पड़ा हुआ है। इस का यह अर्थ नहीं कि इस समय में महापुरुष नहीं हुए अथवा भारतीय मानव ने कभी आत्मविश्वासपूर्वक अग्रगामी भाव में जीवन के प्रश्न का अनुसरण नहीं किया। निश्चित ही कुछ नई रचना हुई है। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि जीवन का प्रधान प्रवाह दृष्टान्त और प्रमाण का अनुगामी रहा है। हमारी दृष्टि विशेष कर भूत को देखती रही है। इस के विपरीत ऊर्ध्वगामी चेतना सदा ऊपर और आगे को देखती है। पीछे को केवल गौण रूप से, कुछ सहायता और पथप्रदर्शन के लिये ही घूमा करती है। पूर्व दृष्टान्तों की वह नकल नहीं करती। उन्हें वह अपने भावी अनुभव के निश्चित आश्वासन के रूप में ही ले सकती है। इस प्रकार पूर्व इतिहास के महान् दृष्टान्तों और अनुभवों का हर प्रकार से मान करते हुए वह ऊर्ध्वगामी चेतना, वास्तव में, उन्हें अन्त में अपने अनुभव में चरितार्थ करना चाहेगी और तभी अपनी जिज्ञासा के पूरे सन्तोष को प्राप्त करेगी।

गत शताब्दी से ही भारतीय जीवन में एक विशेष जागृति पैदा हुई है। इस के कारण, बाह्य और आन्तरिक, मिले जुले हैं। परन्तु हम देखते हैं कि एक एक करके अनेक नेता और महापुरुष पैदा होते हैं जो विशेष रूपसे जनतासे परम्परा-अनुसारिणी वृत्ति को छोड़नेके लिये अनुरोध करते हैं और अपनी नई परिस्थिति के लिए नये उपाय ढूंढने का आग्रह करते हैं। इस नयी आत्म-विश्वास और मौलिकता की भावना के साथ ही भारत की नई आत्मा का जन्म होता है। यही भारत का नया जन्म (Renaissance) है।

योरुप में ५०० ई. से १५०० ई. तक एक गहरा परम्परा का राज्य रहा था। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांसिस बेकन( Francis Bacon )योरुप में आधुनिक युग के प्रवर्तक बने। उन की शिक्षा का सर्वप्रथम आग्रह यह था कि मनुष्य को अपनी बुद्धि और अनुभव में विश्वास

होना चाहिये। इसके बिना वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। यदि वह प्रमाण और दृष्टान्तके अनुसार चलना ही अपना ध्येय और लक्ष्य समझेगा तो वह अपने पूर्वजों की विकृत नकल के सिवाय अधिक कुछ नहीं बन सकेगा। बेकन की शिक्षा के साथ साथ विज्ञान का उत्थान हुआ। स्वतंत्र निरीक्षण और अनुभव की भावना बढ़ने और फैलने लगी। परिणाम हमारे सामने है, विज्ञान का विस्तृत प्रभुत्व। उस के दुरुपयोगसे हमें सांस्कृतिक दुष्परिणाम ज़रूर भोगने पड़ रहे हैं। परन्तु विज्ञान मानव इतिहास की निस्संदेह एक ओजस्वी विजय है और इसके सम्पादन करने में योरुप ने पिछले ४०० वर्षों में जो त्याग, तपस्या और पुरुषार्थ किया है वह सर्वथा महान् है। पर यह सब सम्भव तब हुआ जब मानव निज बुद्धि और अनुभव पर अवलम्बन कर सत्य की खोज में प्रवृत्त हुआ। आध्यात्मिक क्षेत्र में रूढ़ि भाव और परम्परा-वृत्ति तो और भी सहज बन जाती है। आध्यात्मिक क्षेत्र का नेता प्रायः ऐसे अनुभवस्तर की बात बतलाता है जो सामान्य व्यक्ति के अनुभव से बहुत ऊंचा होता है इसी कारण ही इस क्षेत्र में श्रद्धा की विशेष सार्थकता है। परन्तु यदि मनुष्य उस श्रद्धा को ज्ञान में परिणत करने के लिये प्रयत्नशील न रहे तो वही श्रद्धा आसानी से अपने विकृत स्वरूपों को प्राप्त होती है।

यह ज़रूर ठीक है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रद्धा भाव के साथ साथ रूढ़ि भाव अधिक सुगमता से आ जाता है फिर भी देश का सांस्कृतिक इतिहास साफ बतलाता है कि यहां आध्यात्मिक सत्य के जिज्ञासुओं ने उस की उसी स्वतन्त्र भाव से खोज की है जैसे वर्तमान योरुप में वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रकृति की। इसका प्रमाण देश का विशाल आध्यात्मिक और धार्मिक साहित्य तथा जीवन और उनकी अनेक धारायें हैं। साधना और योग की शैलियों का वास्तव में कुछ हिसाब ही नहीं। आज हम इन्हें अधिकांश में इतिहास के स्मारक चिह्नों के रूप में चला रहे हैं। परन्तु जब आध्यात्मिक जीवन की पुनः जागृति होगी तो हमें इन सब योगशैलियों के तथ्यों को अनुभव में चरितार्थ कर के देखना होगा। इन सब के प्रति अथवा इन से भी अधिक, अक्षुण्ण और असीम आध्यात्मिक विश्व-सत्ता के प्रति स्वतन्त्र शुद्ध जिज्ञासा और गवेषणा के भाव में प्रवृत्त होना होगा।

वर्तमान समय में श्री रामकृष्ण परमहंस आध्यात्मिक जगत् के अपूर्व जिज्ञासु हुए हैं। उन्होंने विज्ञान का अध्ययन नहीं किया था, परन्तु उनकी स्वतन्त्र गवेषणा की भावना बड़ी ओजस्वी थी। उनकी शुद्ध सच्चे भाव से भिन्न भिन्न धर्मों तथा साधनाक्रमों के अपने अपने आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति अपूर्व मौलिक प्रेरणा तथा रचना थी। उन्होंने देखा कि उससे उनका अपना आध्यात्मिक अनुभव अधिक सम्पन्न, विशाल तथा विस्तृत हुआ। वहां 'मेरे' 'तेरे' धर्म या साधनाशैली का प्रश्न नहीं था। वहां असीम सत्य के लिये असीम श्रद्धा थी और उस असीम श्रद्धा के साथ उसके प्राप्त करने के लिये असीम साहस और पुरुषार्थ था।

श्रीअरविन्द का आध्यात्मिक सत्य के प्रति दृष्टिकोण निश्चित रूप से स्वतन्त्र और

परीक्षणात्मक है। वे आधुनिक विज्ञान की भावना से विश्वात्मा के परम सत्य के प्रति प्रवृत्त होते हैं और उसके विशाल और विस्तृत जगतों के कोने कोने को खोजना और अनुभव में लाना उनका ध्येय रहा है। इसी दृष्टिकोण का ही फल है जो वह आज हमें बतलाते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव अनेक प्रकार और श्रेणियों के होते हैं। उन्हें जानने से महापुरुषों के अनुभवों में भेद के स्थान पर हम परस्पर सम्बन्ध को देखने लगेंगे। फिर हर एक अनुभव की अपनी मौलिकता होती है। उनका कहना है कि आध्यात्मिक सत्य संसार का परम सत्य है और वह सारी सत्ता को अधिकृत करता है। उस के एकत्व में अनन्त अनेकत्व और मौलिकता को यथार्थ स्थान प्राप्त है। असीम आध्यात्मिक सत्य में नित्य नई खोज और नई सिद्धि की भी गुञ्जाइश है। हमारे वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक अनुभव में बड़े ऊंचे शिखर को प्राप्त किया था। शायद वह शिखर पीछे कभी कम ही छुआ भी गया। परन्तु निश्चित ही वह आध्यात्मिक सत्य की सीमा नहीं है और न ही मनुष्य के पुरुषार्थ की हद है। सत्य अधिक विस्तृत और गम्भीर है और खोज अधिकाधिक दूर तक जा सकती है।

यह दृष्टिकोण श्रीअरविन्द के ग्रन्थों में सदा मिलता है। उनके योगविषयक महान् ग्रन्थ का नाम ही 'योग-समन्वय (Synthesis of Yoga)' है। उसमें उन्होंने अनेक योग-शैलियों के तथ्यों को बतलाया है और अन्त में उस योग-शैली का निरूपण किया है जो उनकी अपनी सारी खोज का निष्कर्ष है। उस खोज को वे स्वयं "Spiritual adventure" कहते हैं। उनका पूरा वाक्य है "Our Yoga is not a retreading of old walks, but a spiritual adventure." हमारा योग पुराने मार्गों का अनुसरण नहीं है, वरन् एक आध्यात्मिक साहसकार्य है।

'अदिति' की पुस्तिकाओं में हमारा उद्देश्य इसी स्वतन्त्र गवेषणा भाव वाले दृष्टिकोण को अथवा श्रीअरविन्द की योग-पद्धति को उपस्थित करना है। श्रीअरविन्द की योग-पद्धति में हमारी विशेष रुचि है ही। वास्तव में 'अदिति' का जन्म ही इस पद्धतिविषयक अनुभव से हुआ था। परन्तु योग-विचार अर्थात् आध्यात्मिक जीवन तथा योगविषयक स्वतन्त्र खोज-पूर्ण भाव इस दृष्टिकोण का आवश्यक अंग है। इस वास्ते अदिति से यदि जिज्ञासुओं में योग-विचार प्रेरित हो तो उसमें हमें बड़ी प्रसन्नता है।

अभी हाल में ही श्री स्वामी ओमानन्द जी तीर्थके प्रारंभिक तीन धारावाही लेख 'पातञ्जल योग और श्रीअरविन्द की योगपद्धति' इस शीर्षक से 'कल्पवृक्ष' में देखने में आये। वह श्री आचार्य अभयदेव जी के उसी विषयके 'अदिति' में प्रकाशित दो लेखोंसे प्रेरित हुए थे। वास्तव में उन तीन अथवा इन दो लेखों का अध्ययन चित्त को गम्भीर प्रसन्नता देता है। वह दृष्टान्त है इस बात का कि जिज्ञासुओं के बीच में विचार-विनिमय किस शैली से होता है। भाव कितना नम्र, सत्य-खोजी और

सम्भवतः अहंकार-रहित होता है। हमें विश्वास है हर पाठकको उनके अध्ययनसे आनन्द होगा अथवा उस विषय में वह अपने ज्ञान और अनुभव को अधिकाधिक बढ़ाने का यत्न करेंगे।

इसी, श्रीअरविन्दपद्धति और अन्य योग-शैलियों के, प्रश्न पर श्रीअरविन्द के अपने लिखे हुए कुछ पत्र हैं। यह उन्होंने आश्रम के साधकों को उनकी शंका-समाधान के लिए लिखे थे। वे इसी पुस्तिका में प्रकाशित हैं। वे इस विषय पर अपना ही प्रकाश डालेंगे।

—इन्द्रसेन

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय बारकोटा
पुस्तकालय
23 August 1913
श्री. सं. १९७० भाद्र शुक्ल २ बुधवार

## लेखक-परिचय

**श्री मगनबावा जी—**

आप अत्यन्त दर्शनीय, उत्तर तथा दक्षिण में भक्तजनों के प्रिय, अध्यात्मरस पीने पिलाने वाले, विशिष्ट महानुभाव हैं। प्रसन्नता और आनन्दका अभ्यास आपको बहुत ही प्यारा है। इसी कारण आपको अपना नाम 'मगनबावा' अधिक प्रिय है, यद्यपि गुजरात में आप 'शिवजीभाई' के नाम से पुकारे जाते हैं। आपका श्रीअरविन्द आश्रम से पुराना सम्बन्ध है। हर वर्ष ही आप कुछ समय वहाँ बिताते हैं। शेष समय सत्संग में भ्रमणादि द्वारा गुजारते हैं। यह कविता आपने अपनी कच्छी भाषा की 'पांडिचेरी नी पराग' नाम की पुस्तक में से दी है।

**श्री विद्याव्रत जी—**

आप सुपरिचित स्व. वेदव्रत जी वेदालङ्कार के छोटे भाई हैं। श्रीअरविन्दाश्रम के साधक हैं। कविता लिखने में विशेष रुचि रखते हैं। हम भविष्य में आप से बहुत आशा रखते हैं।

**श्री गुरुदयाल जी—**

आप एक विचारशील और जिज्ञासु युवक हैं। कविता में विशेष प्रतिभा रखते हैं। अपनी कविताओं को बड़े ही सुन्दर सरस ढंग से गाकर भी कह सकते हैं।

**इन्दुमती जी—**

आप हिन्दी के एक विचारोद्बोधक लेखक श्री पं. रामावतार जी शास्त्री की सुपुत्री तथा आचार्य अभयदेव जी की भाञ्जी हैं। उन की आयु अभी लगभग १८-१९ वर्षकी है। इस छोटी आयु में ही ऐसी कविता करने की प्रवृत्ति देखकर प्रसन्नता होती है।

# अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रिमासिक पत्रिका

अनागसो अदितये स्याम

अनागसो अदितये स्याम

दिव्य-ज्ञान में, दिव्य कर्म में,
दिव्य छन्द अनुरूप बनें ।
पूर्ण अखण्डित, अदिति मात हे !
तेरे हित निष्पाप बनें ॥

अनागसो अदितये स्याम
'May we be sinless and faultless in the presence of Aditi'—*Sri Aurobinda*

# अदिति

दसवीं कला

जीवन-दायिनी श्री माता जी के पांडीचेरी में, २४ अप्रैल, ४५ के
दर्शन-दिवस, पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय बारबोटा
पठानाथ
23 August 1913
वी. सं. १९७० भाद्र शुक्ल ३ बुधवार

सम्पादक—
डा० इन्द्रसेन एम० ए०, पी० एच० डी०

एक अङ्क १)
वर्ष भर के चारों अङ्क ४)

प्रकाशक:—
एस० एन० संडर्सन एण्ड को०
श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस
नई देहली।

# विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| **चित्र—** | | |
| मृत्योर्माऽमृतं गमय | (श्रीकृष्णलाल जी) | ४ |
| **मातृवचनामृत—** | | |
| प्रार्थना व ध्यान | | ५ |
| **श्रीअरविन्दवाणी—** | | |
| १. दो ही जरूरी चीजें | | ६ |
| २. श्रीअरविन्द के पत्र | | ७ |
| ३. वैदिक सूक्त सुधा | | |
| (६) दिव्य उषा | | ६ |
| (७) भग सविता आनन्दोपभोक्ता | | १३ |
| ४ कर्मयोगी | | |
| (६) विकास की प्रक्रिया | | १८ |
| उत्तम ज्योति | नलिनीकान्त गुप्त | २२ |
| शब्दों की शक्ति | अनिलवरण राय | २३ |
| कविता | स्व० वेदव्रत जी | २४ |
| **मार्गत्रयी** | | |
| ज्ञानयोग | नलिनीकान्त गुप्त | २५ |
| श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग | अम्बालाल पुराणी | २८ |
| कविता | जगन्नाथ प्रसाद | ३२ |
| आत्मिक शान्ति | नारायण प्रसाद | ३६ |
| एक पत्र | स्व० वेदव्रत जी | ३७ |
| युद्ध के पीछे हो रहा युद्ध | अभय | ४२ |
| कविता | विद्याव्रत | ४६ |
| प्राण की इच्छाएं | अभय | ५० |
| विश्वशान्ति का प्रश्न | डा० इन्द्रसेन | ५२ |
| हे मात ! तू धन्य है | ,, | ५५ |
| कुछ सामान्य चर्चा | ,, | ५६ |
| लेखक-परिचय तथा पुस्तक-परिचय | ,, | ५८ |


---

नोट:– मुख्य पृष्ठ पर के 'अदिति के चिह्न' के अर्थ कई सज्जन पूछते हैं। यह वास्तव में कलात्मक रूप में अदिति के आदर्श को उपस्थित करता है। पहले तो गोलाकार स्वरूप सब स्वरूपों में पूर्ण और सुन्दर होता है। फिर कमल भारतीय संस्कृति में पूर्णता और दिव्य चेतना का द्योतक है। पाठक अनुभव करके देखें क्या यह चित्र अखण्डता, सुडौलता, सौम्य सुन्दरता तथा पूर्णता के भावों को जाग्रत करता है !

मातृवचनामृत—

# प्रार्थना और ध्यान

हे नाथ ! तू ही मेरा आश्रय और मेरा कल्याण है, मेरी शक्ति, मेरा स्वास्थ्य, मेरी आशा और मेरा साहस है। तू परम शान्ति, अविमिश्र आनन्द और पूर्ण गम्भीर-आत्मप्रसाद है। मेरी सारी सत्ता अनन्त कृतज्ञता तथा अविच्छिन्न श्रद्धा-भक्ति के साथ तेरे चरणों में लोट रही है; और यह श्रद्धा-भक्ति मेरे हृदय और मन से उठकर तेरी ओर वैसे ही जा रही है जैसे भारत के सुगंधित द्रव्यों का पवित्र धुआं ऊपर की ओर उठता है।

हे प्रभु ! ऐसी कृपा कर कि मैं मनुष्यों के बीच तेरा अग्रदूत बन सकूं जिससे कि वे सब लोग जो तैयार हैं, उस परम आनन्द का आस्वाद पा सकें जिसे तू अपनी असीम करुणा के वश मुझे प्रदान कर रहा है, और इस पृथ्वी पर तेरी शान्ति का राज्य स्थापित हो।

८ फरवरी १९१३

हे प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो, तेरा कार्य सिद्ध हो। हमारी भक्ति को दृढ़ बना,हमारे आत्मसमर्पण को और अधिक बढ़ा, हमारे पथ पर हमें आलोक प्रदान कर। हम अपने हृदयसिंहासन पर तुझे परम प्रभु के रूप में प्रतिष्ठित कर रहे हैं जिससे कि तू समस्त पृथ्वी का राजराजेश्वर बन सके।

अभी हमारी वाणी अज्ञानपूर्ण है, उसे तू ज्ञानदीप्त कर।

अभी हमारी अभीप्सा अशुद्ध है, उसे तू विशुद्ध बना।

अभी हमारा कर्म शक्तिहीन है, उसे तू फलप्रद बना।

हे नाथ ! यह पृथ्वी कराह रही है, दुःख भोग रही है; विश्रृंखला ने इस जगत् को अपना घर बना लिया है।

अंधकार इतना घना है कि इसे केवल तू ही हटा सकता है। आ, अपने-आप को प्रकट कर जिससे कि तेरा कार्य पूरा हो।

२५ अगस्त १९१४

श्रीअरविन्द-वाणी—

# दो ही ज़रूरी चीजें

जीवन पथ पर सब प्रकार के भय, संकट और विनाश से बच कर आगे बढ़े चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं —एक माँ भगवती की करुणा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसा अन्तःकरण जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से घटित हो। श्रद्धा तुम्हारी होनी चाहिये विशुद्ध, निश्चल और निर्दोष। मन और प्राण की ऐसी अहंकारयुक्त श्रद्धा, जो बड़े बनने की आकांक्षा, अभिमान, दम्भ, अहंमन्यता, प्राण की ऐसी स्वैरता, वैयक्तिक अभिलाष और निम्न प्रकृतिकी क्षुद्र वासना-तृप्ति से कलंकित हो, ऊर्ध्वगमनाक्षम धूमाच्छन्न अग्निशिखा के समान है जो ऊपर स्वर्ग की ओर उज्ज्वलित नहीं हो सकती। अपने जीवन को यह समझो कि यह भगवत्कर्म के लिये और भगवान् के प्राकट्य में सहायक होने केलिये मिला हुआ है, और किसी चीज की इच्छा मत करो, चाहो केवल भागवत चैतन्य, विशुद्धता, शक्ति, ज्योति, विशालता, स्थिरता, आनन्द और उसका यह तकाजा कि उसके द्वारा तुम्हारा मन, प्राण, शरीर रूपान्तरित हो; और कोई चीज मत चाहो, चाहो केवल भागवत, आध्यात्मिक और विज्ञानगत परमसत्य, उस सत्य की सिद्धि पृथिवी पर और तुम्हारे अन्दर और उन सब के अन्दर जो अन्दर की पुकारसे पुकारे गये और अनुगृहीत हुए हैं, और उस सिद्धिके लिये आवश्यक अनुकूल परिस्थिति तथा समस्त विरोधिनी शक्तियों पर उनकी विजय।

तुम्हारी निष्ठा सच्ची और सर्वाङ्गीन हो। जब आत्मनिवेदन कर रहे हो तो पूर्णतया ही करो; अपनी कोई इच्छा, कोई अलगाव मत रखो, जिसमें जो कुछ तुम्हारे अन्दर है सब भगवती माता का हो और अहंकार के लिये कुछ भी शेष न रह जाय न किसी अन्य शक्ति को कुछ दिया जाय।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने ही पूर्णतर होंगे उतनी ही अधिक दया तुम्हारे ऊपर रहेगी और तुम्हारी रक्षा होगी। और जब भगवती माता का वरद और रक्षक हाथ तुम्हारे ऊपर होगा तब फिर कौन है जो तुम्हारे ऊपर उंगली उठा सके या जिस से तुम्हें भय करना पड़े? इसकी अत्यल्प मात्रा भी तुम्हें सब विघ्नबाधाओं और संकटों के पार कर देगी; इसकी पूर्ण सत्ता से घिर कर तुम अपने रास्ते पर निरापद आगे बढ़े चले जा सकते हो, क्योंकि यह रास्ता माता का है, यहां किसी विभीषिका की चिन्ता नहीं, किसी शत्रु का भय नहीं—वह चाहे कितना ही बलवान् हो, इस जगत् का हो या अन्य किसी अदृश्य जगत् का। माता के वराभयहस्त का स्पर्श कठिनाइयों को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। कारण, माँ भगवती की दया भगवान् की अनुमति है और आज या कल उसका फल निश्चित है—पूर्व-निर्दिष्ट है, अवश्यम्भावी और अकुंठ है।

'माता'

---

## श्रीअरविन्द के पत्र—

( २ )

मानवीय इतिहास की सभी क्रमावस्थाओंको इस प्रकार देखा जा सकता है कि उन द्वारा पृथ्वी-चेतना* का निर्माण होरहा है जिसमें प्रत्येक अवस्थाका अपना स्थान और महत्त्व है। एवं जड़वादी बौद्धिक अवस्था को भी आना ही था और निःसन्देह, इस का प्रयोजन और महत्त्व रहा है। कोई यह भी मान सकता है कि इसका एक उद्देश्य परीक्षण के तौर पर यह देखना था कि मानवीय चेतना, केवल भौतिक और बौद्धिक साधनों को लेकर तथा किसी उच्चतर चेतना और ज्ञान के हस्तक्षेप के बिना, प्रकृति के बौद्धिक और बाह्य नियन्त्रणके द्वारा कहाँ तक और किधर पहुँचती है—अथवा यह देखना था कि क्या यह ( जड़वादी बौद्धिक अवस्था ) प्रतिरोध के द्वारा आध्यात्मिक चेतना को खींच लाने में सहायता कर सकती है, उस चेतना को जो कि जड़ प्रकृति का नियन्त्रण संपादित करने और उसे भगवान् के प्रति अभिमुख करने के लिये, सब उतार-चढ़ावोंके पीछे, विकसित हो रही है। उसी प्रकार जैसे कि तान्त्रिकों और वैष्णवों ने वेदान्तियोंकी तरह मन को ही परात्पर की ओर मोड़ देने से अपने आप को सन्तुष्ट न रख कर भावमय ( emotional ) और निम्नतर प्रकृति को भगवदभिमुख करने का यत्न किया। परन्तु यह कठिन है कि हम वर्तमान अवस्था को कुछ और अर्थ दें और यह मान बैठें कि यह जड़वाद अपने आप में आध्यात्मिक तथ्य है या यह कि समकालीन यूरोप की अन्धकारमय, अस्त-व्यस्त और हिंसापूर्ण अवस्था आत्मा के अवतरणके लिये अनिवार्य तैयारी है। यह अन्धकार और उग्रता —जो कि मानसिक आदर्शवाद के उस प्रकाश और सामञ्जस्य की उस इच्छा को नष्ट करने पर तुली हुई प्रतीत होती है जो कि मानवता के मन में अपने आपको प्रतिष्ठित करने में सफल हो चुके थे,—स्पष्ट ही उन भयानक और अन्धकारावृत प्राणमय शक्तियों के अवतरण के कारण ही उत्पन्न हुई है जो कि किसी आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये नहीं बल्कि अपने ही मतलब के लिये इस मानवीय जगत् पर अधिकार करने की घात में हैं। यह ठीक है कि अन्धतमसावृत प्राणमय लोकों से आसुरिक शक्तियों के इस प्रकार के अवक्षेपण को कई गुह्यवेत्ताओं ने अपने प्राणिक स्तर पर भागवत अवतरण के दबाव का एक पहला परिणाम कहकर पूर्वघोषित किया था, किन्तु इसे संग्राम की परिस्थिति के रूप में ही समझा गया था, न कि भगवान् की विजय की दिशा में सहायता कर रही किसी घटना के रूप में। स्थूल-भौतिक प्रकृति पर विजय पाने और उसे अपने मतलब के लिये उपयोग करने के लिने मानवीय बुद्धि के प्रयत्न द्वारा जड़ प्रकृति का मन्थन करना उसकी निष्क्रयता और जड़ता की कुछ मात्रा को विनष्ट तो कर सकता है, किन्तु यह मन्थन स्थूल-भौतिक उद्देश्यों के लिये, राजसिक भावना के साथ, आध्यात्मिकता को उसका ( बुद्धि का ) मानसिक आधार मानने से इन्कार करते हुए, किया जाता है। ऐसे प्रयत्न का अन्त संकर और अङ्ग भङ्ग ही हो सकता है, सचमुच हो रहा दीखता है; इसके साथ ही, रचना और पुनः सर्वाङ्गता-संपादन के लिये किये जा रहे प्रयत्न जड़ प्रकृति की अन्ध कठोरता को अर्धपाशविक प्राणमय प्रकृति की पैशाचिक निर्दयता और हिंसा के पुनरुद्भव के साथ मिलाते मालूम देते हैं। आध्यात्मिक शक्तियों को इस सबके साथ किस प्रकार बरतना है ? या उन्हें जड़ प्राकृतिक विश्व की शक्तियों के इस प्रकार के मन्थन का किस प्रकार उपयोग करना है ? आत्मा का तरीका शान्ति, प्रकाश और सामञ्जस्य का तरीका है; अगर उसे युद्ध करना ही पड़ता है तो ठीक इसीलिये चूंकि

---

* पृथ्वी पर उच्चतम विकसित चेतना, सामान्य मानव-चेतना। स०।

ऐसी शक्तियां आ उपस्थित होती हैं जो कि आध्यात्मिक प्रकाश का या तो निर्वाण करने या फिर निवारण करने का प्रयत्न करती हैं। आध्यात्मिक परिवर्तन में तमस् को दिव्य शान्ति और स्थिरता द्वारा, राजसिक विक्षुब्ध शक्तिको शान्त और शक्तिशाली, शुद्ध और मुक्त क्रियाशक्ति द्वारा स्थानान्तरित करना होता है, जब कि मन को ज्ञान के उच्चतर प्रकाशकी क्रियाओंके लिये सुनम्य रखना आवश्यक होता है। प्रकृतिवाद की क्रिया उस परिवर्तन को कैसे होने देगी ?

प्रकृतिवाद अपने आधार में आध्यात्मिक नहीं हो सकता क्योंकि इसका कामों को करने का आधारभूत तरीका आध्यात्मिक ढङ्ग से ठीक विपरीत है। आध्यात्मिक अन्दर से बाहर की ओर काम करता है, प्रकृतिवाद का ढङ्ग बाहर से भीतर की ओर काम करने का है। यह आन्तरिक को बाह्य का परिणाम, उसे मूलगत रूप से जड़ प्रकृति की घटना साधित करता है। इसी दृष्टि-कोण से इस का सारा व्यवहार है। यह मानवजाति को बाह्य साधनों से "पूर्ण बनाने" का यत्न करता है और इसका मुख्य प्रयत्न एक ऐसी पूर्ण सामाजिक मशीन बनाना है जो मनुष्यों को, उन्हें जैसा होना चाहिये वैसा बनने के लिये, शिक्षित और बाधित करेगी। अहं का भगवान् में विलोप आध्यात्मिक आदर्श है; यहां इसके स्थान पर सैनिक और व्यवसायिक राष्ट्र पर व्यक्तिको बलि चढ़ा देना है। इस सबमें आध्यात्मिकता है ही कहां ? आध्यात्मिकता तो आ सकती है केवल अपने मन, प्राण और शरीर को अन्तस्तम आत्मा, उच्चतर स्व, भगवान् के प्रति खोल देने से, उन्हें आध्यात्मिक शक्तियों के अधीन कर देने और ऐसा करण बना देने से कि वे आन्तरिक प्रकाश, उच्चतर ज्ञान और शक्ति की प्रणालिकाएं बन जायं। अन्य वस्तुओं, मानसिक, सौन्दर्यात्मक, प्राणिक, को प्रायः आध्यात्मिकता के ग़लत नाम से पुकार दिया जाता है, किन्तु वे उस सारभूत विशेषता से वञ्चित होती हैं जिस के बिना यह शब्द अपने सच्चे अर्थ को ही खो देता है।

३०. ६. ३७

---

## 'विश्व शान्ति का प्रश्न'

जब तक कि युद्ध मनोवैज्ञानिक तौर पर असम्भव नहीं हो जाता, तब तक वह कायम रहेगा या, यदि कुछ समम के लिये निर्वासित भी कर दिया जाय, तो फिर लौट आयेगा। यह आशा की जाती है कि स्वयं युद्ध ही युद्ध का अन्त करेगा; व्यय, त्रास, घोर संहार, शान्त जीवन में विक्षोभ, इस कार्यका सारे का सारा अन्धाधुन्ध रक्तपातयुक्त उन्माद ही ऐसी अति बृहत् मात्रा तक पहुँच गया है या पहुँच जायगा कि मानवजाति इस राक्षसपन को ग्लानि और घृणा के साथ परे फेंक देगी ! परन्तु ग्लानी और घृणा, भय और करुण, बल्कि मानवीय जीवन और शक्ति के व्यर्थ विनाश एवं क्षति और अपव्यय के व्यवहारसिद्ध तथ्यों द्वारा आंखों का तर्क के प्रति खुल जाना भी स्थायी वस्तुएं नहीं हैं; वे केवल तभी रहती हैं जब कि पाठ अभी ताज़ा ही होता है। पीछे से विस्मृति आ जाती है; मानव प्रकृति पुनः अपनी प्रकृति को प्राप्त कर लेती है। और उन अन्धप्रवृत्तियों को फिरसे अधिगत कर लेती है जो अस्थायी तौर पर वश में कर ली गई थीं।

* * *

केवल तभी जब कि मनुष्य ने सब मनुष्यों के साथ न केवल भाईचारे के भाव को, बल्कि प्रधानभूत एकता और सर्वसाधारणता के भाव को भी विकसित कर लिया हो, केवल तभी जब कि वह उनको न केवल भाइयों के तौर पर,—वह एक भंगुर सम्बन्ध है,—बल्कि अपने अङ्गों, अवयवों के तौर पर पहचानता हो, केवल तभी जब कि वह अपने पृथक् वैयक्तिक और सांघिक अहंभाव में नहीं, किन्तु विस्तीर्णतर विश्व-चेतना में रहना सीख चुका हो, युद्ध की घटना, उसके जीवन में से मिट सकती है बिना वापिस लौटनेकी सम्भावना के।

—श्रीअरविन्द

# वैदिक सूक्त-सुधा

## ( ६ )

## दिव्य उषा

ऋग्वेद ३. ६१

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः
स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु
व्रतं चरसि विश्ववारे ॥१॥

( उषः ) हे उषा ! ( वाजेन वाजिनि ) हे सारतत्व के भण्डार से समृद्धिशालिनि ! ( प्रचेताः ) प्रचेता ! तू ( गृणतः ) जो तुझे अभिव्यक्त करता है उसके ( स्तोमं ) स्तोम को, स्तोत्र वचनको (जुषस्व) सेवन कर, ( मघोनि ) हे विपुलतासम्पन्ने ! ( देवि ) हे देवि ! ( पुराणी युवतिः ) जो पुरातन होती हुई भी सदा युवती है ( पुरन्धिः ) तू बहुत विचारों वाली होकर ( व्रतम् अनुचरसि ) अपने क्रिया-नियम का पालन करती हुई चलती है, ( विश्ववारे ) हे सब वरो के धारण करने वाली !

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि
चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा
हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥२॥

( देवि उषः ) हे दिव्य उषा ! (अमर्त्याविभाहि) अमृत हो चमक उठ ( चन्द्ररथा ) आनन्दपूर्ण प्रकाश के अपने रथ में बैठी हुई और ( सूनृताः रियन्ती ) सत्य की आनन्दमयी वाणियों को प्रेरित करती हुई। ( त्वा सुयमासः अश्वाः आवहन्तु ) तुझे सुनियन्त्रित घोड़े यहां ले आवें, (ये हिरण्यवर्णाः पृथुपाजसः ) जो घोड़े रंगमें सोने जैसे चमकीले तथा गति व शक्ति में विशाल और महान् हैं।

उषः प्रतीची भुवनानि
विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्य मृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना
चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥३॥

( उषः ) हे उषा ! तू (विश्वभुवनानि प्रतीची) सब लोकोंके सन्मुख होकर (ऊर्ध्वा तिष्ठसि) ऊपर खड़ी होती है ( अमृतस्य केतुः ) और उनके लिए अमरता का दर्शन है। ( समानं अर्थं चरणीयमाना ) एक सम क्षेत्र पर गति करती हुई तू, ( नव्यसि ) हे नूतन दिन रूप ! ( चक्रं इव आ ववृत्स्व ) उन पर पहिये की तरह घूम।

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा
याति स्वसरस्य पत्नी।
स्वर्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद्
दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः ॥४॥

( उषाः ) उषा ( मघोनि ) अपने प्राचुर्यमें पूर्ण (स्यूम इव अवचिन्वती ) मानो सिये हुए चोगे को उतारती हुई ( स्वसरस्य पत्नी ) आनन्दमय की पत्नीके रूपमें ( याति ) विचरती है। ( स्वः जनन्ती ) 'स्व' को उत्पन्न करती हुई ( सुदंसा ) अपनी क्रिया में पूर्णता युक्त ( सुभगा ) अपने भोगों में पूर्णतायुक्त ( आ दिवः अन्तात् ) द्यु लोक के छोर से लेकर ( आ पृथिव्याः ) पृथिवी के किनारे तक ( पप्रथे ) विस्तृत होती है।

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं
प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत्
प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥५॥

(वः) तुम (देवीं उषसं) देवी उषाको (विभातीं) जब वह तुम्हारे प्रति विस्तृत रूपसे प्रकाशमान होती

है ( अच्छ ) अच्छी तरह स्वागत करो, ( वः ) तुम ( नमसा ) उसके प्रति समर्पणके द्वारा ( सुवृक्तिं ) अपने पूर्ण बल को ( प्रभरध्वं ) बाहर निकालो। ( ऊर्ध्वं दिवि ) ऊपर द्युलोक में ( पाजः ) जो बल है उसको ( मधुधा अश्रेत् ) मधुरता को स्थापित करती हुई वह भ्रमण करती है; वह ( रोचना ) प्रकाशमान लोकों को ( प्ररुरुचे ) अच्छी तरह जगमगा देती है और (रण्व संदृक) परमानन्द का दृश्य उपस्थित करने वाली है।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या
रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं
वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥६॥

(दिवः अर्कैः) द्युलोकके प्रकाशनों द्वारा मनुष्य ( ऋतावरीं ) [उषा को] सत्य के धारण करने वाली ( आबोधि ) जानता है, देखता है; और ( रेवती ) आनन्द पूर्ण होकर वह (रोदसी) द्यावापृथ्वी में (चित्रं) चित्र विचित्र प्रकाश से युक्त (आ अस्थात) आती है। (अग्ने) हे अग्नि ! ( विभातीं आयतीं उषसं ) चमकती हुई आती उषा से ( भिक्षमाणं ) मांगता हुआ तू ( वामं द्रविणं ) आनन्द के पदार्थको ( एषि ) पा लेता है।

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्
वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया
चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥७॥

( ऋतस्य बुध्ने ) सत्यके आधार में, (उषसां) उषाओं के आधार में ( इषण्यन् ) अपनी प्रेरणाओं को प्रवर्तित करता हुआ ( वृषा ) उनका स्वामी ( मही रोदसी ) विशाल द्यावा पृथिवी में, द्यावा पृथिवी की विशालता में ( आविवेश ) प्रविष्ट होता है। ( मित्रस्य वरुणस्य मही माया ) मित्र की, वरुण की महती प्रज्ञा ( चन्द्राइव ) मानो सुख पूर्ण प्रकाशवती होकर (भानुं ) ज्योतिको (पुरुत्रा विदधे) नानाविधरूप से व्यवस्थित करती है।

## भाष्य

सूर्य सविता अपने प्रकाश फैलानेके कार्य को तभी करता है जब कि पहले उषा का उदय हो चुका होता है। एक अन्य सूक्त में वर्णन किया गया है कि निरन्तर आने वाली उषाओंकी प्रकाशमय शक्ति के द्वारा मन की गतियां सचेतन और चमकीली होती गई। वेद में सर्वत्र ही द्यौ की पुत्री, उषा का यही व्यापार बतलाया गया है। अन्य देवताओं की जागृतिकी, कार्यशीलताकी और वृद्धिकी यह माध्यम है; वैदिक सिद्धि प्राप्त करनेकी यह— उषाका उदय— पहली शर्त है। इसके बढ़ते हुए प्रकाश को पाकर मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति विशद, निर्मल हो जाती है; इसके द्वारा वह (मनुष्य ) सत्य को पहुंचता है, इसके द्वारा वह परम पद का उपभोग करता है। ऋषियों द्वारा वर्णित दिव्य उषा के उदयन का मतलब उस दिव्य प्रकाश का निकल आना है जो कि एक के बाद एक आवरण के परदे को हटाता जाता और मनुष्य के क्रिया कलाप में प्रकाशमय देवत्व को प्रकट करता जाता है। इसी प्रकाश में कर्म किया जाता है, मानव जाति द्वारा यज्ञ चलाया जाता है और इसके अभीष्ट फल प्राप्त किये जाते हैं।

निस्सन्देह ऐसे सूक्त अनेक हैं जिन में उषा के भौतिक रूप के उज्ज्वल सुन्दर सजीव वर्णन द्वारा उषा देवी का यह आन्तरिक सत्य छिप जाता है, पर महान् ऋषि विश्वामित्र के इस सूक्त में वैदिक उषा की आध्यात्मिक प्रतीकता प्रारम्भ से अन्त तक स्पष्ट दिखाई देती है,खुले तौर पर प्रकटकी गई है,विचारके ऊपरी तल पर विद्यमान है। वह उषा से कहता है, "हे उषः, हे अपने सार तत्त्व के समृद्ध भण्डार वाली ! प्रचेता तू उसके स्तोम को सेवन कर जो तुझे अभिव्यक्त करता है, हे तू ! जो विपुलता युक्त है"। "प्रचेता" यह शब्द तथा इससे सम्बन्ध रखने वाला 'विचेता' शब्द, ये वैदिक भाषा सरणि के पारिभाषिक शब्द है; इनका आशय उन्हीं विचारों के अनुरूप प्रतीत होता है जिन्हें आगे चल कर वेदान्तिक भाषा में 'प्रज्ञान और विज्ञान' शब्द द्वारा

प्रकट किया गया है। प्रज्ञान वह चेतना है जो सब वस्तुओं को अपने निरीक्षण के सम्मुख आने वाले विषयों के रूप में जानती है; दिव्य मन के अन्दर यह वस्तुओं के संबन्ध का वह ज्ञान है जो उनके स्रोत उनके स्वामी और साक्षी के स्थापन द्वारा चेतना में उन्हें धारण करता, उनके अन्दर प्रविष्ट होता और उन्हें व्याप्त करता है सो उषाने एक ज्ञान की शक्ति के रूप में—ऐसी ज्ञान की शक्ति में कि मनुष्य में अभिव्यक्ति के लिए मन के सम्मुख जो कुछ इने द्वारा रखा जाता हैं उसके सत्य को वह जानती है, उसकी प्रचेता है—ऋषिके प्रकाश कारक विचार तथा शब्दको व्याप्त करना है, सेवन करना है। यह ध्वनित किया गया है कि ऋषि का स्तोम, उष: स्तोत्र पूर्ण और विपुल होगा; क्योंकि उषा 'वाजेन वाजिनि' है, 'मघोनि' है, उसके सारतत्त्वका भण्डार समृद्ध है, उसके पास सब प्रकारकी प्रचुरता और विपुलता है।

यह उषा देवी अपने प्रगति-पथ पर सदा एक दिव्य क्रिया के नियम के अनुसार चलती है। वे विचार बहुत से हैं जिन्हें वह इस प्रगति में साथ लाती है; पर उसके पग जमकर पड़ते हैं और सब वांच्छनीय वस्तुएं, सब वर—आनन्द के वर, दिव्य अस्तित्व के आशीर्वाद उसके हाथों में हैं। यह पुरातन और सदातन है, उस प्रकाश की उषा है जो आदिकाल से चला आ रहा है, अतः 'पुराणी' है, पर अपने आगमन में वह सदा युवती है, सदा नयी है, उस आत्मा के लिये जो उसे ग्रहण करता है नित्य नयी है। ( देखो मन्त्र १ )

उसने चारों ओर चमक उठना है, उसने जो कि दिव्य उषा है, अमर अस्तित्व के प्रकाश के रूप में, मनुष्य के अन्दर सत्य और आनन्द की ( सूनृताः-यह एक शब्द है जो सत्य और सुखमय इन दोनों भावों को इकट्ठा प्रकट करता है ) वाणियों या शक्तियों को जगाते हुए; क्योंकि क्या उसकी गति का रथ इकट्ठा प्रकाश और सुख का रथ नहीं है? क्योंकि फिर, 'चन्द्ररथा' में आया चन्द्र शब्द ( जिस का कि अर्थ चन्द्रमा का देवता अर्थात् सोम भी होता है जो कि मनुष्य के अन्दर बरसने वाले अमृत के आनन्द का—आनन्द और अमृत का, अधिपति है ) दोनों प्रकाशमय और सुखमय, अर्थ को प्रकट करता है। और इसे लाने वाले घोड़े पूरी तरह नियन्त्रित होने चाहिये—'घोड़े' यह रूपक है उन वातिक ( स्थूल प्राण की ) शक्तियों केलिये जो हमारी सब क्रियाओं को सहारा देती और आगे बढ़ाती हैं। यह घोड़े सुनहले, चमकीले रङ्ग वाले हैं, इनका स्वभाव ( क्योंकि इस प्राचीन प्रतीकवाद में रङ्ग निदर्शक होता है गुण का, चरित्र का, प्रकृति का ) होना चाहिये अपनी संकेन्द्रित प्रकाशमयता में विद्यमान ज्ञान की क्रियाशीलता का, ऐसी उज्ज्वल ज्ञान क्रिया का, इस संकेन्द्रित शक्ति का समाहार होना चाहिये अपने फैलाव में विशाल या महान—पृथुपाजासो ये—( देखो मन्त्र २ )।

इस प्रकार दिव्य उषा अपने ज्ञान के प्रकाश के साथ, प्रज्ञान के साथ, आत्मा के प्रति आती है, अपने उस ज्ञान के क्षेत्रभूत सब लोकों के सम्मुख होकर अर्थात् हमारी विराट सत्ता के सब प्रदेशों के—मन, प्राण और भौतिक चेतना के—सम्मुख होकर। वह उनके ऊपर, मन से ऊपर की हमारी ऊंचाइयों पर, उच्चतम लोकों में ऊर्ध्व होकर खड़ी होती है, उनके लिये अमरता का या अमृतमय का दर्शन बन कर, 'अमृतस्य केतुः' होकर, उनमें शाश्वतिक और परमसुखमय अवस्था को या नित्य सनातन आनन्दमय देव को प्रकट करती हुई खड़ी होती है, एवं ऊंची वह खड़ी होती है दिव्य ज्ञान की गति को सम्पादित करने के लिये तैय्यार होकर, बिलकुल समतल भूमि पर बिना रगड़ के चलने वाले पहिये की तरह वह उनकी (लोकों की) सामंजस्य युक्त और समतायुक्त क्रियाओं में आगे आगे बढ़ती है सनातन सत्ता के एक नये नये प्रकाश के रूप में, नव्यसि; क्योंकि वे लोक (मन, प्राण और शरीर के लोक) अब, उनकी नानारूपता और बेसुरापन हट जाने के कारण, इस गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते ( देखो मन्त्र ३ )।

अपनी प्रचुरता से पूर्ण वह, मानो परिश्रम से

सांये गये उस चोगे को अपने से जुदा करती, अपने ऊपर से उतार डालती है जिसने कि वस्तुओं के सत्य को ढक रखा है और प्रियतम की पत्नी 'स्वसरस्य पत्नी' के तौर पर अर्थात् अपने आनन्दस्वरूप पति की शक्ति के तौर पर वह विचरती है। अपने सुख के भोग में पूर्णतायुक्त, अपनी क्रियाओं के सम्पादन करने में पूर्णता युक्त 'सुभगा सुदंसा', वह अपनी प्रकाशस्फुरणाओं द्वारा हमारे अन्दर 'स्वः' को जनित करती है अर्थात् छिपे हुए प्रकाशमान मन को, हमारे उच्चतम मानसिक द्युलोकको उत्पन्न करती है, और इसप्रकार मानसिक सत्ता के दूरतम किनारों से लेकर भौतिक चेतना भर के ऊपर अपने आपको फैला देती है (देखो मन्त्र ४)।

जैसे कि यह दिव्य उषा अपने प्रकाशको विस्तृत रूप में मनुष्यके ऊपर डालती है वैसे मनुष्य को भी उसके दिव्य क्रिया और गति के नियम के प्रति समर्पण करने द्वारा उसके लिये अपनी सत्ताकी और अपनी सामर्थ्य की पूरी तरह शक्तियुक्त हुई पूर्णता को बाहर लाना चाहिये, प्रकट करना चाहिये, जिससे कि यह उसके प्रकाशका वाहन बन सके अथवा उसकी यज्ञक्रियाओं का एक स्थान बन सके (देखो मन्त्र ५ का पूर्वार्ध)।

इसके बाद ऋषि दिव्य उषा के मनुष्यके अन्दर जो दो मुख्य कार्य हैं उनका विस्तार से वर्णन करता है। पहला कार्य है; उषा मनुष्य को प्रकाश की पूरी शक्ति तक ऊपर उठाती है और उसे सत्य का प्रकाश कराती है; दूसरा है, वह मनुष्य पर आनन्द की, अमृत की, सोम रस की, मानसिक और शारीरिक सत्तामें जो अमर अस्तित्व है उसके आनन्द की वर्षा करती है। "दिवि" अर्थात् शुद्ध मन के लोक में वह प्रकाश की पूरी शक्ति और मात्रा में ऊपर उठती है—ऊर्ध्व पाजो अश्रेत्, और उन शुद्ध और उच्च स्तरोंसे वह मधुरता को, 'मधुको', सोम के मधुको स्थापित करती है। तीन प्रकाशमान लोकों —'रोचना'—को वह अच्छी तरह चमका देती है; तब वह परमानन्द का दृश्य बन जाती है या इस दृश्यको उपस्थित करने वाली होती है (देखो मन्त्र ५ का उत्तरार्ध)। शुद्ध मनोवृत्ति के कार्यसाधक प्रकाशों से, सिद्धिदायक मन्त्रों द्वारा, 'दिवो अर्कैः', वह सत्य के धारण करने वाली के रूप में दिखाई देती है और इस सत्य के साथ; मन से ऊपर के लोकसे आकर, आनन्दसे परिपूर्ण वह अपनी विविध विचार और क्रिया की चित्र विचित्र क्रीड़ा करती हुई मानसिक और शारीरिक चेतना में (रोदसी) — ये वे दो सीमायें हैं जिनके कि बीच में मनुष्य का कर्म गति करता है — प्रविष्ट होता है। इस उषा से ही; जब यह इस प्रकार समृद्धिशालिनी (वाजेन वाजिनी) होकर वहां से आती है; अग्नि (जो कि वह दिव्य शक्ति है जो मर्त्यको ऊपर उठानेके लिये यहां शरीर में और मन में काम कर रही है) सोम को पानेकी प्रार्थना करता है और उसे पा लेता है — वह सोम जो परमानन्द का पान है; आनन्दमय सार पदार्थ है (देखो मन्त्र ६)।

हमारे अन्दर जो अतिमानस (विज्ञानमय) लोक है, जो सत्य का आधार है वही उषाओं का आधार है। ये उषायें मर्त्य प्रकृति के अन्दर उस अमर्त्य सत्य के, 'ऋतम् ज्योति' के प्रकाश के अवतरणभूत हैं। इन उषाओं का अधिपति, सत्य का स्वामी, प्रकाशक, उत्पादक, व्यवस्थापक, मनोऽतीत सत्य के आधार में अपनी क्रियाओंकी प्रेरणा को प्रवर्तित करता हुआ, उनके साथ इस उषा देवी के द्वारा मानसिक और शारीरिक सत्ता में प्रविष्ट होता है जो मानसिक और शारीरिक सत्तायें अब अन्धकाराच्छन्न नहीं रही हैं, अपने सीमा बन्धनों से मुक्त तथा विशालता को धारण करने योग्य होगयीं हैं, 'महीरोदसी'। सत्य का अधिपति वस्तुओं का एक मात्र अधिपति है। वह है वरुण, विशालता और पवित्रता की आत्मा। वह है मित्र, प्रेम, प्रकाश और सामंजस्य का स्रोत। उसकी सर्जन करने वाली प्रज्ञा — मही मित्रस्य वरुणस्य माया — जो कि अपने क्षेत्रमें अमर्यादित है (क्यों कि वह

[शेष पृ० १३ पर]

# भग सविता, आनन्दोपभोक्ता

## ऋग्वेद ५ ८२

तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥१॥

[सवितुः देवस्य] सविता देव के [तत् भोजनम्] उस आनन्दोपभोग को [वयं वृणीमहे] हम वरते हैं [श्रेष्ठम्] जो सर्वश्रेष्ठ है [सर्वधातमम्] सबको समुचित रूप से व्यवस्थापित करने वाला है [तुरम्] लक्ष्य पर पहुंचाने वाला है, [भगस्य] भग के उस आनन्द को [धीमहि] हम विचार द्वारा ग्रहण करते हैं।

अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्।
न मिनन्ति स्वराज्यं ॥२॥

[हि] क्योंकि [तस्य (भगस्य) सवितुः] उस आनन्दोपभोक्ता सविता के [कच्चनप्रियम्] किसी भी वस्तु के सुख को [न मिनन्ति] वे क्षीण नहीं कर सकते, [स्वयशस्तरम्] क्योंकि यह अत्यन्त आत्मविजय-शील है, [न स्वराज्यम्] नहीं उसके स्वराज्य को (क्षीण कर सकते हैं)।

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः।
तं भागं चित्रमीमहे ॥३॥

[स हि] वह [दाशुषे] उत्सर्ग करने वालेके लिये [रत्नानि सुवाति] आनन्दों को प्रेरित करता है [स सविता भगः] वह ऐसा देव है जो कि वस्तुओं का उत्पादक है; [तं चित्रं भागम्] उसके उस विविध रूप ऐश्वर्योपभोग को [ईमहे] हम चाहते हैं।

अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः
सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥४॥

[अद्य] आज [देव सवितः] हे दिव्य जनयिता [नः] हमपर [प्रजावत् सौभगम्] फलयुक्त आनन्द को [सावीः] प्रेरित कर, [दुःष्वप्न्यम्] उसे जोकि दुःस्वप्नसे सम्बन्ध रखता है [परासुव] दूर कर।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥५॥

[विश्वानि दुरितानि] सब बुराइयों को [देवसवितः] हे दिव्य जनयिता, तू [परासुव] दूर करदे, [यद् भद्रम्] जो श्रेयस्कर है [तत्] उसको [न आसुव] हम पर प्रेरित कर।

अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे।
विश्वा वामानि धीमहि ॥६॥

[अनागसः] निर्दोष होकर [अदितये] असीम सत्ता की प्राप्ति के लिए [देवस्य सवितुः सवे] दिव्य जनयिता से होनेवाले सव में, हम [विश्वा वामानि] सब आनन्द की वस्तुओं को [धीमहि] विचार द्वारा ग्रहण करते हैं।

---

[पृ० १२ का शेष]

वरुण है), जो आनन्द और हर्षकी ज्योति की तरह [चन्द्रेव] प्रतीत होती है (क्यों कि वह मित्र है), सत्य की गंभीर अभिव्यक्तियों को, प्रकाशमय अभिव्यक्तियोंको, नानाविध रूपोंमें, मुक्त हुई प्रकृति की विशालता में, व्यवस्थित करती है, पूर्णतया संघटित करती है। वह उन विविध ज्योतियोंको जिन के साथ कि उसकी उषा हमारे द्यावा पृथिवी (मन, शरीर) में प्रविष्ट हुई है एकत्रित कर देता है, संयुक्त कर देता है, वह उस (उषा) की सच्ची और सुखकर वाणियों को एक समस्वरता में मिलादेता, सामंजस्य युक्त कर देता है (देखो मन्त्र ७)।

दिव्य उषा परमदेव का आगमन है। वह है सत्य और परमसुख की ज्योति जो कि हम पर ज्ञान और आनन्द के अधिपति की तरफ से बरस रही है— अमृतस्य केतुः, स्वसरस्य पत्नि।

**आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे।**
**सत्यसवं सवितारम् ॥७॥**

[विश्वदेवम्] विश्वव्यापी देव [सत्पतिम्] और सत्ता के अधिपति को [सूक्तैः] पूर्ण शब्दों के द्वारा [अद्य आवृणीमहे] आज हम अपने अन्दर स्वीकार करते हैं, [सत्य सवं सवितारम्] उस **रचियता** को जिसकी रचना सत्यमय है।

**य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन्।**
**स्वाधीर्देवः सविता ॥८॥**

[यं देव सविता] जो दिव्य **रचियता** [अप्रयुच्छन्] कभी स्खलन को प्राप्त न होता हुआ [स्वाधीः] अपने विचारको उचित प्रकार से स्थापित करता हुआ [इमे उभे अहनी] इन दिन और रात दोनों के [पुर एति] सन्मुख जाता है।

**य इमा विश्वा जाता न्याश्रावयति श्लोकेन।**
**प्र च सुवाति सविता ॥९॥**

[यः सविता] जो **रचियता** [श्लोकेन] लय के साथ [इमा विश्वानि जातानि] इन सब प्रजाओं को [आश्रावयति] ज्ञान में श्रवण कराता है [प्रसुवाति च] और उन्हें उत्पन्न कर देता है।

## भाष्य

चार महान् देव सर्वत्र वेद में अपने स्वरूप में और अपने कार्य में निकट तथा सम्बद्ध दिखाई देते हैं, वे हैं **वरुण, मित्र, भग, अर्यमा**। वरुण और मित्र, ऋषियों के विचारों में सदा युगलरूप में जुड़ गए हैं, कहीं-कहीं वरुण, मित्र और भग अथवा वरुण, मित्र और अर्यमाका एक त्रैत भी दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सूक्त अपेक्षाकृत बहुत कम हैं जो इनमें से किसी एक देव को पृथक रूप में सम्बोधित किये गये हों, यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण संकल्प हैं जिनका कि देवता वरुण है। पर ऐसी ऋचायें जिनमें इन देवोंके नाम आ जातेहैं और वे ऋचायें अन्य किन्हीं देवों की हों या विश्वे देवाः के आवाहनमें हों, किसी भी प्रकार संख्या में कम नहीं हैं।

ये चारों देवता सायण के अनुसार, सौर शक्तियां हैं, वरुण सूर्य का अभावात्मक रूप है और इस प्रकार रात्रि का देवता है; मित्र भावात्मक रूप होकर दिन का देवता है, भग और अर्यमा सूर्य के नाम हैं। इन विशेष प्रकारकी तादूप्यताओंको अधिक महत्ता देने की हमें आवश्यकता नहीं है, पर इतना तो निश्चित है कि इन चारों देवों को कोई सौर धर्म ही परस्पर जोड़ता है। वैदिक देवों का यह विशेष स्वरूप कि वे अपने व्यक्तित्वों तथा व्यापारों तक में विभिन्न होते हुए वास्तविक एकता रखते हैं, इन चार देवों के विषयमें विशेष तौर से प्रकाश में आ जाता है। ये चारों अपने आपमें घनिष्टताके साथ केवल सम्बद्ध ही नहीं हैं, परन्तु वे एक दूसरे के स्वभाव और धर्मों में भागी होते हुए दिखाई देते हैं और ये सब स्पष्टतः **सूर्य सविता** के उद्भव हैं जो **सूर्य सविता** अपने रचनात्मक और प्रकाशक सौर रूपों वाली दिव्य सत्ता है।

सविता सूर्य **रचयिता** है। सब लोक, वस्तुओंके सत्य के अनुसार, ऋतम् के अनुरूप, दिव्य चेतना से, उस **अदिति** से, पैदा हुए हैं जो कि असीम सत्ताकी देवी है, देवों की माता है, अविभाज्य चेतना है, ऐसी ज्योति है जो क्षीण नहीं हो सकती, जो वध न की जा सकने वाली रहस्यमयी गौ के प्रतीक से निरूपित हुई है। उस रचना में वरुण और मित्र, अर्यमा और भग ये चार कार्यनिर्वाहक बल हैं देवता हैं। **वरुण** द्योतक है विशुद्ध और बृहत् सत्ता के लोक का, **सच्चिदानन्द के सत** का; **अर्यमा** द्योतक है दिव्य चेतना के प्रकाश का जो कि शक्ति के रूप में कार्य करता है; **मित्र** प्रकाश और ज्ञान का द्योतक होता हुआ, रचना के लिये **आनन्द** के तत्व का उपभोग करता हुआ, वह प्रेम है जो कि समस्वरता के नियम को स्थापित रखता है; **भग** द्योतक है रचनाशील सुख रूपी **आनन्द** का, वह रचना के आनन्द का उपभोग करता है, जो कुछ विरचित हुआ है उस सब का आनन्द लेता है। यह वरुण की, मित्र की **माया**, उत्पादक प्रज्ञा है जो कि अदिति के उस प्रकाश को विविध प्रकार से विनि-

युक्त करती है जो प्रकाश उषा द्वारा लोकों को अभिव्यक्त करने के लिये लाया जाता है।

अपने आध्यात्मिक व्यापार में भी ये चारों देव मानव-मन में, मानव-स्वभाव में कार्य कर रहे उपर्युक्त चार तत्वोंके ही द्योतक होते हैं। वे मनुष्यके अन्दर उसकी सत्ता के विभिन्न स्तरों को रचते हैं और उन्हें अन्त में दिव्य सत्य के रूपों में और वृत्तिओं में ढाल देते हैं। मुख्यकर मित्र और वरुण तो निरन्तर इस रूप में वर्णित हुए हैं कि वे अपने कर्म के नियम को दृढ़ता से धारण करते हैं, सत्य को बढ़ाते हैं सत्य को स्पर्श करते हैं और उस सत्य द्वारा दिव्य संकल्प की विशालताका या उसके महान् और असंबाधित यज्ञीय कर्म का आनन्द लेते हैं। वरुण द्योतक है विशालता, सत्य और पवित्रता का, प्रत्येक वस्तु जो सत्य से, पवित्रता से, च्युत हो जाती है, वह वरुण की सत्ता से परावृत्त हो जाती है और अपराधी को उसके पाप के दण्ड स्वरूप आघात पहुँचाती है। मनुष्य तब तक जब तक कि वह वरुण के सत्य की विशालता को नहीं पा लेता, यज्ञ-पशु के रूप में विश्वयज्ञ के स्तम्भों में मन, प्राण और शरीर के त्रिविध बन्धनों से बंधा रहता है और स्वामी या उपभोक्ता के तौर पर मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिये ऐसी प्रार्थना बहुत मिलती हैं कि हम वरुण के पाश से, उसकी पवित्रता के रोष से, मुक्त हो जायें। दूसरी तरफ मित्र देवों में अधिक प्रिय है; वह अपनी समस्वरताकी स्थिरताओं द्वारा, उत्तरोत्तर प्रकाशमान धामों द्वारा, मित्रस्य धामभिः, सब को बांध लेता है। उसका नाम 'मित्र' जिसका नाम सखा भी है, सततरूप से द्व्यर्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है, उसके मित्र होने से अन्य देव भी मनुष्य के मित्र बन जाते हैं, क्योंकि मित्र उन सबके अन्दर निवास करता है। अर्यमाके व्यक्तित्वकी स्पष्ट भिन्नता वेद में बहुत कम दिखाई देती है, क्योंकि उसका निर्देश करने वाले स्थल स्वल्प ही हैं। भग के व्यापार अपेक्षा कृत अधिक स्पष्ट रूपमें निर्दिष्ट हुए हैं, और वे विश्व में बाहर तथा मनुष्य के अन्दर दोनों जगह एक से हैं।

सविता को कहे गये श्यावाश्व के इस सूक्त में हमें दोनों बातें मिलती हैं, भग के व्यापार और सविता सूर्य के साथ उसकी एकता; क्योंकि सूक्त सम्बोधित तो किया गया है सूर्य को, सत्य के रचना कारक देव को, पर सूर्य यहां विशेष तौर से भग, आनन्दोपभोग के देवता, के रूप में आया है। भग शब्द का अर्थ है उपभोग या आनन्दोपभोक्ता और यही आशय इस देव-नाम 'भग' में उचित है यह बात इसी सूक्त की ऋचाओं में 'भोजनम्', 'भाग', 'सौभगम्', के प्रयोग से और भी दृढ़तापूर्वक द्योतित कर दी गई है। सविता का अर्थ, हम देख चुके हैं, रचयिता है, पर रचना का मतलब यहां विशेषतया उत्पन्न करना, अव्यक्तावस्था से प्रेरित कर, निकाल कर के व्यक्तावस्था में लाना है। सारे सूक्त में सतत रूप से शब्द के इसी धात्वर्थ को लेकर सारी रचना की गई है, जिसे कि अनुवाद में पूरी तौर से ला सकना असम्भव है। पहली ही ऋचा में इस प्रकार का एक गूढ़ प्रयोग है, क्योंकि 'भोजनम्' के दोनों अर्थ हैं आनन्द और खाद्य सामग्री। और यहां यह आशय देना अभिप्रेत प्रतीत होता है कि "सविता का आनन्द" सोम है, जो कि देवों का भोजन है परम रस है, महान् रचयिता की सर्वोच्च रचना है (सोम भी इसी 'षु' धातु से बना है जिससे कि सविता और इसका अर्थ है उत्पन्न करना, निचोड़ना, रस क्षरित करना) जो कुछ ऋषि चाहता है वह यह है कि वह सब परिचित वस्तुओं में अमृत और अमृतकारक आनन्द का आस्वादन कर सके।

यही वह आनन्द है जो कि रचयिता का, सूर्य सविता का उपभोग है, जो सत्य का सर्वोच्च परिणाम है; क्योंकि सत्य का इस रूप में अनुसरण किया जाता है कि वह दिव्य आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है। यह आनन्द सर्वोच्च है। यह सर्वोत्कृष्ट उपभोग है। यह सब को समुचित रूप से व्यवस्थित कर देता है, क्योंकि एक बार जब आनन्द, सब वस्तुओं में निहित दिव्य आनन्द, प्राप्त हो जाता है तब यह सब विकृतियों को, जगत् की सब बुराई को,

ठीक कर देता है। यह मनुष्यको मार्गकी सब बाधा हटाकर, लक्ष्य पर पहुंचा देता है। यदि वस्तुओं के सत्य और औचित्य द्वारा हम **आनन्द** को पा लेते हैं तो साथ ही **आनन्द** द्वारा हम वस्तुओंके औचित्य और सत्यको भी पा सकते हैं। **भग** नाम व स्वरूपवाले दिव्य रचयिता से ही सब वस्तुओं के दिव्य तथा उचित आनन्दको प्राप्तकर लेने की मनुष्य की क्षमता सम्बन्ध रखती है। जब वह (भग) मनुष्य के मन और हृदय और प्राण-शक्तियों और भौतिक सत्ता का आलिङ्गन पाता है, तब जगत् का आनन्द अपने आपको अभिव्यक्त करता है। ( मन्त्र १ )

यह दिव्य **आनन्दोपभोक्ता** वस्तुओं में, अपने आनन्द के जिस किसी भी पात्र या विषय में, जिस आनन्द को ग्रहण करता है उसे कोई भी सीमित नहीं कर सकता, कोई भी क्षीण नहीं कर सकता, न देव न ही दैत्य, न मित्र न ही शत्रु, न कोई घटित घटना न कोई इन्द्रियानुभव। क्योंकि उसके प्रकाशमान स्वराज्य को, **स्वराज्यम्**—अर्थात् असीम सत्ता में, असीम आनन्द में और 'सत्य' की क्रमान्वित विशालताओं में उसके अपने आपको पूर्णतया धारित रखने को—कोई भी क्षीण, सीमित या आहत नहीं कर सकता। ( मन्त्र २)

इसलिये वही है जो हवि-प्रदाता के लिये सात आनन्दों, **सप्त रत्ना**, को प्राप्त कराता है। वह उन्हें हम पर प्रेरित, सुत कर देता है, क्योंकि वे सब जहां दिव्य सत्ता के अन्दर हैं वहाँ इस संसार में भी हैं, वे हमारे अन्दर भी हैं और जरूरत केवल इस बात की है कि वे हमारी बाह्य चेतना पर प्रेरित कर दिये जांय, उत्पन्न कर दिये जांय। इस सप्तविध आनन्द की समृद्ध और चित्र-विचित्र विपुलता, जो कि हमारी सत्ता के सभी स्तरों पर पूर्णतायुक्त रहती है, सम्पन्न हुवे यज्ञ में **भगसविता** का भाग है अर्थात, उपभोग या हिस्सा है, और यही वह चित्र-विचित्र सम्पत्ति है जिसे ऋषि यज्ञ में दिव्य **आनन्दोपभोक्ता** को स्वीकृत करने द्वारा अपने और अपने साथियों के लिये पाना चाहता है। (मन्त्र ३ )

इसके बाद श्यावाश्व भग से यह प्रार्थना करता है कि वह उसे कृपा करके आज वह आनन्द प्रदान करदे जो कि फलशून्य न हो बल्कि क्रियाशीलता के फलों से लदा हो, आत्मा की प्रजा में प्रचरित हो, **प्रजावत्सौभगम्**। **आनन्द** रचनाशील है, 'जनं' है। अर्थात् वह आनन्द है जो कि जीवन को और विश्व को उत्पन्न करता है; ज़रूरत केवल इस बात की है कि वस्तुयें जो कि हम पर प्रेरित हों वे सत्य द्वारा संकल्पित रचनासे युक्त हों और वह सब जो कि असत्य से; दिव्य सत्य के प्रति अज्ञान के कारण पैदा होने वाले दुःस्वप्न से सम्बध रखता है, **दुष्वप्न्यम्**, दूर हो जाये, हमारी सचेतन सत्ता से निकल जाये। ( मन्त्र ४ )

अगली ऋचा में वह 'दुष्वप्न्यम्' के आशय को और अधिक स्पष्ट कर देता है। जिसे वह चाहता है कि उसके पास से दूर हट जाये वह है सब प्रकार की बुराई, **विश्वानि दुरितनि**। 'सुवितम्' और 'दुरितम्' का वेद में शाब्दिक अर्थ है 'ठीक चाल' और 'गलत चाल'। 'सुवितम्' है विचार और कर्म का सत्य, 'दुरितम्' है भूल या स्खलन, पाप और विपरीतता। 'सुवितम्' है सुखपूर्ण चलन, परम सुख आनन्द का मार्ग; 'दुरितम्' है विपत्ति, कष्ट, भूल और दुश्चलन का सब दुष्परिणाम। वह सब जो कि बुराई है, **विश्वानि दुरितानि**, उसका सम्बन्ध उस दुःस्वप्न से है जिसे कि हमारे पास से दूर हटाया जाना है। **भग** उसे हटाकर उसके स्थान में हमारे पास उसे भेज देता है जो कि अच्छा है, —**भद्रम्**, अच्छा इस अर्थ में कि वह परम सुख के अनुकूल है, अर्थात् दिव्य उपभोग की सब शुभ और मङ्गलकारी वस्तुएें, सत्य क्रिया, सत्य रचना का सुख। [ मंत्र ५ ]

क्योंकि **भगसविता** की रचना में उसके पूर्ण और त्रुटिरहित 'सवन' में ( यज्ञ में ) ('सव', शब्द में दो अर्थ हैं, एक तो उत्पत्ति, रचना और दूसरा रस का क्षरण, देवों को सोम रस अर्पित करना ) मनुष्य **आनन्द** द्वारा पाप व दोष से मुक्त होकर,

अनागसः, अदिति की दृष्टि में निर्दोष होकर, उन्मुक्त आत्मा की अविभक्त और असीम चेतना के योग्य हो जाते हैं। आनन्द उस स्वतन्त्रता के कारण उनके अन्दर विश्वव्यापी होने योग्य हो जाता है। वे इस योग्य हो जाते हैं कि अपने विचार द्वारा आनन्द की सब वस्तुओं को, विश्वावामानि, ग्रहण कर सकें; क्योंकि 'धी' में, उस प्रज्ञा में जो कि ग्रहण करने वाली और क्रमबद्ध करने वाली है, विश्व का सब उचित क्रम रहता है, उचित सम्बन्ध का, उचित प्रयोजन का, उचित प्रयोग का और उचित परिपूर्णताका बोध होता रहता है सब वस्तुओं के अन्दर दिव्य और सुखपूर्ण अर्थ दिखलायी देता है। (मन्त्र ६)

यज्ञकर्त्ता आज जिसे भगसविता के नाम से पवित्र मन्त्रों द्वारा अपने अन्दर ग्रहण करना चाह रहे हैं वह है विश्वव्यापी देव, सत का वह अधिपति जिससे कि सब वस्तुऐं सत्य के रूप में रची गई हैं यह वह रचियता है जिसकी रचना है सत्य, जिसका यज्ञ है मानवीय आत्मामें अपने निजी आनन्द के, अपने दिव्य और त्रुटिरहित सुख के, वर्षण द्वारा सत्य की वृष्टि कर देना। वह सूर्यसविता सत्यके अधिपति के रूप में दोनों के सम्मुख जाता है, रात्रि और उषा के अव्यक्त चेतना और व्यक्त चेतना के, जाग्रत सत्ता और अवचेतन तथा अधिचेतन सत्ता के जिनकी पारस्परिक अन्तःक्रिया हमारी सब अनुभूतियों को रचती है; और अपनी गति में वह किसी को उपेक्षित नहीं करता, कभी बेध्यान नहीं होता, कभी स्खलन को प्राप्त नहीं होता। वह दोनोंके सम्मुख जाता है, अवचेतनकी रात्रिके अन्दरसे दिव्य प्रकाश को निकाल लाता है सचेतनके अनिश्चित या विकृत प्रतिबिम्बोंको उस प्रकाशकी देदीप्यमान किरणों में परिवर्तित कर देता है, और सदा ही विचार उचित रूपमें रखा जाता है। सब त्रुटियोंका मूल है अनुचित विनियोग सत्यका अनुचित रूपमें स्थापन, अनुचित क्रम प्रदान अनुचित सम्बन्ध, समय और स्थान में, विषय और क्रममें अनुचित स्थितिकरण। परन्तु सत्य के अधिपतिमें ऐसी कोई त्रुटि, ऐसा कोई स्खलन, ऐसा कोई अनौचित्यपूर्ण स्थापन नहीं होता। (मंत्र ७, ८)

सवितासूर्य जो कि भग है, असीम के हमारे अन्दर व बाहर के विरचित लोकों के बीच में स्थित होता है। सब वस्तुओं को, जिन्हें कि रचनाशील चेतना के अन्दर उत्पन्न होना है, वह विज्ञान-के अन्दर ग्रहण करता है, वहाँ वह उस ज्ञान के द्वारा जो कि अवतरण करते हुए शब्द को श्रवण करता है और ग्रहण करता है इन्हें इनके उचित स्थान में दिव्य लय के साथ स्थापित करता है और इस प्रकार वह इन्हें वस्तुओंकी गतिके अन्दर प्रेरित कर देता है, अश्वावयति श्लोकेन प्र च सुवाति। जब हमारे अन्दर क्रियाशील आनन्द की प्रत्येक रचना, प्रजावत् सौभगम् इस प्रकार वस्तुओं की त्रुटि रहित लयके साथ ज्ञान द्वारा गृहीत होकर और श्रवण की जाकर, अव्यक्तमेंसे बाहर निकलती है तब हमारी वह रचना भग सविता की रचना होती है, और उस रचना के सब जन्म हमारे बच्चे हमारी सन्तानें, प्रजा, अपत्य, हो जाती हैं आनन्द की वस्तुयें, विश्वा वामानि। यह है मनुष्य के अन्दर भग का कार्य, विश्व-यज्ञ में होने वाला उसका पूर्ण भाग।

# कर्मयोगी

छठा अध्याय

## विकास की प्रक्रिया

विकास-क्रम की किसी अवस्था के अन्त का लक्षण प्रायः यह होता है कि जिस (वृत्ति या संस्कार) को समाप्त हो जाना होता है वह एक बार फिर प्रकट होता है। यह प्रकृति का एक नियम है कि मानवता के अन्दर विद्यमान किसी प्रबल प्रवृत्ति या गहरे जमे हुए कुसंस्कार से, चाहे वह समष्टि में हो या व्यष्टि में, छुटकारा पाने के लिए, पहले उसे भोग के द्वारा थकाना होता है, उसके बाद निग्रह के द्वारा उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना तथा उसे कमजोर करना होता है और, अन्त में, कमजोर हो जाय तो, संयम ( rejection or self-dissociation )अर्थात् निराकरण या आत्मसम्बन्ध-विच्छेद के द्वारा उस से छुटकारा पाना होता है। निग्रह और संयम में भेद यह है कि पहली प्रक्रिया में प्रवृत्ति को, जिस की सत्यता के बारे में कोई संदेह ही नहीं उठाया जाता, जबरदस्ती नियन्त्रित करने और यदि संभव हो तो, कुचल देने के लिए उग्र संघर्ष किया जाता है; परन्तु दूसरी प्रक्रिया में वृत्ति को मर चुकी या मर रही शक्ति के रूप में महसूस किया जाता है, उसके कभी-कभी वापिस लौट आने को पहले घृणा के साथ फिर अधीरता के साथ, अन्त में, उसी मूल वृत्ति को जो कभी सत्ता पूर्ण थी, परन्तु अब निस्सार हो गई है, उदासीनता के साथ उसके केवल भूतप्रेत, पदचिह्न या हलकी गूंजके तौरपर महसूस किया जाता है। इस प्रकार, वापिस लौट आना, इस अवाञ्छनीय और लुप्त हो रही वस्तु से छुटकारा पाने के लिए, प्रकृति की पद्धति का एक भाग है।

जब कोई शक्ति, गुण या प्रवृत्ति अपने शैशव में हो या पूरे जोर पर हो, और जब तब कि उसने अभी उस भोग और पूर्ण सक्रियता को भी, जो कि उसका उचित ग्राह्यभाग है, प्राप्त न कर लिया हो, उस समय संयम करना असामयिक होगा है और निष्फल सिद्ध होगा। जब एक बार कोई वस्तु उत्पन्न हुई है तो उस की जवानी, वृद्धि, भोग, जीवक और अन्तिम क्षीणता तथा मृत्यु अवश्य होगी; जब एक बार प्रकृतिने अपनी सृष्टिको कोई वेग दिया है तो वह आग्रह करती है कि वह वेग स्वाभाविक प्रयोग के द्वारा अपने आप को खर्च करे, पूर्व इसके कि वह खतम हो जाय। वृद्धि या गति को, बिना अवसर आये बलपूर्वक रोक देना निग्रह है, जो कि कुछ समय के लिए सफल हो सकता है किन्तु सदाके लिए नहीं। गीता में कहा हैकि सब वस्तुएं अपने स्वभाव से प्रेरित होती है अपने स्वभाव को ही लौट कर आती है निग्रह ( repression ) निरर्थक है। निग्रह से जो कुछ होता है वह यह कि बिना समय आये जोर जबरदस्ती के साथ दबा दी हुई चीज मरती नहीं है—कुछ समय के लिये उस प्रकृति में पीछे लौट जाती है जिसने उसे आगे भेजा था, वहाँ अत्यधिक शक्ति संचित कर लेती है और उस साधिकार भोगकी, जिससेकि इसे इन्कार कर दिया था, शिकार की तरह तलाश करती हुई असाधारण उग्रता के साथ प्रकट होती हैं। जब हम पहले पहल योग के मार्ग पर कदम रखते हैं तो बुरे संस्कारों ( associations ) से छुटने के लिए हम जो प्रयत्न करते हैं उस में हम यही बात देखते हैं। अगर हमारी प्रकृति में क्रोध प्रबल तत्त्व है, तो हम उसे थोड़े समय के लिए कोरे बलप्रयोग के द्वारा दबा सकते हैं और इसे आत्म नियन्त्रण कह सकते हैं परन्तु अन्त में, अतृप्त प्रकृति हमें हरा देगी और

यह विकार आश्चर्यजनक शक्ति को लिए हुए अप्रत्याशित क्षण में हम पर लौट आयगा। केवल दो ही तरीके हैं जिन से कि हम विकार को जो कि हमें गुलाम बनाने की चेष्टा करता है, निश्चित जीत सकते हैं। एक तो अन्य भाव के स्थापनकी शैलीसे, अर्थात् जब कभी वह उठे तब उसके स्थानपर विरोधी गुणको ला बैठाने से,—क्रोधके स्थानपर क्षमा प्रेम या सहिष्णुता के विचारों को, काम के स्थान पर पवित्रता पर ध्यान एकाग्र करने को, अभिमान के स्थान पर नम्रता और अपने अवगुणों या अपनी तुच्छता के विचारोंको; यह राजयोगकी विधि है परन्तु यह कठिन, धीमी और अनिश्चित विधि है; क्योंकि प्राचीन परम्परायें और योग का आधुनिक अनुभव दोनों ही यह दिखाते हैं कि वे लोग जिन्होंने कितने ही बरसों से उच्चतम आत्म-प्रभुत्व प्राप्त किया हुआ था, उस चीज की उग्रतापूर्ण वापिसी से सहसा आश्चर्य चकित रह गये जिसे उन्होंने मृत या सदा के लिए वशवर्ती समझ लिया था। फिरभी, यह स्थापन-शैली यद्यपि धीमी है, प्रकृति के साधारणतम तरीकों में से एक है और अधिकतर इस उपाय के द्वारा ही जिसेकि बहुधा अनजाने या थोड़ा-बहुत जानेहुए प्रयुक्त किया जाता है, मनुष्य का चरित्र एक जीवन से दूसरे जीवनमें या एक जीवन-काल की अवधि मेंभी बदलता और विकसित होता है। यह शैली चीजों को उनके बीज तक नष्ट नहीं करती, और वह बीज, जिसे योग से जला कर राख नहीं कर दिया जाता, फिर फूट निकलने और पूर्ण तथा शक्तिशाली वृक्ष के रूप में पनप उठने में सदा समर्थ रहता है। दूसरा तरीका है विकार को भोग ( enjoyment ) भोगने देना जिससे कि जल्दी छुटकारा हो जाय। जब वह अति भोग के द्वारा तृप्त और श्रान्त कर दिया जाता है, तो वह दुर्बल और जर्जरित शक्ति वाला हो जाता है और उसके बाद एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो कुछ समय के लिए विरोधी शक्ति प्रवृत्ति या गुण को स्थापित कर देती है। अगर योगी उस अवसर को निग्रह के लिए ग्रहण कर लेता है, तो प्रत्येक उपर्युक्त अवसरपर उस प्रकार दुहराया हुआ निग्रह इतना अधिक प्रभाव-जनक होजाता है कि उस वृत्ति के बल और जीवन-शक्ति को इतनी पर्य्याप्त मात्रा में न्यून कर देता है कि अन्तिम प्रक्रिया रूप संयम का प्रयोग किया जासके। भोग और प्रतिक्रिया की यह विधिभी प्रकृति की एक प्रिय और सार्वभौम विधि है, परन्तु यह अपने आप में कभीभी पूर्ण नहीं है और अगर इसे स्थिर शक्तियों या गुणों पर प्रयुक्त किया जाय तो विरोधी प्रवृत्तियों के उस उतार-चढ़ाव-खेल को जारी कर देती हैं, जोकि प्रकृतिकी क्रियाओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है परन्तु आत्मप्रभुत्व की दृष्टि से व्यर्थ और अनिर्णायक है। यह विधि केवल तभी प्रभाव-जनक हो पाती है जब कि इस के बाद संयम का प्रयोग किया जाता है। योगी वृत्ति को केवलमात्र प्रकृति के खेल के रूप में देखता है, जिसके साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है, जिसका कि वह केवल द्रष्टा है; क्रोध काम या मद उसका नहीं है, वह विश्वजननी का है जो अपने प्रयोजनों के लिए उसे पैदा करती और उसे शान्त करती है। तो भी, जब वृत्ति प्रबल, प्रभुत्व जमाने वाली और अक्षीण शक्ति वाली होती है तब यह मनोभाव सत्यहृदयता के साथ धारण नहीं किया जा सकता और सचाईके साथ इसे अनुभव किये बिना बौद्धिक तौरपर इसे धारण करने का प्रयत्न करना मिथ्याचार झूठा आचरण या मक्कारी है। जब कि वह ( वृत्ति ) बाहर के भोग और निग्रह से कुछ कुछ निःसत्त्व हो चुकी हो, तभी प्रकृति, आत्मा या पुरुष की आज्ञा से, अपनी पैदा की हुई वस्तुके साथ यथोचित बर्ताव कर सकती है। वह सर्वप्रथम, घृणा जैसे स्थूल रूपी वैराग्य द्वारा उसके साथ पेश आती है, परन्तु यह भाव इतना उग्र है कि स्थायी नहीं रह सकता; तोभी यह उस वृत्ति के कारण से मुक्त होने की गहरी इच्छा के रूपमें अपना एक संस्कार पीछे छोड़ जाता है, जो कि विकार की प्रत्यावृत्ति और अल्पकालिक राज्य के बाद भी जीवित बचा रहता है। तदनन्तर उसकी प्रत्यावृत्ति को अधीरता के साथ किन्तु

असहिष्णुता के किसी तीव्र भावना के बग़ैर देखा जाता है। अन्त में परम उदासीनता प्राप्त हो जाती है और प्रकृति की साधारण प्रक्रिया के द्वारा प्रवृत्ति के अन्तिम निष्क्रमणका उस संयमीकी सच्ची भावना में अनुभव किया जाता है जिसे यह ज्ञान है कि वह साक्षी आत्मा है और उसने किसी वृत्ति के निरोधके लिए उससे केवल अपना सम्बन्ध विच्छेद करना है। उच्चतम अवस्था मुक्तिको प्राप्त कराती है या तो लयके रूप में जबकि वृत्ति सर्वथा और सदाके लिए नष्ट हो जाती है, या फिर स्वतन्त्रता के रूपमें जबकि आत्मा जानती है कि वृत्ति ईश्वरकी लीला है और वह उसे उसपर छोड़ देती है कि आया वह (ईश्वर) वृत्ति को बाहर निकाल फेंकेगा या उसे अपने उद्देश्यों के लिये इस्तेमाल करेगा। यह कर्मयोगी की मनोवृत्ति है उस कर्मयोगी की जो कि अपने आपको परमेश्वर के हाथोंमें सौंप देता है और केवल उसके लिये ही काम करता है, यह जानते हुवे कि यह ईश्वर की ही शक्ति है जो उस में काम करती है। आत्म समर्पण की इस वृत्ति का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति का वह सर्व-प्रभु भार सम्भाल लेता है और गीता की प्रतिज्ञा के अनुसार अपने सेवक और प्रेमी को सब पाप और बुराई से मुक्त कर देता है। उस अवस्था में वृत्तियां आत्मा पर प्रभाव डाले बिना शरीर की मैशीन में काम करती रहती हैं और केवल तभी काम करती हैं जब कि वह उन्हें अपने प्रयोजनों के लिये उभारता है। यह है निर्लिप्तता, लीला के अन्दर पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति।

समष्टि के लिये भी वही नियम है जो कि व्यष्टि के लिये है। अन्तःप्रेरित अवलोकन के चक्षु ने देख लिया है कि मानवीय विकास की प्रक्रिया भी वही है जो कि शेर और बन्दर बनाने की प्रक्रिया है। कभी मनुष्य जाति में क्रूरता, कामवासना, दुष्टता पूर्ण विनाश, यातना पहुंचाना, मूर्खता, पाशविकता और अज्ञान उच्छृङ्खल थे; उन्होंने पूर्ण भोग प्राप्त किया; फिर धर्म और दर्शन की उन्नति के कारण, तृप्ति के समयों में जैसा कि यूरोप में ईसाई युग के प्रारम्भ का समय था, उनका स्थान कुछ तो दूसरी चीज़ों ने लेना शुरू कर दिया और कुछ उन्हें नियन्त्रण में लाया जाने लगा। जैसा कि ऐसी चीजों का नियम है, वे सदा ही न्यूनाधिक उग्रता के साथ फिर लौटती रही हैं और उन्होंने अपने आपको पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये कम या अधिक सफलता के साथ चेष्टा की है। अन्त में उन्नीसवीं सदी में कुछ समय तक ऐसा मालूम दिया मानो कि उन में से कुछ शक्तियां, कम से कम उस समय के लिये निःसत्व हो चुकी हों और संयम का तथा विकास से क्रमशः विसर्जन का समय वास्तव में आ पहुँचा है। ऐसी आशाएं सदा ही फिर-फिर बंधा करती हैं और अन्त में उनका अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेना भी सम्भवनीय है, परन्तु पूर्व इसके कि ऐसा हो एकबार वृत्तियों का फिर लौटना अपरिहार्य होता है। इसी पशुत्व में पड़ने के चिन्ह ( और यह प्रवृत्ति बढ़ रही है ) आज हम योरुप और अमरीका के पदार्थ-विद्या ( सायंस ), प्रगति, सभ्यता और मानवोपकारवाद के बाह्य सुन्दर स्वरूप के पीछे बहुत देखते हैं। और हम इसी के ही अधिक चिन्ह आने वाले युग में देखेंगे। राजनीति और समाज में भी ऐसा ही नियम लागू होता है। मानव जाति का राजनीतिक विकास किन्हीं विशेष दिशाओं का अनुसरण करता है जिनका बिल्कुल नया मन्त्र-रूप फ्रांस की राज्यक्रान्ति के आदर्श-वचनों—स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृभाव ने पेश किया है। परन्तु पुरानी दुनिया की शक्तियाँ, स्वेच्छाचारी शासनकी शक्तियां परम्पराप्राप्त विशेषाधिकार और दूसरों को स्वार्थ पूर्ण शोषण करने की शक्तियां, भ्रातृभाव-नाशक विरोध, आवेशयुक्त आत्मबहुमानी प्रतियोगिता, की शक्तियां अपने आप को पृथ्वी के सिंहासनों पर पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिये सदा संघर्ष कर रही हैं। एक दृढ़ प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन संसार के अनेक भागों में स्पष्ट दृष्टि-गोचर हो रहा है और वह शायद इङ्गलैंडसे अधिक और कहीं नहीं, जो कभी अपने आप को प्रगति और स्वाधीनता का अगुआ समझता

था। पुरानी वृत्तिकी ओर लौट जाने का प्रयत्न उन आवश्यक प्रत्यावर्त्तनों में से एक प्रत्यावर्त्तन है जिन के बिना उस वृत्तिको इतनी पूरी तरह से खाली नहीं किया जा सकता कि विकास से बाहर निकाल डाला जाय, वृत्तियां केवल पराजित किये जाने और फिर कुचले जाने के लिये ही उठा करती हैं। दूसरी तरफ, जनतन्त्रीय प्रवृत्ति की शक्ति कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो क्षीण हो गई हो प्रत्युत एक ऐसी शक्ति है जो अभी पूरी तरहसे प्रकट भी नहीं हुई है। ऐसी शक्ति नहीं है जो अपने भोगका अधिकांश भाग प्राप्त कर चुकी है परन्तु एक ऐसी शक्ति है जो अभी तेज-सम्पन्न, अतृप्त और पूर्णता के लिये उत्कण्ठित है।

भूत काल में इसे दबा देने के प्रत्येक प्रयास ने आखिरकार दबाने वाली शक्ति पर प्रतिघात किया और जनतन्त्रीय भावना को नए सिरे से भयानक, क्षुधार्त और अतृप्त रूप दे दिया, इसके "स्वाधीनता, समानता, और भ्रात-भाव" के सौम्य आदर्श में "अथवा मृत्यु" की भयानक वृद्धि और कर दी।

यह सम्भव कम ही है कि जनतन्त्रीय भावना का निकटवर्ती भविष्य उस स्वाधीनता प्रेमी के, जो अराजकता की स्वतन्त्रता चाहता है, चरम स्वप्नों को पूरा कर देगा, न ही उस समानता-प्रेमी के, जो साम्यवाद की मृतप्राय समस्वरता स्थापित करने की कोशिश करता है, और न ही उस भ्रातृ-भाव-प्रेमी के, जो विश्वव्यापी समष्टि-सत्ता-वाद की कल्पना करता है। परन्तु इस महान् आदर्श का कोई एक संगठन, निःसन्देह, मानव जाति का निकट भविष्य है। स्वेच्छा-शासन, असमानता और बे लगाम प्रतियोगिता की पुरानी शक्तियां जब एक बार फिर उखाड़ फेंकी जा चुकेंगी फिर उस के बाद उन पर क्रमिक संयम की विधि बरती जायगी जिसके द्वारा कि, उन का जो कुछ अंश बच रहा है, वह मृत वस्तु के विलीयमान चिन्हों के तौर पर समझा जायगा तथा और आगे उग्र दमन के बिना उसे धीमे-धीमे और स्थिरता के साथ वर्तमान सत्ता से बहिष्कृत कर रूपान्तरित कर दिया जायगा।

---

जहां मनुष्य के लिए यह अच्छा नहीं है कि वह अपनी वासनाओं और आवेगों के तूफान में बेपतवार के जहाज की तरह बहता रहे या कभी शरीर की तामसिकता और कभी शारीरिक आवेगों का गुलाम बना रहे, वहां यह भी किसी तरह अच्छा नहीं है कि उसकी मनोमय सत्ता उसके निरंकुश और अनियंत्रित विचारों के बीच टेनिस के गेंद की तरह इधर से उधर लुढ़कती रहे। मैं जानता हूँ कि यह अधिक कठिन है, क्योंकि मनुष्य मुख्यत: मनोमय प्रकृति की रचना होने के कारण अपने-आप को अपने मन की गतियों के साथ तदाकार कर लेता है और मन-भंवरके चक्कर और लपेटों से अपने-आपको एकाएक जुदा नहीं कर सकता। उपेक्षया उसके लिए यह सहज है कि वह शरीर पर, कम से कम अपनी शारीरिक क्रियाओं के कुछ भाग पर नियंत्रण कर सके; प्राणमय आवेशों और इच्छाओं पर मन का नियंत्रण यद्यपि बहुत सहज नहीं है परन्तु एक संघर्ष के बाद यह मजे में संभव हो जाता है; किन्तु जिस प्रकार तांत्रिक योगी नदीके ऊपर बैठते हैं उस प्रकार विचारों का भंवर के ऊपर बैठना सुसाध्य नहीं है। फिर भी ऐसा किया जा सकता है; ऐसे सब मनुष्यों को जिनका मनोमय विकास हो चुका है, जो औसत मनुष्यसे कुछ ऊपर उठ चुके हैं, उन्हें किसी-न-किसी तरह अथवा कम-से कम किसी विशेष समय और किसी विशेष प्रयोजनके लिए अपने मन के दो भागों को पृथक् करना पड़ता है; एक है सक्रिय भाग जो विचारों का कारखाना है और दूसरा है शान्त और प्रभुत्वपूर्ण भाग जो एकही संग साक्षी भी है और शक्ति भी है, वह इन विचारों को देखता रहता है, उनका निर्णय करता है, वर्जन करता है, अपने आप में से निकाल बाहर करता है, स्वीकार करता है, सुधार और परिवर्त्तन की आज्ञा देता है, मन के लोक में मालिक है, साम्राज्य को चलाने में समर्थ है।

'योग के आधार'

# उत्तम ज्योति

किसी निकटवर्त्ती ज्योति और शक्ति का अवतरण पृथ्वी के दुःख को दूर नहीं कर सकता। उससे कुछ सामाजिक उपशमन हो सकता है, एक हद तक अन्यमनस्क हुआ जा सकता है, पर उससे रोग का आमूल निराकरण, पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति होगी या नहीं, इसमें संदेह ही है।

ज्योति और शक्ति जितने ही ऊंचे स्तर की होगी उतनी ही अधिक रोग निवारण की क्षमता वह अपने साथ ले आयगी।

इसलिए आवश्यकता है समय की, निकटवर्त्ती ज्योतिष्क-गण कुछ मिनटों में ही अपना प्रकाश पृथिवी पर पहुंचा देते हैं। पर दूरवर्त्ती अतिविशाल ज्योतिष्क-मण्डल को अपना प्रकाश पहुँचाने के लिए हजारों वर्षों की आवश्यकता होती। और अतिदूरवर्त्ती कुछ ऐसे भी ज्योति-कुण्ड हैं जिनका प्रकाश सृष्टि के आदि-काल से अबतक पृथ्वी पर पहुँचा ही नहीं।

जिस ज्योति और शक्तिकी प्रतीक्षा में हम बैठे हैं वह अत्यन्त दूर होने के कारण अभी तक पृथ्वी पर नहीं पहुंची है। किन्तु वह आ रही है, नित्य निरन्तर निकटतर आ रही है। अव्यर्थ नियति की तरह आ रही है—एक दिन वह यहां पहुंचेगी ही।

* * *

किन्तु इस बीच ? मनुष्य क्या तबतक बचा रहेगा ? पृथ्वीका लोप नहीं हो जायगा ? दुःख-दैन्य, रोग-शोक, महामारी, युद्ध-विग्रह जिस तरह बढ़ते जा रहे हैं उसे देखते हुए तो ऐसा नहीं मालूम होता कि मनुष्य अनिश्चित काल तक बचा रह सकेगा। और पृथ्वी भी तो अनिवार्य रूप से ध्वंस के पथ पर ही अग्रसर हो रही है, उसे पीछे लौटाने का तो कोई उपाय ही नहीं दिखाई देता। यह सुजला, सुफला, मलयजशीतला, शस्यश्यामला, जीवधारिणी, धरित्री, शाश्वत काल तक ऐसी ही नहीं रहेगी।

मनुष्य भला अपने क्षीण जीवन और दीन-हीन सामर्थ्य को लेकर विश्व की इस अपरिमेय प्रलय-शक्ति के विरुद्ध कितने दिनों तक टिक सकेगा ?

मा भैः। मनुष्य यदि कई लाख वर्षों से दुर्गती सहता हुआ आ रहा है तो और भी कई लाख वर्षों तक दुर्गति सहने की क्षमता उस में है-ऐसी आशा की जा सकती है। पृथ्वी भी कुछ सौ या हजार वर्षों में ही फटकर टुकड़े टुकड़े नहीं हो जायगी।

* * *

एक बात और ! मनुष्य शरीरधारी जीव है, अज्ञान की संतान है। अज्ञान की आबहवा उसके लिए सहज और स्वाभाविक परिमंडल है। चाहे जितना भी क्लेशपूर्ण क्यों न मालूम हो वही है उसका अपना क्षेत्र, अपना घर द्वार। अभी हठात् यदि—भगवान् की कृपा से—इस मनुष्य को उसके अपने क्षेत्र से, घरद्वार से एकदम बाहर निकालकर ज्योति-मंडल में ले जाकर बैठा दिया जाय तो वह तुरत ही मुरझा कर मर जायगा।

हम चाहे जितने अस्थिर, चंचल और व्याकुल क्यों न हों, अभी हम उच्चतम ज्योति और शक्ति को धारण करने के योग्य नहीं बन सके हैं, पृथिवी भी अभी स्वर्ग राज्य होने के उपयुक्त नहीं बन सकी है।

ऊर्ध्वतम ज्योति और शक्ति परम ज्ञानमयी है—वह जानती है कि कब किस प्रकार और कितनी मात्रा में नीचे उतर आने से वह पृथ्वी के लिये, मनुष्य के लिये प्रलयंकर न होकर कल्याण कर होती है। वह आ रही है अव्यर्थ रूप में, बस यही पर्याप्त है।

इस दिव्य स्पर्श को प्राप्त करने से पहले मनुष्य लोप नहीं हो जायगा पृथ्वी भी विध्वंस नहीं हो जायगी।

कारण, मनुष्य के, पृथ्वी के, अस्तित्वका पूरा पूरा अर्थ ही है उस दिव्य स्पर्श को प्राप्त करना और उस दिव्य स्पर्श को अपने अन्दर मूर्त्तिमान करना।

दुःख के भार का, पाप का, अंधकार का आविर्भाव मनुष्य को, पृथ्वी को ग्रसने के लिए नहीं हुआ है, बल्कि स्वयं ग्रसित होने के लिए—परम सुख कल्याण और ज्योति में रूपान्तरित होने के लिए हुआ है।

—नलिनीकान्त गुप्त

# शब्दों की शक्ति

शब्दों में एक महान सृजनी शक्ति है। जब हम सच्चे विश्वास और अभीप्सा के साथ शब्दों का उच्चारण करते हैं तब वे कभी व्यर्थ नहीं जाते। हे मां! जब हम तेरी प्रार्थना के लिये शब्दोंका व्यवहार करते हैं तब वे हमारे आन्तरिक रूपान्तर को सिद्ध करनेवाली एक महान् शक्तिके रूपमें परिणत हो जाते हैं।

वास्तवमें हम यह ठीक-ठीक अनुभव नहीं करते कि शब्दों में कितनी महान् शक्ति निहित है और इस कारण अपनी मूर्खता और असावधानीके वश उनका व्यर्थ और अनुचित उपयोग करते हैं। हम इस तरह न केवल शब्दोंकी शक्तिको क्षीण करते हैं बल्कि दूसरों के लिये तथा साथ ही अपने लिये विपत्ति को निमंत्रण देते हैं। वास्तव में अपने जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम सबसे पहले अपनी वाणी को संयत और सुव्यवस्थित करना सीखें।

शब्द हमारी सभी बाहरी क्रियाओं और व्यक्त रूपों के प्रतीक हैं। ये हमारे विचारों और भावों को एक निश्चित रूप प्रदान करते हैं। जब ये हृदय की नीरवतामें उच्चारित होते हैं तब ये हमारे तथा दूसरों के जीवन पर बड़ा गहरा असर डालते हैं। अगर हम शब्दों का उचित व्यवहार सीख जायं तो हम जीवन का भी उचित व्यवहार सीख जायंगे।

हे मां! ऐसी कृपा कर कि मैं सदा अपने शब्दों और वाणीका उचित व्यवहार करूं; मेरे मुँहसे कभी एक भी निरर्थक या अनावश्यक शब्द न निकले; अपने हृदयकी नीरवता में भी मैं कभी कुछ भी अश्लील या असत्य उच्चारण न करूं; मेरे सभी शब्द पवित्र और सत्य हों; मेरी वाणी तेरे गुणगान और तेरी सेवा केलिये पूर्ण रूपसे समर्पित हो जाय।

हे मां भगवती! जब मेरी वाणी, जब मेरे सभी शब्द इस तरह संयत और पवित्र हो जायंगे तब ये सीधे तेरे यंत्र के रूपमें, तेरी इच्छा को प्रकाशित करने वाले साधनोंके रूपमें तेरे द्वारा व्यवहृत होंगे और केवल तभी हमारे अन्दर शब्दों की सृजनी शक्ति पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त होगी।

—अनिलवरण राय

से ही आरंभ होता है। हमारे अन्दर सत्य क्या है? क्या देह सद्वस्तु है? नहीं। तब क्या प्राण है? नहीं। मन है? नहीं। कारण ये सभी नश्वर, चञ्चल, क्षणिक हैं। सत्य का अर्थ है सत्, जो है, जो था और जो रहेगा, रहना ही जिसका धर्म है। जब हम इस प्रकार 'नेति नेति' के द्वारा असत्प्रत्यय का पूर्ण रूपसे त्याग करते हैं, जब हम गभीरता के साथ यह अनुभूति प्राप्त करते हैं कि शरीर, प्राण और मन सत्य नहीं हैं, इनके परे कुछ है जो अव्यभिचारिणी सत्ता है, जो सत् है, जो सत्य है, तब हमारे अन्दर विवेक जागता है। विवेक एक प्रकारकी स्वाभाविक प्रेरणा के द्वारा सत्य और मिथ्याका भेद दिखा देता है। विचार मिथ्या प्रतीति का खण्डन करता है और विवेक सद्वस्तु का आभास प्रदान करता है—केवल आभास, क्योंकि हमारे निगूढ़ सच्चे 'अहं' का जो चैतन्य है वह एकदम बुद्धिग्राह्य है ही नहीं। बुद्धि के द्वारा हम केवल उसके भावको ही देख पाते हैं। इस भावको अपनी अनुभूति में वस्तुतंत्र करना ज्ञानयोगका द्वितीय स्तर है। इस स्तरमें साधक को इस भावके साथ परिचय करना होता है, मन-ही-मन उसे गूंथना होता है और उसमें एकाग्र और तन्मय हो जाना होता है। इसी बातको ज्ञानयोगी की भाषा में यों कहेंगे कि सत्यको, आत्माको प्राप्त करने के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने की आवश्यकता है। सतत मन लगाकर सुनो सत्यमंत्र, सत्यका नाम, उसकी संज्ञा और उसका परिचय; अपनी विचारधारा को, मन को सर्वदा उसी में नियोजित रखो; उसीके अन्दर डूब जाओ। इस प्रकार उस परम वस्तु के विषयमें विचार करते-करते, केवल सत्-सत्ताकी प्रतीतिके अन्दर निवास करते-करते क्रमशः हमारी सारी बाह्य प्रतीति नष्ट हो जायगी, देह, प्राण और मनकी क्रिया, यह मिथ्या मरीचिका दूर हो जायगी और शाश्वत गुहास्थित आत्मा समुदित, जागरित हो उठेगा। उस समय साधकको अन्य किसी प्रकारकी चेतना नहीं रहेगी, वह उस समय तुरीय अवस्थामें स्थित हो जायगा, वह शुद्ध, मुक्त, बुद्ध हो जायगा। उस समय जगत्के ज्ञानसे, इन्द्रियों के ज्ञानसे निर्विशेष मुक्ति लाभ कर वह कैवल्यको, ब्रह्मसिद्धिको प्राप्त होगा।

ज्ञानयोगकी सबसे बड़ी देन यही ब्रह्म, यही सच्चिदानन्द है—वह सत् जिसपर सारी सत्ता निर्भर करती है, वह चैतन्य जो समस्त ज्ञानका मूल है, वह आनन्द जो सुख दुःखके अन्दर अन्तःसलिला फल्गु नदीके समान प्रवाहित होता रहता है। ज्ञानयोग मनुष्यको साक्षात्कार कराता है उसकी गम्भीरतम आत्मवस्तु का, जो सब प्रकार की सीमा, खण्डता और स्थूलतासे परे एक अनिर्वचनीय पूर्णत्व, एकत्व है, जो नित्यसत्य है, जो अपरिणामी, विरोधरहित, शाश्वत, सनातन है, जहां शोक नहीं, मोह नहीं, अतृप्ति नहीं, द्वन्द्व नहीं। परन्तु ज्ञानयोगकी कमी यह है कि उसने मनुष्यको तुरीय, अतीन्द्रिय वस्तुके अन्दर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करते हुए मनुष्यके तीनों इहलोकोंको, उसकी इन्द्रियोंको एकदम तुच्छ, त्याज्य बना दिया है। यह बात ठीक है कि देह, प्राण और मनमें असत्य, अनृतकी लीला चल रही है, परन्तु ये पूर्णतया असत्य, अनृत नहीं हैं। इनको भी सच्चिदानन्द-तत्त्वके द्वारा पुनःगठित किया जा सकता है। इस बातको ज्ञानयोगियोंने नहीं समझा है। मूल सत्य की खोज करते हुए वे इस बातको भूल ही गये हैं कि उसी सत्य की शाखा-प्रशाखा और फल-फूलसे सुशोभित यह स्थूल दृश्य मूर्त्ति भी है। खण्डको, सीमाको उन्होंने अवश्य ही दूर कर दिया है, परन्तु उसके साथ ही उन्होंने वैचित्र्यको भी खो दिया है। एक को उन्होंने पाया है, परन्तु एक का ही जो यह बहुत्व है उसे उन्होंने खो दिया है। उन्होंने एकीकरण को तो समझा है, पर समीकरणको नहीं समझा है। हम पूर्णयोग के साधक एकको चाहते हैं क्योंकि एक ही मूल आधार है। परन्तु हम उस एकको बहुमें प्रकाशित करेंगे, ब्रह्मको देह, प्राण और मनमें जाग्रत करेंगे। ज्ञानयोग ने एक और बहु, ब्रह्म और जगत्, अतीन्द्रिय और इन्द्रियके बीच जो एक दुर्भेद्य प्राचीर खड़ी कर दी है उसे हमें तोड़ डालना होगा और

दोनोंके मिलन-स्थान, सामंजस्य-तत्त्वको ढूंढ निकालना होगा।

ज्ञानयोगी यही भूल करते हैं कि वे अपने ही अस्तित्व के अन्दर ब्रह्म को प्रकट देखते हैं, एक मात्र वहीं ब्रह्मको प्राप्त करना चाहते हैं। यदि हम अपनी सत्ताको जगत्के केन्द्रके रूपमें न देख जगत् की अन्यान्य वस्तुओं को अपने चैतन्य की छायाके रूपमें या मायाके खेलके रूपमें ग्रहण न कर दूसरों की सत्ताके अन्दर भी ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त कर सकें, प्रत्येक व्यष्टिगत चैतन्यके अन्दर ब्रह्मकी पूर्ण स्थिति का साक्षात्कार प्राप्त कर सकें तो फिर जगत् के बाहर नहीं, जगत्के भीतर भी हम उसी ब्रह्मको प्राप्त करेंगे। उस समय हम समस्त द्वैतके अन्दर अद्वैतका अनुभव प्राप्त करनेके कारण यह समझ जायेंगे कि ब्रह्म और जगत्के बीच जिस व्यवधान की कल्पना मायावादियों ने की है, वह वास्तव में नहीं है।

वास्तवमें ब्रह्मसत्ताका जो चैतन्य है उसी पर ज्ञानयोगियों की दृष्टि पड़ी है। इस चैतन्य का धर्म जो प्रकाशित होना, विकीर्ण होना, विस्फुरित होना है उसको अर्थात् शक्तिको वे नहीं समझ सके हैं—चित् और तपः एक ही वस्तु हैं और इस तपः से सृष्टि होती है। उन्होंने केवल चैतन्य के ऊपर ही विशेष जोर दिया है और इस कारण निष्क्रिय या अक्षर ब्रह्मको प्राप्त किया है। परन्तु चैतन्यके अन्दर जो प्रकाशात्मिका प्रेरणा, जो उद्गमनशीला शक्ति—स पर्यगात्—निहित है, उसके ऊपर यदि हम ध्यान दें तो हम देखेंगे कि ब्रह्म ही कर्मशील हुए हैं, अचल, स्थाणु ही अपने अचलत्व, स्थाणुत्वको अक्षुण्ण रखते हुए गतिके अन्दर, परिणामके अन्दर प्रकट हुए हैं। ब्रह्मकी ही स्वरूप-सत्ता से यह जगत् निकला है, उसी में प्रतिष्ठित है, सच्चिदानन्दकी परम शान्तिका आश्रय लेकर विश्वकी शक्ति चंचल हो रही है, नित्य लीला कर रही है। इस प्रकार यदि हम ज्ञानयोगकी साधना करें तो हम देखेंगे कि एकमेवाद्वैतं, शान्तं-शिवं सुन्दरं, जगत्की प्रत्येक वस्तुमें, प्रत्येक गतिमें प्रस्फुटित हो रहा है। उस समय हम अपने विचार, अपने भोग, अपने कर्म-जीवन को भी एक प्रकार की आन्तरिक प्रसन्नता, विमलता, स्वच्छता, शान्ति और मुक्तिके प्रदीप्त चैतन्य, अखण्ड ज्ञानके ऊपर प्रतिष्ठित कर सकेंगे। उस समय हमें साधारण जीवनका त्याग करनेकी जरूरत न होगी, जगत् के कर्मसे दूर हटनेकी आवश्यकता न होगी, बल्कि उस समय हम इन सब को ब्रह्मज्ञान, ब्राह्मी स्थितिका सुन्दर लीलाविलास बना लेनेमें समर्थ होंगे।

—नलिनीकान्त

---

बुद्धि के द्वारा जानना समझ लेना मात्र है और यह (ज्ञान-प्राप्ति में) एक अच्छा प्रारम्भ हो सकता है, या, यह न भी हो और नहीं ही होगा अगर ज्ञान में सत्यहृदयता न हो, सङ्कल्प में आन्तरिक साक्षात्कार के लिए आवेग न हो, अन्तरात्मा पर कोई प्रेरक बल न हो, आत्मा में पुकार न हो: क्योंकि इस का यह अर्थ होगा कि मस्तिष्क ने बाहरी तौर पर समझ लिया है, किन्तु आन्तरिक तौर पर अन्तरात्मा ने कुछ नहीं देखा है। सत्य ज्ञान है आन्तरिक सत्ता से जानना, और जब आन्तरिक सत्ता को प्रकाश का स्पर्श प्राप्त होता है, तब यह, जिसे इस ने देखा है उस का आलिङ्गन करने के लिए, ऊपर उठती है; यह उसे अधिगत करनेको उत्कण्ठित हो जाती है, यह उसे अपने में मूर्त्तिमान् करने और अपने आप को उस के अनुरूप ढालने का प्रयास करती है, यह अपने 'दृश्य-स्वरूप' की गरिमा-महिमा के साथ एक हो जाने का यत्न करती है।

—एसेज़ ऑन दि गीता, भाग २, पृ० ८३-८४—श्रीअरबिन्द

---

# श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

(शेष भाग)

इस प्रकार पूर्णयोग में जीवन के दिव्य भोग के आदर्श को स्वीकार किया गया है। यहाँ यह फिर से याद दिलाना उचित प्रतीत होता है कि भोगका अर्थ कामना के वशीभूत होकर अहंता से प्रेरणा पाकर जो अविद्यामय, वासनाजन्य भोग सामान्य लोग करते हैं वह नहीं है। इस भोग का अर्थ है दिव्य आध्यात्मिक भोग। भगवान् के समान पूर्णयोग का सिद्ध भी व्यक्ति और विराट् दोनों प्रकार के जीवनों को स्वीकार करके उनमें भागवती पूर्णता रूपी पुष्प को भगवान् की इच्छा के अनुरूप विकसित करता है और उस से उत्पन्न हुए आनन्द का उपभोग करता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष प्राप्त हो जाय और विज्ञान की भूमिका पर अधिकार हो जाय तथा दिव्य जीवन की मुक्ति भी मिल जाय, लेकिन इन सबका उपयोग क्या है? मानव मन के स्तर पर रहें अथवा विज्ञान की भूमिका को प्राप्त करें इस से हुआ क्या? सब से पहले तो, प्रभुप्राप्ति लाभालाभ के लिये नहीं की जाती। मानव के अन्तरात्मा की यह ऐसी अनिवार्य आध्यात्मिक भूख है जो लाभालाभ या उपयोगिता के विचार से परे है। दिव्य जीवन का—श्रीकृष्ण की मधुर वंसी का—स्वर सुन पड़ते ही वृन्दावन की गोपियों की तरह मानव का अन्तरात्मा—उसमें का चैत्यपुरुष—उस की खोज में बाहर निकले बिना रह नहीं सकता।

लेकिन इस गूढ़ तत्त्व को एक ओर रख कर केवल बुद्धि द्वारा यत्न करनेसे भी हमें मालूम होगा कि विज्ञान की भूमिका में भगवान् और उनकी महाशक्ति दोनों प्रत्यक्ष होते हैं; और मन, प्राण तथा शरीर की भूमिकाओं में उनकी स्थापना होने पर, उनका प्रभाव पड़ने से भी, सब करणों में परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है और प्रत्येक का सत्य प्रकट होने लगता है; परिणामतः मानव प्रकृति का प्रत्येक करण, भगवान् और महाशक्ति को जीवन में आविर्भूत करने का पूर्ण साधन हो जाता है। भुक्ति का अनुभव करने के लिये यह आवश्यक है कि मानव का 'आधार' इस प्रकार का सम्पूर्ण साधन बन जाय।

अब, मन की या प्राण की विशुद्धि करके क्या भागवत जीवन नहीं प्राप्त किया जा सकता? ऐसा प्रश्न हो सकता है। संक्षेप से इस प्रश्न का उत्तर यह है—अकेले मन या प्राण को कितना ही विशुद्ध किया जाय तो भी उसके द्वारा संपूर्ण भागवत जीवन की प्राप्ति असम्भव है। मन, प्राण या शरीर अविद्यामय स्थिति के करण हैं। उन में दिव्य ज्ञान का प्रकाश कुछ अंशों में लाया जा सकता है, उनमें एक प्रकार की परिमित पूर्णता भी लायी जा सकती है, परन्तु भागवत जीवन के आविर्भाव के लिये तो विज्ञान की भूमिका को प्राप्त करना आवश्यक है; क्योंकि प्रभु की महाशक्ति विज्ञान की भूमिका को अपने सीधा काम करने के करण के रूप में प्रयुक्त करती है, इसलिये मानव के लिये भागवती पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यह है कि वह मन, प्राण और शरीरसे परे विज्ञान की भूमिका को प्राप्त करके इन तीनों भूमिकाओं में उस महाशक्ति के अवतरण की सब शर्तों को पूरा करे।

विज्ञानको प्राप्त करने के प्रयत्न में दो अवस्थाएं आती हैं। प्रथम अवस्था में मानव अपनी शुद्धि करके, विज्ञान की ओर अपने अन्तःकरण को खोल कर, उन्मुख होकर, उसकी प्रतीक्षा करता है तथा अपने समग्र अन्तःकरण के एक एक भाग में उस सत्य की प्राप्ति के लिये माँग करता है। परन्तु केवल अपनी शक्ति से—वह भले ही कितनी बड़ी

हो—मानव विज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता। दूसरी अवस्था में, भगवान् की महाशक्ति उसकी चेतना को विज्ञान की ऊर्ध्व भूमिका में ले जाकर वहां स्थापित करती है और मानव के 'आधार' के सब करणों को लेकर भगवान् और महाशक्ति उन्हें अपना आविर्भाव करने के यन्त्र के अनुरूप बनाने के लिये उनका रूपान्तर करने लगते हैं अर्थात् दूसरी भूमिका में वास्तविक रूप से देखें तो मानव कुछ भी नहीं करता परन्तु भगवान् की महाशक्ति सब कार्यों का आरम्भ करती है। हमने पहले भुक्ति के विषय में कहा है उसका अर्थ ऐसे ही रूपान्तरित 'आधार' द्वारा जीवन के कार्य का आनन्द लेना है।

पूर्णयोग की सिद्धि किस प्रकार की होगी यह विचारना अभी बाकी है। जो कार्य अभी सिद्ध नहीं हुआ है उसके विषय में अनुमान ही किया जा सकता है। फिर भी कुछ वस्तुओं को निश्चित करने का हम प्रयत्न करेंगे।

सबसे प्रथम पूर्णयोग के सिद्ध होने पर मानव चैतन्य अपनी वर्तमान उच्च से उच्च भूमिका के पार उससे परेकी विज्ञानमय भूमिकामें स्थित हो जायेगा। परिणामस्वरूप भगवान् और उनकी महाशक्ति केवल विचार या श्रद्धा के विषय न रहकर मानवजाति के क्रियात्मक तत्त्व बन जायेंगे। तीसरे; विश्वप्रकृति के जो नियम मानव प्रकृति के अत्र काम कर रहे हैं संभव है उनमें भौतिक परिवर्तन हो जाय।

सम्पूर्ण मानवजातिमें यह भूमिका स्थापित होगी या नहीं यह भी विचारणीय प्रश्न है। निकट भविष्य में समग्र मानवजाति में यह नवीन भूमिका सक्रिय हो जाय ऐसी संभावना कम ही है। परन्तु एक बार थोड़े से मानवों में भी पूर्णयोग सिद्ध हो जाय तो मानवजातिमें एक ऐसी शक्ति स्थापित हो जायगी कि जिस का काम निरन्तर चलता रहेगा। यह निश्चित है कि जिन थोड़े बहुत व्यक्तियों में यह भूमिका काम करेगी वे लोग स्थूल शरीर और प्राणमय भूमिका के पशु के समान बद्ध मानव की अपेक्षा बिलकुल और ही तरह की (विभिन्न) भूमिका में अपना चैतन्य धारण करेंगे; इतना ही नहीं, मनोमय भूमिका के उच्चतम शिखरों में विहार करने वाले मानव की अपेक्षा भी किसी और प्रकार की भूमिका में वे विचार, सकल्पशक्ति ( will ), कार्य इत्यादि का प्रारम्भ करेंगे। इस प्रकार मानवजाति की थोड़ी संख्या में से अपने कार्य का विस्तार करती हुई वह महाशक्ति क्रमशः समस्त मानवजाति में इन नई भूमिकाओं का आविर्भाव कर सकती है। लेकिन यह तो बहुत दूर की बात है।

पूर्णयोग की सिद्धि के परिणामस्वरूप विज्ञान की प्राप्ति होती है, यह हम पहले कह आये हैं। लेकिन मुण्डकोपनिषद् के अनुसार 'सूर्यस्य द्वारेण'—सूर्यके द्वार में से होकर मन, प्राण और शरीर का त्याग नहीं करना है, बल्कि वेदकाल के ऋषियों के समान पूर्णयोग के सिद्ध को अविद्या में स्थित मन, प्राण और शरीर के त्रिलोक में विद्याके ज्योतिर्मय सूर्यका साम्राज्य स्थापित करना है अर्थात् विज्ञान की सिद्धि द्वारा व्यक्ति के जीवन में से अहंता, कामना इत्यादि अविद्या-शक्तियों के कार्य को दूर कर उनके स्थान पर भगवान् और उनकी महाशक्ति के कार्य की स्थापना करनी होती है।

यदि स्थूल अन्नमय भूमिका पर विज्ञान की स्थापना सफलतापूर्वक की जा सके तो व्याधि, जरा, मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

विज्ञान की सिद्धि से इसके सिवाय और भी परिणाम आ सकते हैं लेकिन उनके उल्लेख का यह स्थान नहीं। उदाहरण के तोर पर विज्ञान के सूर्य-लोकमें रहने वाला सिद्ध पुरुष विश्वमें सक्रिय विराट् शक्तियों पर प्रचण्ड प्रभाव उत्पन्न करके उनके कार्य द्वारा समस्त विश्व के क्रमिक विकास पर अचूक प्रभाव डाल सकता है। सामान्य व्यक्ति के चैत्य जीवन को भी ऐसे सिद्ध पुरुष अज्ञात रूपसे प्रभावित कर सकते हैं।

इस प्रकार श्रीअरविन्द के साधनापथ का केन्द्र मनोमय भूमिका से परे विज्ञानमय भूमिका में है

और उसके अधिष्ठाता स्वयं भगवान् और उनकी सक्रिय शक्ति महाशक्ति स्वयं है।

इस साधनाकी प्राथमिक अवस्था है विज्ञान की शक्ति के कार्य के लिये मन, प्राण और शरीर को तैयार करना—यह हम पहले कह आये हैं। इस तैयारी में कुछ तत्त्व अति आवश्यक हैं। पूर्णयोग की साधना अन्य किसी हेतु के लिये नहीं हो सकती। केवल भगवान्के लिये करनेका संकल्प प्रारम्भमें ही नहीं किन्तु अन्त तक अचल रखना चाहिये। इसका अर्थ है "मुझे खालिस सत्य और केवल सत्य चाहिये" ऐसी मांग होनी चाहिये। हमें ऐसे सत्य की प्राप्ति हो यह मांग समग्र अन्तःकरणपूर्वक होनी चाहिये। इतनी तैयारी हो तो प्रकृति की अशुद्धि इत्यादि तत्त्व जल्दी या देर में दूर हुए बिना नहीं रहते।

संसार में भागवत जीवन की स्थापना के लिए पूर्णयोग द्वारा किया गया प्रयत्न सफल होगा या नहीं यह प्रश्न बहुत से लोगों के मन में पैदा हो सकता है। पृथ्वी पर सत्य को अवतरित करने का यही एक-मात्र प्रयत्न नहीं है। भारतीय प्रजा के मानसशास्त्र के अवलोकन से देखा जा सकता है कि हमारी प्रजा प्रारम्भ से ही ऐसे भगीरथ कार्य के लिए यत्न कर रही है। मानव आत्माके महाकाव्यभूत वेदमें भी **'अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः'**—'सत्यप्राप्तिके लिए कुदाल लेकर, सतत श्रम करनेवाले अगस्त्य' का वर्णन है। ऐसे कठिन प्रयत्नके भविष्यके विषय में क्या कहा जा सकता है ? क्योंकि आज भी इस दिव्य सिद्धि का विरोध करने वाली अविद्या की शक्तियाँ उसे मिथ्या करने का प्रयत्न कर रही हैं! सत्यप्राप्ति के दारुण युद्ध में आर्य और दस्यु, देव और दानव आज भी आपसमें जूझ रहे हैं।

मानव इतिहास के युग से भी पहले के अज्ञात समय में जागी हुई सत्य प्राप्त करने की दिव्य आध्यात्मिक उषा **'पुराणी देवी युवती'**—प्राचीन होने पर भी युवती देवी, **'चोदयित्री सुमतीनाम्'** —सुमति को प्रेरित करती हुई उषा आज भी मानव के हृदय में नवीन स्वरूपमें जाग रही हो यह **'माता देवानां, अदितेर अनीकम्'**—देवताओं की माता और अनन्त अदिति का स्वरूप **सूनृतावरी**—अनेक सत्यों से युक्त उषा इस महान् प्रयत्न में **ऋतस्य पन्थानमन्युति साधु**—'सत्यके पथका यथार्थ अनुकरण कर के' आज भी मानव के आत्मा को प्रेरित कर रही है।

सत्यप्राप्ति का यह महान् प्रयत्न एक 'यज्ञ' है, 'अध्वरं' है — आज भी दिव्य संकल्प की प्रतीक अग्निकी ऊर्ध्वमुखी शिखायें जीवन की वेदीमें कहीं कहीं जल रही हैं। पार्थिव जड़तामें से यह अग्नि जल कर धुआं देने लगती है, मनोमय भूमिका प्राप्त होने पर उसकी ज्वाला भभक उठनेकी कोशिश करती है। यह अग्निदेव मानवका **'पुरोहित'** है वह—**'युवा कविः'**—युवा कवि है, वह मानवमें अवतीर्ण **'देव'** है, वह **'अतिथि'** है, उसकी शिखा के बिना हमारी जीवनवेदी सूनी है, उसके बिना आर्यका घर अपवित्र है। मानवता में रहने वाली इस दिव्य संकल्पाग्नि के बिना, उसकी सहायता के बिना विश्व के किसी भी देव को मानव की आहुति पहुंच नहीं सकती। सत्यप्राप्ति की इस अभीप्सा की अन्तः-अग्नि जाग्रत होने को सब दुरितों को असत्य मार्गोंको पार कर **'स्वं दमं'**—अपने घरकी ओर प्रयाण करती है। और मनसे ऊपरकी भूमिकामें स्थित इस अग्निका उत्पत्ति-स्थान, इसका अपना घर, यही विज्ञानतत्त्व है, यही **'सत्यमृतम् बृहत्'**—सत्य, ऋत (सत्यधर्म) और अनन्त है।

सत्य प्राप्ति के इस यज्ञ और सत्यप्राप्ति के व्रती, आर्य जनों की रक्षा करने वाले देव, अनार्य और दस्युओं के साथ आज भी युद्ध कर रहे हैं। विचारों की विद्युत् वाले, दुर्धर्ष और प्रतापी **मरुत गणों** को लेकर आज भी **इन्द्र देव** मनसे ऊपर के **स्वलोक** में से वज्र का आघात कर सत्य को आवृत कर के पड़े हुए वृत्र का नाश करने में आर्य लोगों को सहायता करते हैं।

सत्य प्राप्ति के इस प्रयत्न को वेद में "अध्वरं" कहा गया है, वह एक 'यात्रा करता हुआ' गतिमान्

यज्ञ है। यह महान् यज्ञ कोई शान्तिभरी सुरक्षित विधि नहीं है। सम्पूर्ण मार्ग और यज्ञकी सब क्रियायें मुश्किलों से भरी पड़ी हैं। क्षण क्षण में और कदम कदम पर अज्ञान की शक्तियों के साथ आर्य सन्तानों को युद्ध करना पड़ता है।

**सोमरस**का दिव्य आनन्द इस कार्यको उत्तेजित करता है। प्राण का **अश्व** इस कार्यको 'घोड़े का सा आवेग' देकर तथा मन की **गौ**—'ज्ञानरश्मि रूप गायें' आर्य जन को विज्ञानके **सूर्यलोक** की ओर ले जाती हैं।

सत्य को ढूंढने में कुशल सरमा पणिओं द्वारा छिपाकर वा अज्ञात रखी हुई 'गो'—गायोंके समूह—को और अवचेतना के गाढ अन्धकार में खोये हुए **सूर्य** को ढूंढने में **इन्द्र** और **अङ्गिरस** को आज भी सहायता दे रही है।

**इन्द्र** के **स्वर्लोक** से परे स्थित विज्ञान के सूर्य लोक को जब आर्य सन्तान प्राप्त करती है तब उसमें **मित्र वरुणौ, भंग** और **अर्यमा** ये चार सूर्यशक्तियां प्रकट होती हैं।

चेतनाकी गतिको ऊर्ध्व करके मनसे ऊपर स्थित सूर्यलोक की, विज्ञानकी, केवल प्राप्ति ही नहीं, परन्तु उस सूर्य को पार्थिव भूमिका पर उतारने का आदर्श भी वैदिक ऋषियों से अज्ञात न था।

वैदिक ऋषियों द्वारा प्रारम्भ किया गया यह भागीरथ प्रयत्न, उपनिषद् द्रष्टा मुनिओं द्वारा परिपोषित यह महान् कार्य, अनेक छोटी बड़ी धाराओं को अपने अन्दर समाविष्ट कर- वर्तमान युग को उन सबका समन्वय करके देगा; इतना ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवजातिको मौलिक तत्वों का अचूक ज्ञान देकर समस्त विश्वमें व्याप्त संस्कृतियोंके संघर्षको भी हटाकर भविष्यके मार्गका निर्धारण करेगा इस आशा में अतिशयोक्ति नहीं है।

और एक वार इस दिव्य आध्यात्मिक विज्ञानके सूर्य-लोक की प्राप्ति होने के बाद कौन कह सकता है कि उससे भी ऊपर अन्य दिव्य शिखर न दीखते हों? कौन जाने? वेद के मुनियों ने तो गाया है—

**ब्रह्माणः त्वा शतक्रतो उत् वशं इव येमिरे ॥१॥**
**तत् सानोः सानुं आरुहत् भूरि अस्पष्ट कर्त्त्वम् ॥२॥**

अो 'हे सैकडों शक्ति वाले इन्द्र! शब्दब्रह्म की दिव्य ऋचा के उपासक सोपान के समान तुझ पर क्रमशः ऊर्ध्वगमन करते हैं। एक शिखर से दूसरे शिखर पर ज्यों ज्यों ऋचाओं के गायक चढ़ते हैं त्यों त्यों उन्हें दीख पड़ता है कि अभी तो बहुत सा सिद्ध करने के लिए अवशिष्ट है।'

ऋग्वेद मं. १ सू. १०

उसी प्रकार विज्ञानकी भूमिका सिद्ध होनेके बाद आगे भी 'भूरि कर्त्त्वम्'— 'बहुत सा कार्य (करने को)' दीख पड़े तो क्या आश्चर्य?

—अम्बालाल पुराणी

—— ——

## मां से

दे दो अभयदान मुझको मां ॥

बलने भी नहीं भय मिटाया,
धनने तो भय और बढ़ाया,
इन्द्रासन पर भी भय देखा,
स्वर्गलोक में भी भय देखा,
दे दो पूर्ण ज्ञान मुझको माँ।

जन सेवा तो यश संचय है,
सत्य खोज में नित संशय है,
केवल सुन्दर की उपासना,
से होता निष्काम हृदय है
कर दो सुरुचिवान् मुझको माँ।

कर दो रस संचार- हृदय में,
भर दो नव गुंजार हृदय में,
भर दो अपनी श्रुति-निवासिनी,
वीणा की झंकार हृदय में,
दे दो साम-गान मुझको माँ।

अमृत-पान में सार नहीं है,
शुचिता का उद्धार नहीं है,
प्राप्त अमरता तो होती पर,
मिटता चित्त विकार नहीं है,
दे दो सोम पान मुझको मां।

मुझको एक हिलोर बनादो,
चिर आनन्द-विभोर बना दो,
जिसका ओर न छोर कहीं हो,
बही प्रेम की डोर बना दो,
किरणों के समान मुझको माँ।

मुझको भी उत्थान सिखादो,
करना गगन-पयान बता दो,
धर्म अर्थ औ मोक्ष काम सब,
उद्देश्यों से परे बना दो,
दे दो निज उड़ान मुझको माँ।

तुम ही विधि को छल सकती हो,
मेरे हेतु मचल सकती हो,
तुम ही मिटा लिखा कर्मों का,
मेरा भाग्य बदल सकती हो,
इसका सतत ध्यान मुझको माँ।

—जगन्नाथ प्रसाद

# आत्मिक शान्ति

वैदिक ऋषियों ने भारत में जिस आध्यात्मिक सत्य को अनुभव किया था और उसके आधार पर जिस जीवन-शैली की रचना की थी वह सारे संसार के इतिहास में अद्‌भुत वस्तु है। उस में सुख-सम्पत्ति का अपार स्वरूप दीखता है। परन्तु समय के उतार चढ़ाव में वह प्रेरणा ही लुप्त प्राय हो गई है। आज मनुष्य शोक-संताप, दुःख-द्वन्द में ग्रस्त होकर कष्ट उठा रहे हैं और शान्ति के लिये बेहद व्याकुल हो रहे हैं। वे जहां २ शान्ति की खोज करते हैं वहीं वे शान्ति की जगह अशान्ति पाते हैं। वे शान्ति को धन-दौलत, स्त्री-पुरुष, मान-प्रतिष्ठा, भोग-विलास में खोजते हैं। परन्तु वे जितना ही इन सबका संग्रह करते हैं उतनी ही उनकी वासनायें, लोभ, स्वार्थ इत्यादि प्रज्वलित अग्नि के समान धधकने लगते हैं और उन्हें और भी अशान्त बना देते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकोंने सुख-शान्ति संसार में ले आने और उसे चिरस्थायी बनाने के लिये क्या क्या नहीं किया? उन्होंने प्रकृति को यहां तक वश में कर लिया कि प्रकृति मनुष्य की दासी कहलाने लगी। उन्होंने मनुष्य को पक्षी बना कर आकाश में उड़ाया, जल जन्तु की भांति समुद्र में तैराया, कोसों दूर बैठे बैठे बातें करना सिखाया; परन्तु इतने घोर और एकान्तिक परिश्रमका आखिर परिणाम क्या हुआ? क्या मनुष्यों को शान्ति मिली? अरे, वह तो उलटे जितनी दूर पहले थी उससे भी अधिक दूर दिखायी पड़ने लगी, मानो ज्यों-ज्यों उसे समीप लाने की चेष्टा हुई त्यों-त्यों वह और भी दूर भागती गई। आज संसार में जो दशा है वह किसी से छुपी नहीं।

बाह्य उपायों द्वारा प्राप्त की हुई शान्ति अपूर्ण और अस्थायी होती है। क्योंकि भीतर का कूड़ा-कर्कट ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है। अन्दर के स्तर जिन में योग की अद्‌भुत शक्ति निहित है, बन्द ही पड़े रह जाते हैं। योग द्वारा इन बन्द दरवाजों को खोला जा सकता है और उनकी सुप्त शक्तियों को जाग्रत किया जा सकता है। हम जिसे "मैं" "मैं" कह कर पुकारते हैं, वह वास्तविक 'मैं' से बहुत दूर है। हम प्रकृति के द्वारा जकड़े हुए हैं। विश्व का सारा कार्य प्रकृति, पुरुषकी इच्छानुसार, करती है। हमारे अन्दर हमारी व्यक्तिगत प्रकृति उसी विश्व-प्रकृति के प्रतिनिधि के रूप में उसकी अनुमति से कार्य करती है। बहुत कम अंश में ही स्वतन्त्र है। जिसे हम अपनी स्वतन्त्रता कहते हैं वह तो केवल हमारा भ्रम है। यहां तक कि हमारी इच्छा जिसे हम 'स्वतन्त्र इच्छा' 'मेरी स्वतन्त्र पसंद' कहते हैं, वह भी प्रकृति द्वारा ही निर्धारित की हुई होती है। हम तो मशीन के घूमते हुए पहिये हैं। हम मशीन के द्वारा विवश हो कर घूम रहे हैं और सोचते यह हैं कि हम इसे घुमा रहे हैं। यही हमारा भ्रम है, हमारी आंखों के सामने अज्ञान का परदा है।

एक मुहूर्त्त के लिये भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। हमारी प्रत्येक इच्छा, कामना, वासना, विचार, जीवन की सारी कार्यधारा विश्व प्रकृति के द्वारा प्रचलित हो रही है। परन्तु यदि हम चाहें तो इस विवशता से मुक्ति पा सकते हैं। और यदि सामर्थ्य हो तो साधना द्वारा कुछ अन्श में प्रकृति रूपी यन्त्र के प्रेरक और प्रभु भी बन सकते हैं। परन्तु इस के लिये बड़ी कठोर साधना की आवश्यकता है। प्रकृतिके चंगुल से छुटकारा पाना सहज नहीं है। हजार ठोकरें खाकर भी मनुष्य स्वयं इस अन्ध प्रेरणा से बाहर निकलना नहीं चाहता। वह रोता है, चिल्लाता है, सिर धुनता है, शान्ति के लिए छटपटाता है, परन्तु इस चक्रसे, जिसमें वह विवश पिस रहा है, छुटकारा पानेके लिये प्रयत्न नहीं करता। जब ऐसा हो तब उस मनुष्य के क्रमविकासका एक शुभ संधि क्षण समझना चाहिये। उसी पावन महूर्त्तमें उसके अन्तरात्माकी मुरली-ध्वनि,

उसकी हृदयतंत्री, उसके रोम-रोम में गूंज उठती है और वह उसे इस मोहपाश से मुक्त कर अमृतत्व की ओर आकर्षित करती है।

शुद्ध शान्ति प्राप्त करना बहुत कठिन है। हम बहुत बार तामसिकता को ही शान्ति मान बैठते हैं; पर दोनों में आकाश पातालका अन्तर है। तमस् की शान्ति, जड़ की, पत्थर की, शान्ति है; वह प्राणहीन मृतक की शान्ति के समान है। तमस् आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत है और शान्ति दैवी सम्पदाका एक अंग है। यह शान्ति स्थिर, व्यापक, देदीप्यमान, प्रत्यक्ष बोधक, दिव्य तथा आनन्दमय होती है। इस शान्तिको प्राप्त करने के लिये ही योगी योग करता है, तपस्वी तपस्या करता है, तांत्रिक तन्त्र-मन्त्र सिद्ध करता है, ध्यानी समाधी लगाता है। यह शान्ति ही प्रत्येक योग की आधार भूमि मानी गई है। इस शान्ति को हम दो प्रकार से उपलब्ध कर सकते हैं— एक तो हृदय की ग्रंथियां टूटने पर उसके स्वतः परस्फुटित होने पर और दूसरे शान्ति को ऊपर से उतार कर आधार में प्रवेश करने पर। इन दोनों में उसे ऊपरसे उतारना ही सहज है। इसके लिये आवश्यकता है मन की चंचलता दूर कर शान्ति को दृढ़ता-पूर्वक हृदय से पुकारने की। इस में मानसिक चेष्टा की विशेष आवश्यकता नहीं है। परन्तु हमारी इच्छा, अभीप्सा अवश्य ही प्रबल होनी चाहिये। आरोहणेच्छा उत्कट तो हो, पर उस में व्यग्रता न हो, गहरी तो हो पर उस में अधीरता न घुसी हो, भरपूर तो हो पर राजसिक मांगों से शून्य हो। वह आरोहणेच्छा भीतर बाहर सर्वत्र परिपूर्ण हो, पर कहीं चंचलता न हो यदि किसी प्रकार की चंचलता, व्यग्रता होगी तो फिर ऊपर की चीज के उतरने में कठिनाई होगी।

मन चंचल होने पर योग की नींव नहीं पड़ सकती। ध्यान करते समय हमें अस्थिर नहीं होना चाहिये। मन में जो जो विचार उठें, उन से संघर्ष करने से विशेष लाभ नहीं हो सकता। संघर्ष करने से मन के और भी चंचल होने की संभावना रहती है। हम जितनी ही चेष्टा करेंगे कि यह विचार न उठे, यह भावना अन्दर न घुसने पावे, उतने ही जोर से वे घुसने की चेष्टा करेंगे। मन के चंचल होने पर हमें द्रष्टा बन कर अपने भावों को देखने का अभ्यास करना चाहिये। उन विचारों के साथ एकाकार न हों, बल्कि उन से अपने को अलग रखें। ऐसा करने पर हमारी अनुमति के अभाव के कारण वे स्वतः ही लुप्त हो जायंगे। बल्कि और अच्छा यह होगा कि खूब ध्यानपूर्वक देखा जाय कि कौन विचार कब कहां से आता है और उन्हें एक-एक को अपने अन्दर घुसने से रोकने की चेष्टा की जाय। इस अभ्यास में विशेष जोर लगाने या युद्ध करने से लाभ नहीं होता।

मन को शान्त करना हमारे लिये परम आवश्यक है। अन्यथा हमें अनुभव तो होते जायंगे परन्तु वे स्थायी रूप से टिक नहीं सकेंगे। शान्त मन में ही भागवत चेतना जम सकती है। शान्त मन का अर्थ यह नहीं है कि मन में कोई विचार ही न उठे, बल्कि उसका अर्थ यह है कि बाह्य प्रवृत्ति में जो कुछ हो रहा है उस से हम अपने को अलग रखें और भीतर स्थिर बने रहें। हम उन्हें द्रष्टा बन कर देखें, उनके द्वारा बिना पतवार की नाव की तरह चाहे जिधर बह न जाय। शून्य मन और शान्त मन में बड़ा अन्तर है। शून्य मन में कोई भाव, विचार नहीं उठता, मन में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। परन्तु शान्त मन वह है जिसे किसी प्रकार की घटना अशान्त न कर सके, जिसे बाहरी झकोरे टस से मस न कर सकें। जब मनकी सारी वृत्तियां शान्त हो जाती है तभी वह शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे शान्त मनमें विचार नहीं उठते, बल्कि वे बाहर से आते हैं और आकाश से उड़ने वाले पक्षी के समान मन से होते हुए निकल जाते हैं। वे इसी प्रकार आते जाते रहते हैं, परन्तु मन उनके कारण जरा भी अशान्त नहीं होता। मन में उनका कोई चिन्ह नहीं रह जाता। ऐसा शान्त मन यदि कभी बाहरी कर्म में लीन भी हो जाता है तो भी वह अपनी शान्ति को नहीं खोता। इसके दो कारण हैं। कोई-कोई तो अभ्यास के द्वारा मन से दो प्रकार के काम लेने लगते हैं। उनका

बाह्य मन तो बाहरी कर्म में प्रवृत्त रहता है और आन्तरिक मन अपने को इस से अलग रख कर द्रष्टा के रूप में सब कुछ शान्तिके साथ देखता रहता है। किसी-किसी का मन साधना के द्वारा इतना शान्त हो जाता है कि वह स्वभावतः ही किसी कर्म में लिप्त नहीं होता। ऊपर से चीजें उतरती जाती हैं और उसके द्वारा स्वतः ही वे कार्य कराती रहती हैं। ऐसी शान्ति आने पर ही गीता के कथनानुसार कोई योगस्थ हो कर अर्जुन के समान भीषण से भीषण कर्म में भी प्रवृत्त हो सकता है और फिर भी अपने अन्दर की शान्ति को अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। ऐसा शुद्ध, शान्त आधार ही भागवत कार्य के लिये उपयुक्त यंत्र बन सकता है।

मन को शान्त करना सहज नहीं है! यदि वह शान्त हो जाय तो समझना चाहिये कि हमारा पैर बहुत ऊंचाई पर जाकर जम गया। परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। एक अङ्ग से दूसरे का सम्बन्ध है। पहले तो मनमें शान्ति आ जाने पर भी, बुद्धि, चित्त, प्राण, आदि के शुद्ध हुए बिना, वह स्थायी नहीं होती। बुद्धि की चंचलता, चित्त की तरंगें, प्राणों की बासनाएं मन की शान्ति भङ्ग करने के लिए आक्रमण करती हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि शान्ति के किसी भी भाग में जम जाने पर वे अपनी मन-मानी नहीं कर सकतीं। वे जानती हैं कि शान्ति के आ जाने पर हमारा जोर कम हो जायगा और फिर दैवी शक्ति को प्रवेश करने की जगह मिल जायगी। वे अपने राज्य में स्वतन्त्र रहना चाहती हैं किसी के वश में सहज ही आना स्वीकार नहीं करतीं। अतएव मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, प्रत्येक को शुद्ध करना चाहिये, इन को निम्न प्रकृति के पंजे से मुक्त करना चाहिये। ऐसा करने पर ही हमारे अन्दर बिना बाधा के शान्ति विस्तारलाभ कर सकती है।

यह कोई आवश्यक नहीं है कि एकके शुद्ध हो जाने पर दूसरे की शुद्धि अपने आप हो जाय। मन, बुद्धि और चित्त शुद्ध हो सकते हैं, परन्तु प्राण प्रधानतः अशुद्ध रह सकता है। प्राण की शुद्धि हो सकती है, पर शरीर अधूरा रह सकता है। इसलिए शरीरको भी उसकी तामसिकता, जड़ता, अविश्वास, अन्धकार, सन्देह, पुराने स्वभाव आदि से मुक्त होना चाहिये। तभी हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग में शान्ति का साम्राज्य फैल सकता है और वह स्थायीरूप से विराजमान हो सकती है।

हम में से प्रायः सबको यह अनुभव होगा कि कर्म से लिप्त होते ही हम शान्ति खो बैठते हैं। ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि अभी एकमात्र मन का ही एक भाग शान्त हो सका है और वहां भी अभी पूर्ण रूप से शान्ति स्थापित नहीं हुई है। जब हम शुद्ध चैतन्य प्राप्त कर लेंगे और शान्ति हमारे मन, प्राण, शरीर में पूर्ण रूप से व्याप्त हो जायगी तब यह दोष स्वतः ही दूर हो जायगा। हमारे अन्दर एक ऐसी जगह है जहाँ से हम शान्त, सुस्थिर निश्चल नीरव रहते हुए बाहरके आकारोंको द्रष्टा बनकर देख सकते हैं। आत्मा की शान्ति प्राप्त कर लेने और सारी वृत्तियों के अन्तर्मुख हो जाने पर बाहर की अशान्ति हमें अस्थिर नहीं कर सकती। यहां तक कि प्रतिकूल परिस्थित को भी अपनी स्थिर अभीप्सा द्वारा बदल सकते हैं।

माता की कृपा सदा हमारे साथ है। यदि हम कठिन से कठिन अवस्था में भी अस्थिर, अधीर चंचल न हों तो माता की शक्ति बड़ी सुगमता से हमारे अन्दर प्रवेश कर सकती है और वह प्रत्येक शूल को पुष्प बना सकती है। हमें माता से प्राथना करनी चाहिये कि वह हमारे अन्दर ऐसी शक्ति अच्छी तरह स्थापित कर दे कि किसी प्रकारके संकट में हमारी शान्ति भंग न हो और हम सारी कठिनाइयों को समतापूर्वक सहन कर सकें। किसी प्रकार की विपत्ति या असफलता में हमें कभी हताश नहीं होना चाहिये। योग का मार्ग फूलोंसे भरा हुआ मार्ग नहीं है। योग में ऊंच नीच स्वभाविक है। पर यदि हमारी लगन सच्ची हो, माताकी शक्ति पर हमें भरोसा हो, हृदय में दृढ़ विश्वास हो तो अन्त में हमारी सफलता निश्चित है।

जब मन, प्राण और शरीरके शुद्ध हो जाने पर शान्ति आती है तब वह हमारे स्वभाव का अङ्ग बन जाती है। उस अवस्था में जो शान्ति प्राप्त होती है उसका अनुभव हमें केवल ध्यान या समाधि में ही नहीं वरन् सतत कर्म में प्रवृत्त होने पर भी उसी प्रकार होता है। क्योंकि वह शान्ति मन और प्राणके विकारोंको बल-पूर्वक दबाकर नहीं प्राप्तकी गई होती। जो शान्ति आधार के शुद्ध हुए बिना ही प्राप्त होती है वह स्थायी नहीं होती। उसे बचाये रखने के लिए सदा सतर्क रहना पड़ता है। ऐसी शान्ति प्राप्त किए हुए योगी यदि एक दिन भी कर्मक्षेत्र में आ जांय तो वे अपने को साधारण व्यक्ति से भी बुरी हालत में पावेंगे। ऐसे योगी को जीवन भर संयम के साथ रहने की आवश्यकता होती है। यदि वे किसी क्षण भी चूक जांय तो काम क्रोधादि तुरंत उमड़ कर उन्हें ऊपर से नीचे पटक देते हैं। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में उन्होंने पीतलके बर्तन को धो मांज कर साफ तो किया है, पर सोना नहीं बनाया है। उन्हें सदा धो माँजकर साफ करते रहना होगा। हां यदि पीतल सोना हो जाय तो फिर कोई डर की बात नहीं रहती। अवश्य ही पीतलको सोना बनाना कठिन है और इसमें समय लगता है। परन्तु जहां पीतल सोना हुआ, वहां शान्ति दृढ़ता के आधार में स्थापित हुई कि फिर हम उससे सहज ही च्युत नहीं हो सकते। ऐसे शुद्ध और शान्त आधार में ही ऊपरसे दिव्य ज्ञान, भागवत आनन्द, शुद्ध प्रेम, निर्मल प्रकाश, विशालता इत्यादि आसानी से उतरते हैं, स्थायी रूप से निवास करते हैं तथा हमें मनुष्य भाव से ऊपर उठाकर देव-भाव में प्रतिष्ठित करते हैं।

—नारायण प्रसाद

---

पहिली बात जो साधना में करनी है वह है मन में एक स्थायी शान्ति और निश्चल नीरवता को स्थापित करना। अन्यथा तुम्हें अनुभूतियाँ हो सकती हैं पर कुछ भी स्थायी प्राप्ति न होगी। निश्चल नीरव मन में ही यह सम्भव है कि वहां सत्य चेतना का निर्माण किया जा सके।

अचंचल मन से यह मतलब नहीं कि उस में कोई विचार अथवा कोई मनोमय गतियाँ होंगी ही नहीं, बल्कि यह कि ये सब ऊपर ही ऊपर रहेंगी और तुम अन्दर की अपनी सत्यसत्ता को इन से अलग अनुभव करते रहोगे, मन के इन विचारों और गतियों को देखते रहोगे पर उनके प्रवाह में बह नहीं जाओगे, तुम में यह योग्यता होगी कि तुम उन का निरीक्षण करो और निर्णय करो तथा जो कुछ त्याग करने योग्य हो वह सब त्याग करो एवं जो कुछ सत्य चेतना और सत्य अनुभूति हो उस सब को स्वीकार कर धारण करो।

* * *

आरम्भ में शान्ति और स्थिरता सतत नहीं रहती। वे आती हैं और चली जाती हैं और प्रकृति में स्थायी रूप से जम जाने में साधारणतया उन्हें एक दीर्घकाल लग जाता है। इसलिये यह अच्छा है कि तुम अधीरता से बचो और जो कुछ भी किया जा रहा है उसे दृढ़ता पूर्वक धारण करते चलो। यदि तुम शान्ति और स्थिरता के परे की कोई चीज चाहते हो तो उसके लिये यह होना चाहिये कि तुम्हारे अन्तः पुरुष का पूर्ण उद्घाटन हो और तुम में जो भगवत् शक्ति कार्य कर रही है उसका तुम्हें ज्ञान हो। इसके लिये तुम सचाई के साथ, प्रगाढ़ तीव्रता के साथ,—किन्तु जरा भी अधीर न होते हुए—अभीप्सा करो और तब वह तुम्हें प्राप्त हो जायेगी।

—योग के आधार से

# एक पत्र

( पत्र एक विस्तृत साहित्यिक माध्यम है जिस द्वारा केवल व्यवहारिक आवश्यकताओंको ही पूरा नहीं किया जा सकता अपितु पत्र-लेखक तथा सम्बोधित व्यक्ति की सुरुचि तथा मैत्रीभावके अनुसार जीवन के हर प्रश्न की, साधारण से साधारण तथा गम्भीर से गम्भीरकी, चर्चा विवेचना की जा सकती है। निम्न पत्र में प्रिय मैत्रीभावके वायुमण्डल में अग्नि देवता की स्तुति, सृष्टि विकास तथा अन्य कई विषयोंकी सुन्दर चर्चा है। यह पत्र स्व० वेदव्रतजी ने अपने एक सहपाठी स्नातक के पत्र के उत्तर में लिखा था, विशेष अवसर उस साथीका विवाह था। इस पत्र में कुछ एक अत्यन्त व्यक्तिगत स्थल छोड़ दिए गए हैं शायद उनसे पत्र के पढ़ने में विशेष विघ्न उपस्थित नहीं होगा। पत्र लम्बा होने के कारण दो खण्डों में दिया जा रहा है। )

श्रीअरविन्दाश्रम
पाँडिचेरी
७. ११. ४०

प्रिय.........

तुम्हारा पत्र कल ६ नवम्बरको मिला। और आज से १+१०वें दिन देवों के अग्रदूत जातवेदा अग्निदेव की पवित्र साक्षी में ज्योति के आलोक की सात प्रदक्षिणाएं तुम्हें किसी नवीन जीवन में दीक्षित कर रही होंगी।......... और वह जीवन क्या बांधने वाला ही होगा? हो भी सकता है; पर तुम्हारे लिए भी? शायद नहीं।

ये दो नवपरिचित यात्री एक ऐसी चौखट पर कदम नहीं उठा रहे जिसके आगे वातायन विहीन एक सकरी कुटीर हो, जिसकी दीवारें भी अंधेरे में सूझें नहीं। यह तो दो सखाओं का शाश्वत काल से बढ़ती हुई अपनी मानवीय यात्रा को और भी वेग देने के लिए एक विस्तीर्ण भुवन की चौखट पर पांव रखना होगा। ... क्यों मैं कुछ कल्पना के क्षेत्र में बोल रहा हूं?

यह मिलन क्या है? एक देवयज्ञ का आरंभ है। द्यु और पृथिवी का एक दूसरे के प्रति समर्पण, दिव्य सामञ्जस्य, अमृत संगति[1]—यही देवयज्ञ की इस लीला का मर्म है। इस यज्ञ के कार्य क्षेत्र हैं ये विश्वभुवन। पृथिवी अचेतना और जड़ता के बन्धनको खोलकर अपनी विशालताके साथ पुकारती हुई ऊपर उठती है, द्यु के साथ मिलने के लिए, उसके आलोक में दिव्य जीवन के लिए, अपने ही खोये हुए घर को फिर से पाने के लिए; द्यु अपनी हिरण्मयी ज्योति के साथ अनन्त के गर्भ से नीचे झुकता है, अनिष्कृतको परिष्कृत करता हुआ, अपनी अमितता को लिए, वह अदिति के अलौकिक प्रेम का दिव्य दूत, ऋत का जाया— जिससे यह धरती, यह पार्थिव प्रकृति, सर्वाङ्ग आलोकित हो उठे, उसके कण २ में अमृत छलक उठे, यह 'सुवर्ण ३ ज्योति' में रूपान्तरित हो जाय, मुक्त स्वच्छन्द और उस परम से अधिष्ठित। अन्तरिक्ष इन दोनों की इस अभिगति में मध्य बनता है— देवयज्ञ का आधार यही अन्तरिक्ष है, और उसी का प्रतीक है यह पृथिवी का देवयज्ञ न।

पर यह सब खेल अधूरा रह जाय, बल्कि न हो पाय, यदि अग्नि हमारे साथ न हो, यदि इस अग्नि-होत्र में उसका आधान न किया जाय[2]। यह अग्नि

---

१. वैदिक विवाह-पद्धति में पुरुष स्त्री का विवाह द्वारा सम्बन्ध होना द्यौ और पृथ्वी का मिलना कहा गया है।

२. यहां से वैदिक अग्नि देवता के वर्णन में यह स्मरण रखना कि श्रीअरविन्द के अनुसार जगत् में काम करने वाला भगवान् का दिव्य संकल्प ही अग्नि है।

ही है जो अपने रथ पर चढ़ा ऊपर ऊपर लिए जा रहा है, सोनेका मुकट पहने हुए, शुभ्र शुक्र, अत्यन्त प्रदीप्त। यह अग्नि! यही तो हमारे अस्तित्व का आधार है, यही तो है हमारी सत्ता। और हमारा महत्त्व इसी अग्नि के समिन्धन में है, जिस यज्ञ में यह आग जितनी अधिक शुचि, समिद्ध और जगी है वह यज्ञ उतना ही महान् है। उसे प्रदीप्त करने की एक शर्त है, वह है आत्मदान। 'अयं त इध्म आत्मा'।

रात में भी राह दिखाने वाले इस सखाके साथ होकर हम अपनी मञ्जिल पर पहुंचेगे ही। उषा के खिलनेपर ही जिनकी आँखे खुलती हैं ऐसे देवताओं की अनुपस्थिति में भी अजस्र जागरूक, सब जन्मों को जानने वाले, सब मार्गों के विद्वान इस प्रियतम के साथ आज हम व्रती होते हैं। इस अग्रणिका नेतृत्व हम छोड़ेंगे नहीं।

ले चल, हे उज्ज्वल दूत! हमें उसके कल्याणात्मक रूप की ओर, ले चल वहां जहां सूर्य की रास खुलती है, वहां, जहां मां अदिति स्वयं खड़ी हैं।

हे मेरे आलोकित क्रतु, आ, इन यज्ञ के अधिपतियों के साथ अपने ज्योतिर्मय सर्वाङ्ग रथ पर अधिष्ठित हो! इस उरु अन्तरिक्ष को, इसकी सब वीथियों को सभी पथों को जानने वाले देव! उन देवों को इधर ले आ, ले आ वे आज मेरी हवि का भोग करें।

हे ऋतु के चेतन द्रष्टा, मेरी चिति में केवल ऋत का ही दर्शन कर; मेरे अन्तर में ऋत की अनेक धाराओं को, अनेक प्रवाहों को, खोल निकाल।

हे मेरे देव! मैं 'उस' उज्ज्वल कर्मी के, उस विधाता प्रभु के सत्य की ओर बल करके या दुई से बढ़ने में पार नहीं पाता।

तू मेरे अन्दर सब जानता है पर, मैं तुझे नहीं जानता, ओ सब के निधाता आनन्दके पति!

कौन हैं ये, जो अनृत की नींव को यत्न से बचा रहे हैं? कौन हैं ये मिथ्या शब्द के रक्षक। ओ वैश्वानर! आज ये बाधक ही मेरे पथ के साधक हो जायँ। दिति के पुत्र अदिति के हो जायं।

मैं अपने प्रयाण में निरन्तर बढ़ रहा हूं। खुल जाओ रे, तुम दैवीय द्वारों! हमारे विस्तार के लिये चौड़ी सरल राह हमें दे दो। आगे, आगे हमें ले जाओ और हमारे यज्ञ को पूरा भर दो।

यह अग्नि!! जो भी इसे अपने यज्ञका पुरोहित बनाता है, पूर्णता को पहुंच कर ही रहता है। सत्त्व की ऊंचाई के उस घर को, जहां न कोई संघर्ष है न कोई शत्रु। पाप उस पर अपना हाथ नहीं डाल पाता।

यह है वह सर्वज्ञ, जो हमारी आन्तरी सत्ता के धर्म को जानता है और अपने काम में पूरा है, पर्याप्त है। आओ हम अपनी मनीषा से उसके सत्य का एक गीत रच और उसे इस देव के लिये रथ बना दें कि वह इस पर आरोहण करे।

यह हमारे यज्ञकी आग है! इसकी ऊंचाई तक इसे समिद्ध कर सकें ऐसी शक्ति हम में हो, यह हमारी मतियों को परिमार्जित कर देवे और सिद्ध।

आओ, हम इसके लिये ईंधन जुटायें, आओ, इसके लिये हवियां प्रस्तुत करें, आओ इसके काल और ऋतुओं के पर्व पर्व से हम अपनी चेतना का परिचय करादें। यह हमारी बुद्धियों को ऐसा पूर्ण कर देगा कि वे हमारी सत्ता का विस्तार करेंगी और हमारे लिये एक विशाल जीवन की सृष्टि।

सब कहीं हैं इस देव के मुख, और यह सभी वस्तुओं के पूरी तरह अभिमुख हैं; इसके आंख हैं और दृष्टि—हम इसको दूर से देखते हैं फिर भी वह हमरे इतना अधिक समीप दीख पड़ता है! खाइयों के आर-पार यह इतना जगमग चमकता है! यह हमारी रातों की अंधियाली के परे देखता है, क्योंकि इसकी दृष्टि दिव्य जो है।

देवों का तू देव है, क्योंकि तू ही है वह अद्‌भुत प्रेमी हे सखे! निधि के अधिपति वसुओं का भी ईश है तू, उन घर बसाने वालों का भी वसु, क्योंकि तू इस ऊंची यात्रा के अध्वर में, इस यज्ञ में, अत्यन्त चारु और कमनीय है। बहुत विशाल और

दूरतक फैलने वाली हैं तेरे आनन्दों की शान्ति, हे प्यारे अग्नि, वही हमारे रहने का आवास बन जाय! आ! तुझ सखा को पाकर हमारा बाल भी बांका न होगा।

कब आयेगा वह पावन क्षण, जब मैं 'तू' हो जाऊंगा या तू 'मैं'। हे अग्नि! इसके बिना यहाँ तेरे आशीर्वाद सत्य कैसे होंगे?

दिन दिन हम तेरे पास आ रहे हैं, रात रात तेरी ही ओर! अपने समर्पण की थाली ऊपर उठाये। तेरे ही वीराजन में, ओ देव के सङ्कल्प!

जाग मुझ में जाग, जन जन में जाग, पृथिवी में जाग, द्यु में जाग, जाग इस विश्व में जाग, हे विराट्!

सातों नदियों में तेरे प्रबोध की उषा का उदय हो, यह सब जो भी कुछ है ऋत की अमृत ज्योति से परिपूर्ण हो जाय[3]।

* * *

इस नये प्रस्थान के क्षण में एक बन्धु के हृदय का केतु (Vision) अग्नि के इस रथ पर आरूढ़ होवे, अपनी प्राचीन यात्रा को निरन्तर बढ़ाने के लिये। अग्नि! आ, हम सब को सोम के उस घर तक पहुँचा दे, सत्य के उस अपने घर तक।

* * *

अस्तु। तुम्हारे इस अवसर को लेकर यह मैंने अपने सन्तोष के लिये इतना गान किया। तुम्हारा भी स्वर मेरे साथ रहा होगा। इन सब में जो रूपक प्रतीक और उपलक्षण है उसकी व्याख्या न करके तुम्हारे ही रसके लिये छोड़ देता हूँ। अग्निका आध्यात्मिक प्रतीक है Divine Will (ईश्वरी शक्ति)।

अब प्रस्तुत पर आता हूं। आचार्य जी[4] जब यहां आते हैं तब वर्तालाप में कहीं तो कोई प्रसंग तुम्हारा भी आ निकलता है और इस तरह कुछ न कुछ समाचार संक्षेप में ही सही, मिल जाता है। 'गुरुकुल' में तुम्हारे दो एक लेख 'वेद के ऋषि' विषय पर पढ़े। तुम्हारे कार्य की दिशा अच्छी मालूम हुई। यदि तुम श्रीअरविन्द के वेद पर लिखे गये निबन्ध कहीं से पढ़ पाते तो मुझे प्रामाणिक सन्तोष होता।

दर्शन के साथी के नाते एक अनुरोध तो मैं तुम से करूंगा कि तुम श्रीअरविन्दकी नव प्रकाशित पुस्तक The Life Divine को ध्यान से एकबार पूरा पढ़ जाओ। दुबारा पढ़ना तुम्हारे ऊपर। यह मानो नये युग का वेद है और श्रीअरविन्द जिस कार्य में लगे हैं उसकी एक उज्ज्वल रूप रेखा। गुरुकुल पुस्तकालय में है।

संसारी और असंसारी की बातें क्यों करते हो। यहां हम संसार में ही तो हैं। क्या यहां और क्या वहां, सभी एक ही बाट के बटोही हैं। एक ही वह अनेक रूपों में गति कर रहा है। शैली भिन्न हो, जाने के साधन भी भिन्न हों, गति की तीव्रता में भी अन्तर हो सकता है, पर पथ तो एक ही है। दूसरा रास्ता है ही कहां कि कोई चले। देर या सवेर सभी उधर ही पहुँच रहे हैं।—नाऽन्यः पन्थाः

और, किसे मालूम जिसे हम आज पीछे समझते हैं वही कल आगे न होगा। वह अन्दर का प्रेरक बाहर के बन्धनों को तो जैसे कुछ समझता ही नहीं। उसकी चाल अपनी ही है, वह मायावी एक दम स्वच्छन्द है।

'दीक्षान्त के दिन ही मानो हमारी शिक्षा का वास्तविक आरम्भ हुआ था' यह तुम्हारा कहना सच है। तब की कुछ पंक्तियां याद आती हैं।:

'अरे! अभी तो मैं शिशु ही हूं,
तुम कहते दीक्षान्त हुआ है!
अभी अभी मेरी शिक्षा का
बहता झरना शान्त हुआ है!...
.....किन्तु अभी इस क्षण होता है
मेरी शिक्षा का आरम्भ.....'

"और हमारा सहपाठित्व भी सच्चे अर्थों में तभी आरम्भ हुआ था" तुम्हारी इन पंक्तियों का मुझे स्वागत ही करना चाहिये। मैं समझता हूँ तुमने यह पंक्ति मात्र भावना में ही नहीं लिखी, किन्तु

---

३–यह सब ऋग्वेद के अग्नि देवता के मन्त्रों के अनुसार ही अग्नि का स्तुति-गान है।

४–आचार्य अभयदेव जी

इस में तुम्हारे हृदय की साक्षी है। और तब इसका एक ही अर्थ रह जाता है कि हम सचमुच तब से एक ही गुरु के 'अन्तेवासी' बनने के लिये दीक्षित हुए, हमारा वेदारंभ एकही कक्षा में तब से सचमुच हुआ। लौकिक गुरुओं की दीक्षाएं तो एक अवधि तक हुई कि उनकी सीमा आ गई। किन्तु वह कौन है चिरन्तर गुरु, अनन्त जिस का ज्ञान है, असीम है जिसका क्षेत्र ? क्या यह वही 'पूर्वेषामपि गुरुः', सब के अन्दर बसा हुआ फिर भी सबसे परे, अत्यन्त निकट अत्यन्त दूर, सब ज्ञानों का एकमात्र शिक्षक स्वयं 'वह' परम ही नहीं हैं—जिसके हम जाने या अनजाने सदा ही अन्तेवासी हैं ? उसके घर आकर अब हमारा सब्रह्मचारित्व तोड़ने की शक्ति काल में है क्या। कितना मधुर और विशाल है इस गुरु का कुल।

मैं नहीं जानता तुम्हारे आशय को मैं ठीक तरह पहुंचा या नहीं किन्तु तुम मेरे अभिप्राय से सहमत होगे ऐसा तो मुझे विश्वास है।

फिर सच कहूं, मुझे तो बहुधा यह अनुभव होता है कि मैं एक गुरुकुल से निकल कर दूसरे गुरुकुल में आ गया हूँ। एक दीक्षान्त मेरे लिये दूसरेका दीक्षारंभ, अत्यन्त पवित्र और दिव्य दीक्षारंभ बन गया है। इसे अपने प्रभु के अनुग्रह के सिवाय और क्या कहूँ ? पहला कुल भी मधुर था पर यह दूसरा तो सचमुच गुरु का ही कुल है, जिस में गुरु हैं, वे अद्वितीय परम, जिनकी छाँह में हमने जन्म जन्म साधना की है; वह अलौकिक मां, जिनकी अनन्त शक्ति सारी प्रथिवी का ही रुपान्तर करने को सन्नद्ध हुई है। और उस युग युग से चलते आ रहे देवयज्ञ के एक सवन की पूर्णाहुति के समय हम छोटे छोटे बच्चे यहाँ अदिति के आंचल में अपना मुँह आधा छिपाये आधा खोले इस अग्नि की उठती शिखा की ओर विस्मय मुग्ध कौतूहलसे देख रहे हैं। यही हमारी मां है। मां क्या है—अनन्त मूर्त्त हो गया है प्रेम के रूप में। यही हमारी आचार्या हैं—मंत्र व्याख्याकृत् और वही तो हमारे अन्तर की एकमात्र साधिका एंव अधिष्ठात्री। आचार्य हैं स्वयं "श्री अरविन्द"।

और क्या है वह सवन ? इस की आदि गाथा ही संक्षेप से कहता हूँ। प्रतिमा के पीछे छिपे उसके रूप का ग्रहण करने में प्रमाद तुम से नहीं होगा।

"आरम्भ में तब न सत् था न असत्। न अन्तरिक्ष था, न व्योम, और न ही कुछ उससे परे। एक स्तब्ध निश्चेतना की अवस्था थी। वह 'एक' अपनी स्वधा (self-law) से बिना सांस के जी रहा था। अनन्त के ऊपर अपनी लीला को संवृत करके वह सोया था कि उसे फिर से वही आनन्द लीला प्रकट करने का चाव हुआ।......चैतन्य की शिखा निश्चेतना के समुद्र से, उस गहन गभीर अप्रकेत सलिल से, ऊपर बढ़ने लगी। चेतना के शक्ति-संभरण से जो अत्यन्त घनीभूत अवस्था हुई वही था जड़ प्रकृतिका जन्म, इस देव यजनि पृथिवी का जन्म। मानो विष्णु ने पहला पग उठाया ! वहीं से इस देव यज्ञ की नींव पड़ी। यह घनीभूत अवस्था विकास (evolution) की उदङ्मुख अवस्था नहीं थी किन्तु, वह थी संमीलन (involution) की अवाङ्मुख अवस्था, वह था देव का आत्म-संवरण ! जड़ से आगे उस सत् (existent) का और संवरण कहां होता....। इस संवरण का उद्देश्य था निश्चेतना के गाढ़ अन्धकार को भी, 'तमसा गूढ़ तम' को भी, तप की महिमासे आलोक में रूपान्तर कर देना। जड़ प्रकृति के जन्म से वह देवयज्ञ आरम्भ हुआ जिस का पूर्णाहुति मंत्र था **देव का जन्म**—चेतना की स्वाभाविक प्रगति में जड़ प्रकृति का ही देव के रूप में रूपान्तरित होकर जन्म। इस सत्र के ब्रह्मा हुए स्वयं विष्णु और यज्ञपत्नी साक्षात् अदिति। अग्नि ही होता के रूप में था।... तप समिद्ध हुआ, शिखा ऊपर उठने लगी, 'अग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम' समर्पण का राग गूंज उठा। और यह लो एक नये लोक का आविष्कार ! जड़ में जीवन का संचार हो गया, जीवन की ज्योति का जड़ में जन्म !

अन्तरिक्ष पृथिवी पर आ बसा, मातरिश्वा ने यहीं अपने जल बिछा दिये। मिट्टी की प्याली में रस का प्रवाह उमड़ पड़ा। सृष्टि में एक आनन्द छा गया। यह था प्राण का जन्म। यही था विष्णु का दूसरा पग।··· निरन्तर पड़ती आहुतियां ज्वाला को ऊपर ऊपर ले जाने लगीं। यज्ञ बढ़ता ही गया। जड़ (matter) के अंधियाले जाल से खुल कर चेतना की उड़ान और भी तीव्र हुई। तप समिद्ध हुआ, शिखा और ऊपर उठी··· और, यह लो एक चमत्कार!

एक तीसरे लोकका आविष्कार! कितनी जल्दी, पहले से आधी देर भी तो नहीं हुई। प्राण के गर्भ से मन का प्रादुर्भाव!··· पृथिवी पर बहते अन्तरिक्ष में द्यु की भी एक झलक उतर आई। मिट्टी की वह रसीली प्याली बोल भी उठी। कितना दिव्य होगा वह स्वाहाकार, जिसके स्पर्श ने उस लौ को द्यु पर उठा दिया। उसके सहारे पिता द्यु और माता पृथिवीका वह मानो प्रथम मिलन था। वही क्षण था हम मानवोंका आदि पूर्वज। वही था आद्य मनु जिसकी सन्तान इस पृथ्वी पर मालिक सी बनी हुई है। यह था मन का जन्म। यही था विष्णु का तीसरा पग। आद्य पांसु में उठाये हुए अपने तीसरे पग के साथ ही विष्णु ने उस यज्ञ की पूर्णाहुति नहीं कर दी। कौन जानता है उसका वह तीसरा पग उठा ही रह गया कि रखा भी गया। मानो उसे अपने अस्तित्वकी ही शंका हुई। वह स्वयं यज्ञ जो है। और जब तक वह सब स्वयं यज्ञमय नहीं हो जाय तब तक यज्ञ रुके कैसे? पहले रुकना तो स्वयं आत्मनिषेध ही होता। देवजन्म ही उस का पूर्णाहुति-मन्त्र था। हवि का वेग मन्द नहीं हुआ, आहुतियां पड़ती ही रहीं, चेतनाका विस्तार और भी होगया, मानव के रूप में 'उसी' ने जब तब इस यज्ञशाला का फिर फिर परिष्कार किया, इसके बढ़ते विघ्नों को अपनी अनन्त शक्ति से दूर किया।···

अपनी सत्ता किसे प्यारी नहीं! अंधकार की शक्तियां भी अपने भरपूर जोर से, इस यज्ञ में विघ्न करने पर तुल गईं, उनका तो अस्तित्व ही संकट में पड़ गया न—क्योंकि इस सवन के पूर्ण होने का अर्थ तो है "पृथ्वीका इस अन्धकारमय (अज्ञान से भरे) पूर्वार्ध की रेखा को लांघ कर ज्योति के उस परार्ध में प्रवेश, जहां न कोई युद्ध है, न कोई शत्रु। और न ही किसी अदेव शक्ति के स्पर्श को अवकाश, जहां न अविद्या है न मृत्यु और न ही कोई दौर्बल्य। जहाँ गति में बाधा नहीं, निर्मुक्त संचार। जहां कुत्स अङ्गिरसके स्वरमें स्वर मिला कर कोई गा रहा है—

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्
अप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्था यातवे सूर्याय,
अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥

···तब इन अंधेरी शक्तियों का क्या होगा! तो ये भी देव के आगे प्रणत होकर अपना सम्पूर्ण अर्पण कर दें और उसी के कार्य में अनुव्रत हो जायें, नहीं तो फिर निश्चेतनाके समुद्रमें उनका लय या विनाश। अन्तरिक्ष के साथ पृथिवी के प्रकाश में उठ जाने पर उनको पैर टिकाने को दूसरा आधार कहां मिलेगा। समर्पण उन्हें भाता नहीं, उनकी प्रकृति में ही नहीं; तब फिर उनके आगे विनाश ही है।

किन्तु जब इस यज्ञ में स्वयं भगवान्का ही क्रतु (Will) है तब किसी और का क्या वश। हां, काल की मर्यादाका वे अकाल भी यहां पालन करते ही हैं।

···यज्ञ रुका नहीं। मानव को जन्म देकर भी वह बढ़ता ही गया—और निरन्तर हो ही रहा है, अविराम। आह! उसकी गति की तेजी कितनी वेगवती हो गई है, कितनी सान्द्र! मानो आज या कल ही में उसका प्रयाण पूरा होने को है। और उधर जरा बाहर भी देखो, अन्दर का संघर्ष वहां अभिव्यक्त हो उठा है। आसुरी शक्तियां[५] पागल सी होकर इस देवयजनि पर अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग कर रही हैं— वह दानु की, खण्डन की, भेद की, सान्त की शक्तियां। माता पृथिवी की यह अप्रत्या-

---

५—वर्तमान विश्वयुद्ध की तरफ संकेत है।

शित पीड़ा, यह असह्य वेदना, कोई और सूचना नहीं दे रही; यह तो केवल उस सहस्रों वर्ष तक गर्भ में प्रयत्न-संवर्धित सौपर्ण-शिशु के जन्म की मानों प्रसववेदना है। कलि में से सत्य के जन्मकी, तमस में से ज्योति के जन्म की। उस देव के जन्म की जो जड़ प्रकृतिकी स्थूलतम, नीचैस्तम स्तरोंमें लीला के लिए आत्म-संवृत हुआ था, जो प्रकृति की कोख में धीरे धीरे क्रमविकास के साथ प्राण और मन के रूपोंमें होकर अपने नौ महीने पूरे कर रहा था।

अब दसवां मास आगया। इस दिव्य-जन्म के साथ आता हुआ देवराज्य और जाता हुआ अपना राज्य आसुरी शक्तियों से सहा नहीं जाता। पर स्वयं विष्णु यज्ञशाला के किसी एक कोने में मानो छिपे से अपनी प्रभुता के सामर्थ्य से सत्र का विधान कर रहे हैं। उनका सुदर्शन आजतक कभी इतने वेग से नहीं उड़ा। महाकाली ने कदम उठा लिया है, दुर्गा सिंह पर सवार हो गयीं हैं। विजय-मयूर रौद्र भाव में फड़फड़ा रहा हैं। और अब असुर के बध में कुछ भी संशय नहीं रहा।...

तप समिद्ध हो रहा है। शिखा ऊपर ऊपर वेग से बढ़ रही है। यही है वह पूर्णाहुतिका निकटवर्ती काल। और इस युगयुग से चलते आ रहे देवयज्ञके एक सवन की पूर्णाहुति के समय हम छोटे छोटे बच्चे यहां अदिति के आंचल में अपना आधा मुंह छिपाये आधा खोले इस अग्नि की उठती शिखा की ओर कौतूहल से देख रहे हैं।

( अपूर्ण )

—✱०✱—

'अग्नि' वैदिक देवोंमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, सबसे अधिक व्यापक है। भौतिक जगत् में वह सामान्य भक्षक और उपभोक्ता है।...

इसी तरह वह प्राण का भी संकल्प है,...

यदि वह ( अग्नि ) हमारी प्राणमय सत्ता का संकल्प है और क्रिया के द्वारा इसे पवित्र करता है, तो वह साथ ही मन का संकल्प भी है और अभीप्सा के द्वारा इसे निर्मल करता है।...

उसका दिव्य जन्मस्थान और घर,—यद्यपि वह सर्वत्र ही जन्मा हुआ और सभी वस्तुओं में निवास करता है,—सत्य है, असीमता है, वह बृहत् विराट् प्रज्ञा है जहाँ ज्ञान और शक्ति आकर एक हो जाते हैं। क्योंकि वहां समस्त संकल्प वस्तुओंके सत्य के साथ समस्वर होकर रहता है और इसलिए फल-साधक होता है; समस्त विचार उस प्रज्ञा का अंशभूत होकर रहता है जो कि दिव्य नियम है, और इसलिए क्रिया को पूर्णरूपेण नियमित करने वाला होता है। 'अग्नि' चरितार्थता को प्राप्त करके अपने स्वकीय घर में—सत्य में, ऋत में, बृहत् में—शक्तिमान हो जाता है। वहीं पहुँचाने के लिए वह ( अग्नि ) मनुष्यजाति की अभीप्सा को, आर्य की आत्मा को, विराट् यज्ञ के मूर्धा को, ऊपर की तरफ ले जा रहा है।

✱ ✱ ✱

आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो वैदिक यज्ञ एक प्रतीक है उस विराट् तथा व्यक्तिगत क्रिया का जो स्वत: सचेतन प्रकाशमान तथा अपने लक्ष्य से अभिज्ञ हो गयी है। विश्व की सारी प्रक्रया अपने स्वरूप से ही एक यज्ञहै, वह स्वेच्छापूर्वक किया जाय या अनिच्छा-पूर्वक। आत्मोत्सर्ग करने से आत्मपूर्णता की प्राप्ति, त्याग करनेसे वृद्धि, यह एक विश्वव्यापी नियम है।...

जब इस नियम को पहचान लिया जाता है और स्वेछापूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है तभी-केवल तभी—इस मृत्यु के राज्य को पार किया जा सकता है।

—वैदिक सूक्तसुधा
श्रीअरविन्द

# युद्ध के पीछे हो रहा युद्ध

अब जब कि युद्ध का अन्त दिखाई देने लगा है और विजय का दिन समीप आरहा है, हम आसानी से भूल जा सकते हैं कि पाँच, छे वर्ष से चल रहे इस युद्ध-संघर्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा नाज़ीवाद को हराकर घुटने टेकने को बाध्य करने में मिली सफलता कितनी बड़ी वस्तु है।

इस वर्तमान युद्ध के विषय में जो सत्य है उसे हम वस्तुओं के भौतिक धरातल पर दृष्टि दौड़ाकर नहीं प्राप्त कर सकेंगे, विचार-धाराओं की जो शक्तियां काम कर रही हैं उनकी जांच पड़ताल करने से भी हम इसे नहीं ग्रहण कर सकेंगे। हिटलर की वह 'नयी व्यवस्था', जिसकी मदद में लड़ने के लिये उसकी तूफानी फौजें ( Panzers ) और हवाई-सेनायें ( Luftwaffe ) निकल पड़ीं और उसके गुप्तचर विभाग ( Gestapo ) तथा पाँचवे कालम ने सब जगह अपने सजीव जाल बिछा दिये, कोई केवल मानुषी दिमागकी उपज नहीं थी। इसका मूल निगूढ़ मूल एक रहस्यमयता में छिपा पड़ा है जिसे संसार सदा ही कुछ अस्पष्ट रूपसे उस पृष्ठभूमिका के रूप में अनुभव करता है जिस के परदे पर हमारा यह दुनियावी स्थूल नाटक खेला जाता है। इसलिये इस युद्ध के विषय में सत्य को हम तभी सबसे अच्छी तरह ग्रहण कर सकते हैं जब कि हम उस सहायता पर विचार करें जो सहायता मित्र पक्ष की बिलकुल आरम्भ से ही और इसके अधिक से अधिक अंधियारे काल में दी गयी थी, एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जो आज संसार की निगूढ़ (Occult) पृष्ट-भूमिकाके सबसे बड़े अनुसंधाता के रूप में खड़ा है—अर्थात् श्रीअरविन्द द्वारा।

यह सहायता दी गयी थी एक ऐसी हद दर्जे की निश्चयात्मकता के साथ जो कि बहुत ही गहरी काट करती है। इतनी ही निश्चयात्मकता नहीं जिससे कि मानवीय एक जीवन-पद्धति का दूसरी जीवन-पद्धति से भेद स्पष्ट हो जाता है, इतनी भी नहीं जिससे कि मानव सभ्यता और मानव बर्बरता का भेद साफ हो जाता है किन्तु इससे गहरी। श्रीअरविन्द जैसे आध्यात्मिकता के एक गुरु से आयी उस हद-दर्जे की निश्चयात्मकता ने हिटलरवाद के ध्येय को केवल मित्रों के बाह्य राज्यों के तथा उनके ढङ्ग की संस्कृति के ही मुख्य शत्रु के तौर पर ही नहीं किन्तु स्वयं श्रीअरविन्द जो कुछ सिद्ध करना चाहते हैं उस सबके भी मुख्य शत्रुके तौर पर ताड़ लिया। श्रीअरविन्द ने देखा कि एक राजनैतिक, सामाजिक या संस्कृतिक मामला ही खतरे में नहीं किन्तु इससे बहुत कुछ अधिक खतरे में है। उन्होंने देखा मानव से परे का एक मामला; मानव में हो रही भगवान् की वृद्धि का विरोध हो रहा है उन क्षेत्रों से जो कि हमारी सामान्य मानव चेतना से निगूढ़ हैं। और उन्होंने देखा कि यह गुप्त विरोध इतना जबरदस्त है जैसा कि पहले इतिहास में नहीं देखा गया, यह कोई स्वल्प कालिक उपद्रव मात्र नहीं है।

बहुत से लोगों का विश्वास था कि नाज़ीवाद एक सामयिक वस्तु सिद्ध होगी, अपनी घोर दुष्टताओं के साथ यह कुछ समय में समाप्त हो जायगी और तब सच्चा जर्मनी फिर सामने आ जायगा और फिर सुन्दर सङ्गीत चलेगा, महान् साहित्य बनेगा और ऊंचा तत्वज्ञान ( फिलासफी ) उदित होगा। पर श्रीअरविन्द ने इस सुहावनी कल्पना को कभी नहीं स्वीकार किया। इसके विपरीत, उन्होंने यही माना कि नाज़ीवाद अपने वर्त्तमान रूप में, अपनी घोर कुरूपता के बावजूद, एक भारी अन्धकार का जिस की कि हम कुछ कल्पना नहीं कर सकते केवल स्वल्प तथा ज़रा सा प्रारम्भ मात्र है। उनके लिये यह पहिले ही दीखने वाली भाले की नोक थी जिसके पीछे गर्त्त से निकल समूची भालेधारी फौज का ही सब कुछ बाजी पर लगा लेने वाला भयङ्कर

आक्रमण आनेवाला था। इसका सफल हो जाना कोई ऐसी गुजर जाने वाली घटना न होती जो अपनी मौत स्वयं समाप्त हो जाती और उसके बाद मानव जीवन प्रशंनीय बलों द्वारा छुटकारा प्राप्त कर, अपनी पुरानी, समझ में आने लायक, कमजोरियोंके तरीके पर फिर वापिस आजाता। इसका सफल होना एक ऐसे युग के प्रारम्भ का उद्घोषक होता जिस में कि असुरता मानवता पर राज्य करती और न जाने कितनी शताब्दिओंके लिये दैवी शक्तियोंके उदय को असभव बना देती और फिर जब भी कभी आत्मा असुरता के विरुद्ध लड़ने का अवसर प्राप्त कर पाती, तो भी आत्मा की वह लड़ाई इतनी कठिन और सन्देहास्पद महासंघर्ष बन जाती जिस की आज तक की लड़ाई को देख कर हम कल्पना भी नहीं कर सकते। श्रीअरविन्द की सम्मति में नाज़ीवाद का तो बिलकुल खातमा ही किया जाना चाहिये। इस विषय में ज़रा भी उदासीन वृत्ति नहीं धारण की जा सकती। इसे भूतकाल की बर्बरताओं जैसी ही एक मानकर जिस के उपरान्त फिर स्वाभाविक मानवता वापिस आ जायगी ऐसी वृथा आशा लगा कर इस विषय में कदापि तटस्थ नहीं रहा जा सकता।

निगूढ़ ( occult ) दृष्टि-बिन्दु से देखें तो नाज़ीवाद श्रीअरविन्दीय प्रेरित विचार के बिलकुल विरोधी है। यह उत्तर है तो वह दक्षिण है। नाज़ीवाद कोई स्वल्पकालिक उभाड़ नहीं है जो कि भौतिक जीवन के केवल उपरितलों को या इसके कतिपय क्षेत्रों को ही प्रभावित करता हो, किन्तु यह तो उस पर पूरी-पूरी प्रभुता कायम करने का प्रयत्न है क्योंकि श्रीअरविन्दीय प्रेरित विचार भी पृथ्वी पर एक सर्वग्रही और इसके सर्वाङ्गों में व्याप्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिये कटिबद्ध है। श्रीअरविन्द की आध्यात्मिकता, जीवन की पहेली से महाप्रयाण कर जाने की नहीं है यह तो इस पहेली का मौलिक हल बताती है। यदि उनके कार्य का उद्देश्य इतना ही होता कि इस स्तर से अन्दर की तरफ और ऊपर की तरफ स्थित उस गुप्त आत्म-स्थिति को प्राप्त करना जो अजन्मा है और अव्यक्त है और इससे अधिक कुछ नहीं होता, तो उन्हें इस बात की चिन्ता में पड़ने की तनिक भी जरूरत न होती कि हिटलर सारी मानव-जाति पर पैर जमाकर खड़ा हो जाता है कि नहीं। श्रीअरविन्द तो यहां, इस लोक को ही भगवानका विस्तारित धाम बनाना चाहते हैं। हिटलर के नीचे के ध्रुव के मुकाबिले में वे ऊपर के ध्रुव हैं। इसका अन्तिम तौर से निर्णय करा देने वाली बात यह है कि वे ( श्रीअरविन्द ) हमारी प्रकृति के सूक्ष्म भागों को ही नहीं किन्तु भौतिक चेतना भौतिक तत्व और रूप तक का दिव्यीकरण करना चाहते हैं—एक ऐसा रूपान्तर करना चाहते हैं जो कि अभी तक के सन्तों महात्माओं तथा पैगम्बरों द्वारा असिद्ध रहा है, जिस का कि उन द्वारा स्पष्ट रूप से साक्षात्कार भी नहीं किया जासका था यद्यपि उन्होंने अपनी अन्तर-दृष्टि से इतना जाना भी था कि यह भौतिक जगत् भी मूलतः भगवान् से ही निकला है। इन सन्तों, महात्माओं और पैगम्बरों का योग, यद्यपि वह भी जगत् को बिलकुल छोड़ देने वाला योग नहीं है, तो भी वह इतने से सर्वथा लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हो जाता यदि पृथ्वी पर भगवान् को अभिव्यक्त करने का उसका कार्य किसी कारण रुक जाता, बिलकुल असफल हो जाता, क्योंकि आखिर उस योग का अन्तिम लक्ष्य एक ऐसी सिद्धि ही प्राप्त करना है जो कि यहां से कहीं परे पार्थिव जीवन की समाप्ति पर प्राप्त होनी है। परन्तु एक निराला योग, श्रीअरविन्द का ऐसा योग, जिसका कि आग्रह स्थूल जगत् तक में पूर्ण भागवत् अभिव्यक्तिकरण द्वारा सिद्धि प्राप्त करना है और जो इस लोक से परे किसी अपार्थिव वस्तु की तरफ नहीं जा रहा है, एक योग जिसका कार्य एक नयी जाति का निर्माण करने के उद्देश्य से हमारे प्रत्येक विभाग, प्रत्येक पार्श्व पर हाथ डालना है—उस योग का तो मानो पेंदा ही फट जायगा, आधार ह उड़ जायगा, यदि नाज़ीवाद सफल हो जाता है। इसे उलटा करके कहें तो, यदि श्रीअरविन्द की 'नयी व्यवस्था' जगत् में अग्रसर हो पाती है तो वे

शक्तियां जो कि नाज़ीवाद जैसी हलचलों में मूर्त्त रूप धारण किये हुये हैं निश्चित रूप से पराजयको प्राप्त होंगी और पृथ्वी पर जमा हुवा उनका प्रभुत्व मौलिक तौर पर ढीला हो जायगा। इसी कारण, पार्थिव स्तर पर हो रहे इस भागवत प्रयाण के विरोध में जिसका कि उद्देश्य यहां सदा के लिये **सत्य-चेतना को** स्थापित करना है, यहां अज्ञान के निगूढ़ लोक से यह एक प्रति-प्रयाण हो गया है, जिसका उद्देश्य स्थायी रूप से यहां अपना पंजा जमा लेना है। क्योंकि श्रीअरविन्द जानते थे कि वे स्वयं क्या सिद्ध करने के लिये प्रकाशमान रूप से प्रयत्नशील हैं, इसलिये उन्होंने एक बार की अपनी प्रकाश-स्फुरणा में ही देख लिया कि नाज़ीवाद का सब स्वरूप क्या है और वह कितना भारी खतरा है।

नाज़ीवाद के इस स्वरूप और इस खतरे का यदि हम कुछ अन्दाज़ लगाना चाहें तो हमें **प्रकृति** को और **प्रकृति** के, **आत्मा** के प्रति, विवर्तन ( evolution ) को श्रीअरविन्द की आखों से देखना होगा। प्रकृति इस पार्थिव लोक पर **भगवान्**के चरम निवर्त्तन ( involution ) से, एक अपार 'निश्चेतना' से अपना कार्य प्रारम्भ करती है। इसमें से प्राण, मन, और जीव आविर्भूत होते हैं, प्रकट होते हैं। इनके प्रकट होने में दो तरफ से क्रिया होती है। एक स्थूल तत्त्व की तरफ से, जड़-तलमें जो प्राण, मन और जीव की संभाव्यता निहित है, क्योंकि यह तीनों उसमें निवर्त्तित हुए पड़े हैं, उससे धीमे धीमे अन्धेकी तरह टटोलते हुएसे ये निकल आते हैं, प्रादुर्भूत हो जाते हैं। दूसरे, ऊपर की तरफ से, स्थूल जड़ तत्व से ऊपर के स्तरों से जहां इनको निगूढ़ संगठति क्रियायें होती रहती हैं वहां से वे प्राण मन, जीव अपना एक प्रबल प्रेरक दबाव डालते हैं, जिससे इनका प्रादुर्भाव हो जाता है। आत्मा और विज्ञान ( अतिमानस ) ऐसे सर्वोच्च तत्व हैं जो कि निवर्त्तित हुए पड़े हैं पर इन्हीं के पास वह कुँजी है जिससे कि एक पूर्णाकृत भौतिक ढांचे में अन्य सबको भी अविकल पूर्णता सिद्ध हो सकती है। विवर्त्तनमें जो कठिनाइयां हैं वे हैं, पहले तो, व्यापक अंजागृति। अचेतनता अर्थात् अविद्या, जो कि प्रकृतिमें हमारा आधार है और फिर, पृथक करनेवाली अर्ध-सचेतन असीमता जो कि उसमें से मूर्त्तरूप धारण करके निकलती है। ये हैं अदिव्य तत्व, ये भगवान् के अभिव्यक्तीकरण के एक विशेष रूप के प्रारंभ के लिये रखे गये हैं, वह विशेष रूप है एक खास संभावना को, जहां प्रारम्भ में भगवान् का बिलकुल निषेध दिखाई देता है वहाँ से भी भगवान् के उदय हो जाने की संभावना को क्रियान्वित करता है। परन्तु एक और तत्व भी है जो काम करता है, जो भौतिक प्रकृति के परे से आता है। यह केवल अदिव्य ही नहीं है, किन्तु दिव्यता-विरोधी भी है। अदिव्य तत्व तो केवल अपनी जड़ता द्वारा प्रतिरोध करता है, परन्तु दिव्यता-विरोधी तत्व विविध युद्धकौशलयुक्त अपने आक्रमणों द्वारा आते हैं, सत्ता के निगूढ़ प्रदेशों से।

इस विवर्त्तनशील दृश्य पार्थिव जगत के पीछे विशेष ढङ्ग के लोक हैं जोकि किन्हीं अपने ही नियम और सामंजस्य में स्थिर हैं। ये लोक जहां प्रकाशके हैं वहां अन्धकार के भी हैं। इनमें इनके अपने धरातल पर किसी प्रकार की प्रगति नहीं होती। वे अपने ही विशेष ढङ्गोंमें सन्तुष्ट हैं, पूर्णतया अभिव्यक्त अपनी निराली प्रकृति रखते हुए और इसे विविध रूपों में विस्तारित करते हुए सन्तुष्ट हैं। परन्तु उनके अपनी इस भरपूर आत्म-क्रीडामें सन्तुष्ट रहने का यह मतलब नहीं कि वे अपनी संतुष्टि की इस क्रीड़ा को निगूढ़ से भौतिक क्षेत्र में ले आने की भी इच्छा नहीं करते। वे अवश्य इस दृश्य पार्थिव जगत् को अपनी युद्ध-स्थली बना लेते हैं पर क्योंकि यह दृश्य पार्थिव जगत् भगवान् के निवर्तनसे, आत्माके तिरोभाव से प्रारम्भ होता है इसलिए प्रकाश के निगूढ़ लोकोंकी अपेक्षा अन्धकारके निगूढ़ लोक यहां अपना काम करना आसान पाते हैं। 'निश्चेतना की अंधेरी चट्टान' पर वे अपनी इमारत खड़ी करते हैं जिसमें उन्हें तात्कालिक सफलता अपेक्षया अधिक

मिलती है। यही कारण है कि विवर्त्तन न केवल अत्यन्त धीमे धीमे युगों की चाल में चलने वाला होता है, किन्तु उसकी इस चाल में बड़े बड़े रोड़े भी प्रायः अटकते रहते हैं, बड़े भारी उतराव आते हैं, आधी-बन-चुकी शुभ वस्तुयें विनष्ट कर दी जाती हैं, सुकोमल रूप से स्थापित किया गया सौन्दर्य बिगाड़ दिया जाता है। यही कारण है कि मनुष्य भगवन्मुखी प्रेरणा के होते हुए भी इतनी प्रगति कर पाता है, शताब्दि पर शताब्दि बीत जाती हैं पर वह बड़े शोरशराबे के साथ केवल ईश्वरदास के स्थान पर भगवान्दास हो पाता है, अपने वाह्य रूप में नाना-विध भेष बदलने पर भी हृदय में करुणा-जनक रूप से वहीं का वहीं रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक सत्य आखिर में जाकर 'विकृत' हो जाता है, वस्तुतः असत्य का ही एक प्रकार बन जाता है। धर्म एक रूढ़िग्रस्त महामारी हो जाता है, कला हो जाती है एक गिरि हुई रंगीली होली, 'फिलासफी' एक हेत्वाभास और वितंडावाद का अखाड़ा, तथा राज-नीति बन जाती है थोडों के स्वार्थ के लिए बहुतों के शोषण करनेकी एक बड़ी भारी मशीन। ओह, देवों की यात्रा इतनी मन्दगति वाली है? सदा ही उनका मार्ग विघ्नित और भग्न होता रहता है। उन रहस्यमय लोकों से आने वाले विनाशकारी प्रभावों द्वारा, जहांपर पशुता और अन्धता, विवर्त्तन रहित अपरिवर्त्तनीय ढांचे में, जीवनका आधार होती है।

उन लोकों के भयंकर सांमजस्य में तीन प्रकार के जीव रहते हैं। भारतीय भाषा में उनके नाम हैं—असुर, राक्षस, पिशाच। अंग्रेजी में इनका अनुवाद किया जा सकता है, टाइटन (Titan) जायंट (Giant) डीमन (Demon), प्रत्येक का अपना अपना विशेष कार्य होता है। असुर एक ऐसा जीव होता है जो विचार की शक्तियों के साथ आता है, पर उसका विचार कोई सुन्दर और सुसंवद्ध नहीं होता बल्कि एक घोर प्रचण्डता लिये होता है। उसके पास बड़ी नैतिक शक्तियाँ भी होती हैं। वह आत्मसंयमी हो सकता है तपस्वी और अपने जीवन में चरित्रवान्, एक प्रकार का विपरीत 'योगी' हो सकता है। अपनी तपस्या के सब वैभवों को वह स्वार्थयुक्त और हिंसामय प्रयोजन के लिये ही इस्तेमाल करता है। उसका उद्देश्य होता है सभ्यता को जड़ से पकड़ कर उखाड़ देना, दया-शीलता और प्रगति की सब भावना को नष्ट कर देना; जीवन की सहज विकसित विविधता को बदल कर मनुष्य-यन्त्रों की गति में बद्ध कर देना। मानव के कल्पना-शील हृदय को अपने लोहमय जूतों तले कुचलकर चूर चूर करने के विजयके उल्लास में मद-मस्त होना। राक्षस एक खा जाने वाला, भक्षक होता है। उसके दिमाग नहीं होता, वह सब कुछ उजाड़ देने वाला होता है। वह कुछ भी निर्माण नहीं करता सिवाय खोपड़ियों की माला के। वह दुनियां पर अपना हल चला कर असंख्यों कबरों को पैदा करता है और दुनियां को एक लाशों का वीभत्स श्मशान छोड़ जाता है। वह पगलाया हुवा साक्षात् लोभ होता है। पिशाच सब चीज़ों को गन्दा और कलुषित कर देता है, वह कीचड़ में रौंदने वाला और मुर्दा खाने वाला होता है, वह कुत्सित से कुत्सित प्रकार की पीड़ाओं का आविष्कारक, अंग भंग करने का पगला होता है। इनमें से असुर अन्धकार की सेनाओं का मुख्य सेनापति, फ्यूरर (Fuehrer) होता है; राक्षस उसका लेफ्टिनेण्ट (प्रतिनिधि) विश्वास पात्र अनुवर्त्ती; पिशाच उसका सैनिक, तूफानी हमला करने वाला।

ये असुर, राक्षस, पिशाच कोई प्रतीक-भूत या काल्पनिक अलंकार रूप नहीं हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी अपूर्णताओं और अपनी बुरी प्रवृत्तियों को निरूपित करता है। बल्कि, इसके विपरीत, इन बुरी प्रवृत्तियों का होना इस बात का चिन्ह है कि उस मनुष्य में उन शक्तियों और व्यक्तित्वों का अंश सूक्ष्मरूपमें उपस्थित है। उन शक्तियों और व्यक्तित्वों का जोकि अपना निवास अमानुष और अति-प्राकृतिक क्षेत्रोंमें रखते हैं। क्योंकि ये क्षेत्र एक विपरीत प्रकारके आनन्द के हैं जिस आनन्द में उपर्युक्त क्रूर, कुटिल

तथा गंदे जीव अपनी भयंकर समस्वरता के साथ स्थित हैं, अपना भोग प्रदान करने को सदा के लिये अवस्थित है। यही कारण है कि मनुष्य अपनी दुरवस्थाओं में सुख अनुभव करता है, अपनी कुटिलता और पीड़ा के प्रति आसक्ति रखता है, अपनी अंधता और कामुकता को छोड़ने के लिये अनिच्छुक रहता है यद्यपि उसकी उच्चतर आत्मा इनमें दुःख ही दुःख देखती है और अनुभव करती है—इन्हें छोड़नेमें इतना अनिच्छुक रहता है मानों कि ये अन्धता और कामुकता उसकी कोई पालने पोसने योग्य वस्तुएं हों, जीवन नाटक के कोई बहुमूल्य घटक अंश हों, विश्वयोजना के कोई अपरिहार्य साज हों। पर मनुष्य का यह अधमता और पीड़ा-जनकता के साथ प्रेम केवल उसकी प्रकृति के एक भाग मात्र में ही नहीं रहता किन्तु उसकी सारी सत्ता का हो जाता है जब कि असुर, अपने साथी राक्षस और पिशाच के सहित, मनुष्य प्रवृति को इतनी बुरी तरह पकड़ लेता है कि यह ( उसकी प्रकृति ) उस निगूढ़ और कठोर वास्तविकता के साथ एक हो जाती है। तब ये होता है कि ये विरोधी शक्तियां, मूर्त्तरूप धारण कर लेती हैं, उतर आती हैं; और ये एक जन समुदाय, एक जाति, एक राष्ट्र को अपने कार्य के अनुकूल इस प्रकार ढाल लेती हैं जिससे कि ये पृथ्वी पर अपना सैनिक प्रयाण आरम्भ कर दें और सभ्यताकी समूची रचना को ही तहस नहस कर डालें। ऐसा एक महा संकटमय आक्रमण हमने अपने काल में ही देख लिया है। यह आसुर आक्रमण इतनी पूर्णता के साथ किया गया है जिस पूर्णता के समानुपात में ही आध्यात्मिक प्रकाश इस पृथ्वी पर मूर्त्तिमन्त और पुष्पित होना चाहता था।

इस से स्पष्ट है कि यह युद्ध किसी अन्य युद्ध के सदृश नहीं हुवा है और नाज़ीवाद कोई मानव अज्ञान का एक बार फिर फूट पड़ना नहीं है किन्तु परिवर्त्तनहीन महाभय और त्रास के एक नये युग का प्रारम्भ है; अति-प्राकृतिक जगत् से हुवा एक ऐसा महादारुण प्रहार है जिसका कि उद्देश्य पृथ्वी पर शैतानी साम्राज्य की नींव जमा लेना है। जो लोग इस अति-प्राकृतिक कोटिक्रम-शासन को मूर्त्ति रूप में लाने के यंत्र बने हैं उनकी मानवीय चेतना लगभग मर चुकी है—इसका कारण साफ है, उन में मानवता बिल्कुल अभिभूत हो असुराविष्ट हो गयी है। और क्योंकि यह असुरावेष इतना प्रबल, पराकाष्ठा का हुवा, इसी लिये असुर को और उसके संघ को हराना इतना आवश्यकीय हुआ है और इतना दुःसाध्य रहा है। इस में कुछ आश्चर्य नहीं कि बहुत से युद्धरत लोग भी जैसे कि बहुत से तटस्थ लोग यह पूछते रहे, क्या हिटलर को हराया जा सकता है ? तो भी इस आसुरी आक्रमण की अति घोरता ने ही प्रकाश की छिपी हुई शक्तियों को पर्दे के पीछे से निकल आने को मानो बाध्य कर दिया। और यद्यपि मानव यन्त्र के लिये भगवान् के कार्य का साधन बनना कठिन है, शैतानी शक्ति का माध्यम बनना आसान है, तो भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आखिर भगवान अनन्त हैं, जब कि शैतान अधिक से अधिक महान् या विशाल है। शैतान को अपना काम करना अधिक आसान पड़ता है तो दूसरी तरफ भगवान् का सामर्थ्य, क्षमता अधिक है। इसलिये धीरे धीरे, क़दम क़दम करके प्रकाश की शक्तियां संचालित की गईं, और शत्रु के विरुद्ध भिड़ा दी गयीं। शत्रु के साथ किसी प्रकार बात चीत नहीं चलाई जा सकती थीं, कोई समझौता नहीं किया जा सकता, किसी तरह की सुलह नहीं हो सकती थी। क्योंकि असुर का हृदय-परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। उसका खातमा ही करना होता है।

इस सत्यको सम्मिलित राष्ट्रों ने, चाहे कितने ही धुँधले रूप में क्यों न हो, समझा था। इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिये चर्चिल ने सबसे अधिक अपना सक्रिय धक्का लगाया। सीधी निगूढ़ तथा आध्यात्मिक दृष्टि तो उसे नहीं थी, पर इससे नीचे उतर कर मनुष्य जो कुछ कर सकता था वह उसने किया। जब

कि फ्रांस गिरचुका और पैरों में पड़ा हुआ था और हिटलर ने घोषणा की थी कि वह आगामी पन्द्रह अगस्त को बकिंगम राजमहल से जगत् को अपना संदेश सुनायेगा और उसकी अनगिनत वायु सेना ब्रिटेनके ऊपर मंडरा रही थी, मानों उसकी विजय को देवी पंखों वाली होकर उसे साक्षात् दर्शन देरही थी, उस समय भी चर्चिल जानता था कि न तो हमें पीठ दिखानी है और न हमने कुचले जाना है। उसकी उपनिवेशों सम्बन्धी नीति चाहे जितनी दोष युक्त हो, वह उन दिनों जब कि रोज़ रोज़ ही भारी विस्फोटकों की इंगलैंड पर वर्षा होरही थी शानदार रूप में अविचल खड़ा था। अति-सत्य खतरे हैं, रक्षा होनी चाहिये, इस विषयक जो उसमें अंध प्रेरणा थी वह उसे अन्य सब से विशिष्ट बनाती हैं, इस युद्धमें भगवान् के सर्वोत्कृष्ट यंत्र बननेके रूपमें उसे विशिष्ट बनाती है। उन्ही दिनों सुदूर भारत में भी एक आवाज उठायी गयी थी, वह आवाज अंधप्रेरणा से प्रेरित नहीं किन्तु प्रकाशमान अन्तर्दृष्टिसे प्रेरित थी। काफी आश्चर्य की बात है कि वह आवाज उस व्यक्ति की थी जिसका कि जन्मदिन ही पंद्रह अगस्त है, ठीक वही तारीख जिस तारीखको कि हिटलर ने आशा की थी कि मनुष्य ने जो कुछ भी बहुमूल्य समझा है उस सब की मृत्यु का उत्सव वह उस दिन मनावेगा। जिस निगूढ़ युद्धने हमारे इस जगत्को अपनी रंगभूमि बनाया हुआ है उसके सम्बन्ध में जब भारत उलझन में पड़ा हुवा था, जब वह अपने राजनीति सम्बन्धी झगड़ों की गड़बड़ी में पड़ाहुवा था, उस समय उसी गड़बड़ी के बीच वह एक अकेली स्पष्ट और डंके जैसी आवाज़ उठी थी। वह भारत जिसके कि बराबर भगवान् को जानने वाला अन्य कोई देश पहिले नहीं रहा—अपनी दुर्बल अवस्था में पड़ा था, टटोलता हुआ और हिचकिचाता हुआ अंग्रेजों के विरोध में उस के अन्दर जो राजनैतिक शत्रुता का भाव भरा हुआ है उस में तल्लीन हुआ हुआ, उस विस्तृततर और गम्भीरतर प्रकाश की तरफ ज़रा भी ध्यान न देता हुआ, जिसे कि चर्चिलीय इंग्लैंड सुन रहा था। ऐसे समय में श्रीअरविन्द ही खड़े थे जो इस युद्ध के अन्तर अभिप्राय को सूर्य की तरह साफ़ प्रत्यक्ष देख रहे थे। उन्होंने घोषित किया कि इस युद्ध में मित्रपक्ष के साथ उनकी पूरी पूरी खुली सहानुभूति है, बिना शर्त्त सहायता है 'चाहे जो कुछभी परिणाम हो'। ये उद्धत किये गए उनके वे शब्द हैं जो कि उन्होंने वाइसराय को भेजे अपने संदेश में कहे थे। इन शब्दों के पीछे एक पूर्ण योग की समग्र रहस्यमयी शक्ति थी, वह शक्ति जो कि एक डाइनेमो की तरह काम करती है, विश्व-व्यापी धाराओं को छोड़ती हुई, हिटलर-के-विरुद्ध-खड़ी की-गई स्थल, जल और नभ सेनाओं के अन्दर एक विशाल अदृश्य अन्तःप्रेरित बल का संचार करती हुई।

जब इतिहासकी पुस्तकें लिखी जायेंगी तो उनमें बेशक मित्र-राष्ट्रोंके प्रमुख व्यक्तियों के साथ साथ इन स्थल जल और नभ सेनाओंकी महिमा गाई जायेगी। और इनकी जो प्रशंसा की जायेगी उसके वे अपने आदर्शवाद, साहस, धैर्य और कुशलता के कारण वस्तुतः पात्र भी होंगे। परन्तु जो कोई भी इस युद्धके गंभीर तात्पर्यको समझेगा और इस अभौतिक संघर्ष को अनुभव करेगा जिसकी कि यह युद्ध बाह्य प्रतिच्छाया है वह अवश्य ही स्वीकार करेगा कि, उस निगूढ़ पापशक्ति, जो कि हिटलरके द्वारा मानवजाति को बिलकुल नरक कुंडमें धकेलने के लिये कटिबद्ध हो महान् संकट ले आई थी, के प्रतिपक्ष के रूप में वह निगूढ़ कल्याणशक्ति उदित हुई थी, जो कि श्रीअरविन्द द्वारा मानव जाति को बिलकुल दिव्य ऊंचाइयों तक उठा देने की आशा दिलाती है।

—के. डी. सेठना

## हर्ष-उद्रेक

आज उमड़ते हृत्सागर में; हुआ हर्ष उद्रेक ॥

मेरे अधिपति मेरे सन्मुख,
खोया मैं उनमें हूं उन्मुख;
अब निःशेष हुआ कितना सुख,
'अहम्' हो चला स्वाहा प्रभुमें; बन करके हवि एक ।
आज उमड़ते हृत्सागर में, हुआ हर्ष उद्रेक ॥

नीरव; शान्त धार में बहता,
जगती में स्वच्छन्द विहरता,
शुभ्रस्रोत झिलमिलता झरता,
प्रभु-अर्पित मन, प्राण, देह, कर शीतल अभिषेक ।
आज उमड़ते हृत्सागर में, हुआ हर्ष उद्रेक ॥

व्यथित हृदय में सुख संचार,
सूखे मानस में अमृत धार,
सोम बह रहा मौन अपार,
जाग उठा है जीवन तुझमें; तू ही मेरी टेक ।
आज उमड़ते हृत्सागर में, हुआ हर्ष उद्रेक ॥

दिव्य शक्ति बदलेगी जगको,
प्राण, बुद्धि, मन, जड़ के मगको,
नूतन आभा देती नभ को—
भूतल पर अवतीर्ण हुई, यह नयी चेतना एक ।
आज उमड़ते हृत्सागर में, हुआ हर्ष उद्रेक ॥

२१ फरवरी १६४४ — विद्याव्रत

# प्राण की इच्छाएं

एक सज्जन पूछते हैं:—

योगिराज श्रीअरविन्द जी महाराज की 'योग के आधार नामक पुस्तक देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराज की पुस्तकों में मन, प्राण और शरीर का जगह २ वर्णन मिलता है। जैसे—

"(१) तुम जबतक वस्तुओंको स्थिर मन और प्राणसे देख न सको तब तक अपने आपको छोड़कर किसी दूसरे के विषय में कोई राय कायम न करना अत्युत्तम है।

(२) प्राणपर आत्म-संयम रखना और भौतिक पदार्थों के विषय में उचित नियम रखना ये अवश्य इस योग के मुख्य अंग है।

(६) जिस बात से छुटकारा पाना है वह है प्राणगत इच्छा और आसक्ति…।

(४) प्राणमय आदान-प्रदान के द्वारा एक प्रकारका सूक्ष्म प्राणमय उपभोग होता है, प्राणोंमें ही आसक्ति, इच्छा और कामना का वास है। यहां से इसे निर्मूल करने की आवश्यकता है।"

मतलब यह है कि मन ही की तरह प्राणोंका भी बार बार वर्णन है। यह देख कर प्राणों के विषय में जानने की जिज्ञासा होती है। आपकी 'वैदिक-विनय' में भी आया है कि प्राण में इच्छा का स्थान है। पर वहां भी कुछ खोला नहीं है। सो आप से विनय-पूर्वक प्रार्थना है कि ये प्राणकी आसक्तियां, इच्छाएं, कामनायें क्या हैं? यह बतलानेकी कृपा करें। मैं तो अब तक यह ही जानता था कि इच्छा, कामना, मन के अन्दर रहती हैं। पर अब जाना कि प्राण में भी इनका स्थान है। यह क्या बात है? इस विषय को खोलकर लिखनेकी कृपा करें और इस विषय पर यदि कोई पुस्तकें हों तो उनका भी पता बतलाने की कृपा करें।

*     *     *

हम साधारण भाषा में 'मन' शब्द को बहुत विस्तृत अर्थों में बोलते हैं। वैसे भी मनुष्य मनोमय प्राणी है। अतः वह अपने हरेक व्यापार को मनोमय रूप ही दे देता है। पर असल में वैज्ञानिक रूप से, और मेरा 'विज्ञान' कहने से मतलब इस योग-विज्ञान या अध्यात्म-विज्ञान से ही है,—मनमें और प्राण में बहुत भेद है। और जो तुम्हारे जैसा व्यक्ति योग या अध्यात्म मार्ग में प्रविष्ट होना चाहता है उसे तो मन और प्राण के भेद को अवश्य और अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

अन्न-तत्त्व और मनस्तत्व के बीच में जो तत्त्व है वह प्राण-तत्त्व है। यों समझो कि हमारे अन्नमय शरीर (स्थूल भौतिक शरीर) के और हमारे मनोमय शरीर के बीचमें प्राण का बना प्राणमय शरीर है। प्राण मन की अपेक्षा स्थूल है और अन्न की अपेक्षा सूक्ष्म है। अन्न जड़ है पर प्राण में जड़ता नहीं है, यद्यपि उसमें मन जैसी सूक्ष्म चेतनता भी नहीं है। प्राणका मनसे तथा दूसरे तत्त्वोंसे भेद तो अन्तर्मुख होकर अन्दर के तत्त्वों पर ध्यान देकर देखने का अभ्यास करने से तुमको प्रतीत होगा, परन्तु इसका वर्णन भी इसके पहचानने और अनुभव करने में सहायक होगा अतः मैं अपनी समझ के अनुसार प्राण का वर्णन कर रहा हूँ।

प्राण को हम जीवन करके समझते हैं। वह ठीक है। जीवन, जीवित अवस्था, जीवनकी हलचल प्राण से ही होती है। श्वास-प्रश्वासमें जो प्राण के संचार का अनुभव होता है, जीवित शरीर की जो जो सब चेष्टाएं प्राणापानादि दश प्राणों से होती हैं वह तो स्थूल प्राण है, बिल्कुल भौतिक प्राण है। असली प्राण जो कि जीवन-रूप है वह एक ऐसी तरह की वस्तु है जिसमें इच्छायें, संवेदन, अनुभव, आवेग, आवेश, उद्वेग आदि की तरंगे उठती हैं। सब भावोंका (जिन्हें अंग्रेज़ी में Emotions कहते हैं) उद्भव स्थान यही है। एक तरहसे भावों के तीन

भेद किये जाते हैं— अनुभवके भाव जैसे सुख दुःख आदि; क्रिया के भाव जैसे कुछ करने की इच्छायें, प्रवृत्ति या प्रेरणा के भाव; और असली भाव जैसे प्रेम, भक्ति, दया वीरता आदि के भाव। जैसे प्राण का मतलब जीवन देने वाली वस्तु है वैसे भाव का अर्थ भी सत्ता देने वाला, होने वाला अर्थात् जीवन ही है। प्राण को तरल सी चीज मैंने इसलिये कहा है क्योंकि यह भौतिक जड़ तत्त्व (अन्न) की तरह कठोर नहीं है, किन्तु अपने आकार बदल सकने की बहुत क्षमता रखने वाली अतएव अपेक्षया अधिक स्थायी और जीवित रहनेवाली वस्तु है। जहां विशाल और शुद्ध प्राण में प्रेम, श्रद्धा, दया, वीरता आदिके सनातन भावों की तरंगें उठती हैं वहां क्षुद्र निम्न प्राणमें काम, क्रोध, लोभ आदिके विकारी भाव उठते हैं। ये सब भाव, आवेग यद्यपि उठते प्राण में ही हैं पर ये मन पर भी प्रभाव डालते हैं और हम बहुधा इन्हें मन में ही उठते अनुभव करते हैं क्योंकि चेतना के उपरितलपर मनोगत और प्राणगत वस्तुयें सब एक दूसरे में मिली जुली आकर दीखती हैं।

जैसे प्राण प्रकृति की वह शक्ति है जिसका इच्छाओं, कामनाओं, और सब भावों से सम्बन्ध है वैसे मन वह शक्ति है जिसका समझने विचारने, मानसिक देखने, विचारकी क्रिया और प्रतिक्रिया करने, मानसिक आकार बनाने आदि से सम्बन्ध है। मन और प्राणका फर्क तब मनुष्य आसानी से देख पाता है, अनुभव करने लगता है, जब किसी बातको वह विचारसेतो ठीकसमझता है अतएव उसपर अमल भी करना चाहता है पर वह अपनी इच्छाओं, आसक्तियों, पुरानी आदतों के कारण उस पर अमल नहीं कर सकता। यह इसीलिए होता है कि प्राण साथ नहीं देता। ऐसा बहुत देखा जाता है कि कई लोग मन से तो भगवान को पाने की और योग-मार्ग का अवलम्बन करने की आवश्यकता समझते हैं, इसमें प्रवृत्त भी होते हैं पर प्राण की वजह से उन्हें बहुत मुश्किल पड़ती है। उनका प्राण इसे स्वीकार नहीं करता। वह अपनी इच्छाओं भावावेशों के रास्ते पर ही चलना चाहता है। मन भगवान को चाहता है परन्तु प्राण साधारण दुनियावी जीवन के प्रति आकर्षण व राग आसानीसे नहीं छोड़ना चाहता।

तुम पूछते हो कि प्राणसे इच्छाओं और आसक्तियों को कैसे हटाया जाय? प्राण से ऊंची शक्ति जो मन है,—मन से भी ऊपर उच्च मन, ऊर्ध्व मन, विज्ञान आदि हैं उनके बल से इनको हटाना चाहिये।

तुम यह देखो कि वृक्षों में तो केवल भौतिक जीवन है, उन में प्राण और मन विकसित नहीं हुआ है। पशुओं में भौतिक जीवन के साथ प्राणमय जीवन भी विकसित हुआ। पशुओं में स्वाभाविक इच्छायें, काम, क्रोध आदि वासनायें, प्रेम आदि भाव तो होते हैं, पर वे मनुष्य की तरह मनन, चिन्तन, विचार आदि नहीं कर सकते हैं। पर मनुष्य में मन भी विकसित हुआ है तथा उसे मन से भी ऊंचे तत्त्वों के विकास की संभावनायें प्राप्त हुई हैं। तो मनुष्य-जन्म पाकर प्राणों की निम्न गतियों को, अज्ञानपूर्ण इच्छाओं और काम, क्रोध आदि विकृत भावों को तो त्यागना ही चाहिये।

प्राणगत इच्छाओं को हटाने का उपाय यही है कि पहले तो अन्तर्मुख होकर अपने अन्दरकी अवस्थाओं से अच्छी तरह परिचित हुआ जाय, फिर विशाल और शुद्ध प्राण में (अपने क्षुद्र, मलिन और निम्न प्राण में से निकल कर) प्रविष्ट होने का यत्न किया जाय, अपने को अपने क्षुद्र प्राण की एकात्मता से हटाकर, उससे जुदा होकर इन अनात्मीय इच्छाओं, काम क्रोधादि भाव-विकारों, को ऊपर की शक्तियों के द्वारा, अपने संकल्प द्वारा तथा भगवान् की प्रार्थना और उनकी कृपा का सहारा लेकर हटाया जाय। बार बार ऐसा यत्न करने से अभ्यास बढ़ता है और इसी प्रकार धीरे धीरे प्राण के भी सब मल दूर किये जासकते हैं। पर यह काफ़ी कठिन काम है। शायद प्राणमय-भूमिका जितनी कठिनाई उपस्थित करती है उतनी मनोमय भूमिका में नहीं होती। अस्तु।

(शेष पृ० ५२, नीचे)

# विश्व-शान्ति का प्रश्न

वर्तमान युद्ध सन् ३९ में शुरू हो कर शीघ्र ही भयंकर रूप धारण कर गया। रूस, जापान और अमरीका के सम्मिलित हो जाने पर यह अति भयङ्कर विश्वयुद्ध बन गया। राजनैतिक तथा साम्राज्यवादी पक्षपातों के आधीन लोग एक पक्ष अथवा दूसरे पक्ष की जीत चाहते रहे। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी जरूर थे जो राजनैतिक राग-द्वेषों की तुच्छता को अनुभव करते हुए सदा लोकहित, संसार के कल्याण के लिये शुभपक्ष की विजय की याचना करते रहे तथा उसे अपना सहयोग देते रहे। वह समय था जब कि विजय चिन्ता-जनक प्रश्न बनी हुई थी। धीरे धीरे विजय प्राप्त होती गई और अब कुछ समय से शान्ति ही हमारा विचारणीय प्रश्न बन रही है।

युद्ध ज़रूर कठिन अग्नि-परीक्षा होती है। परंतु विजयसे, विशेषकर उस विजयसे, जो कठिन युद्ध के बाद प्राप्त हो, मनुष्य मदान्ध हो जाता है; अहङ्कार में वह नए अन्याय कर देता है। उनका परिणाम नया संघर्ष और नया युद्ध हो जाता है। निश्चय ही सफलता एक ऐसी अग्नि-परीक्षा है जिसमें से गुजर जाना विपत्ति में से गुजरने की अपेक्षा अधिक कठिन है। श्री माता जी की चेतावनी स्पष्ट है।

"यह सफलता की ही घड़ी होती है जिस समय कि मनुष्य को अपने आप से ऊपर उठने को विशेषतया जागरूक रहनेकी आवश्यकता होती है।"

युद्ध में शत्रु विरोध में उपस्थित होता है। उस के भय से हम अनेक प्रकार की मनमानी बातों से रुक जाते हैं। विजय की अवस्था में हमारी अपनी योग्यायोग्य की भावना तथा दूरदृष्टि ही हमें मनमाने कामोंसे बचा सकती है। हमें विजयके अभिमान और अहंकार से ऊपर उठना होगा ही।

हेगल ने कहा था कि हम इतिहास के अध्ययन से यही सीखते हैं कि मनुष्य इतिहास से कुछ नहीं सीखता, परन्तु यह सत्य नहीं होसकता, शायद विचारक का आशय भी यह है कि मनुष्य बहुत कम और धीरे धीरे सीखता है, उस गति से नहीं सीखता जिस से उसे वास्तवमें सीखना चाहिये। यदि मनुष्य अपने अनुभवसे कुछभी न सीखे तो वह बार २ उन्हीं भूलोंके चक्कर में पड़कर वही कष्ट उठाता रहेगा, उसका विकास-क्रम ही रुक जायगा। इस में संदेह नहीं कि व्यक्ति अथवा जातियां बार बार वही भूलें कर बैठती हैं और फिर फिर उन्हीं कष्टों को भोगती हैं। परन्तु व्यक्ति तथा जाति अपने पूर्व अनुभव से चाहें तो सीख ज़रूर सकते हैं और उत्तरोत्तर विकास और सुख के शिखर की ओर गति से बढ़ सकते हैं। आज एतिहासिक अवसर है पहले महायुद्ध को स्मरण करने का और बड़े सजग भाव से प्रार्थना, अभीप्सा और प्रयत्न करने का कि 'हे प्रभु! मनुष्य बार बार उन्हीं भूलों में न पड़ें, ऐसी कृपा कर कि जो भूलें पहचान में आ चुकी हैं वे नए सिरे से न दोहराई जायं।'

---

## प्राण की इच्छाएं

तुमने पुस्तकें पूछी हैं। उपनिषदों में तो प्राणों का बहुत वर्णन है, प्राणों की बड़ी महिमा बतायी गई है। सभी कोशों का विस्तृत वर्णन है। अथर्ववेद का प्रसिद्ध प्राण-सूक्त बहुत ही अद्भुत और ज्ञानपूर्ण है। जो असली प्राण है, शान्त, शुद्ध और विस्तृत (व्यापी) प्राण है वह तो सब शक्ति का और संपूर्ण जीवन का भंडार है। इस की महिमा नानारूप से वेदों में गायी गयी है।

श्रीअरविन्द की 'योग-प्रदीप' पुस्तक के 'आधार के लोक और अंग' वाले अध्याय में भी प्राण, मन आदि तत्त्वों का जुदा जुदा बहुत उत्तम वर्णन है।

—'अभय'

आज जब कि विश्व-शान्ति की आयोजना हो रही है शुभाकांक्षी भाव वाले निश्चित चाहेंगे कि गतवार की भूलें दोहराई न जायं ताकि शान्ति चिर स्थायी बने। परन्तु पिछलीवार, वास्तव में, जो भूलें हुई थीं, जिन्हें हम चाहते हैं कि अब दुहराया न जाय, वह थी क्या? तथा चिर स्थायी शान्ति की आवश्यक शर्तें क्या हैं?

इतिहास जब युद्ध और शान्ति के विषय पर विचार करता है तो वह सामान्यतया बाह्य घटनाओं अथवा चेष्टाओं को कारण या कार्य बतलाया करता है। परन्तु गम्भीर मनोविज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि भिन्न होती है। दृष्टान्त के लिये, मानो एक जाति किसी दूसरी जाति से चिरकाल तक पददलित रहने पर बलवा करती है। इतिहास के सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त जाति ने क्यों बलवा किया, अथवा कब किस परिस्थिति में कोई जाति बलवा करती है? अन्याय और अत्याचार के अनेक कर्म बलवे के कारण कहे जायंगे। वास्तव में इतिहास-शास्त्रका नियम ही बन गया है कि जहां कोई जाति पददलित होगी वह बलवा करने की चेष्टा करेगी। परन्तु इतिहास का विस्तृत निरीक्षण बतलाता है कि वह अन्याय और अत्याचार अथवा उस से अधिक भी एक दूसरी पददलित जाति को बलवे के लिए उत्तेजित करने में सफल नहीं होता। बात वास्तव में यह है कि वह कर्म अपने आप में कारण नहीं है, बल्कि उस से पददलित जातिके मन में पैदा हुई खिन्नता और अपमान क्रोध को पैदा करते हैं, जो समय पा कर बलवे के रूप में प्रकट होता है।

सामान्य इतिहास-दर्शन घटना-क्रम में कारण को जांचने का यत्न करता हैं। परन्तु जहां मनुष्य-व्यवहार की बात है वहां जब परिस्थिति कारण होती है तो वह जो उस से जाग्रत तथा प्रेरित भाव होते हैं उन्हीं द्वारा ही कारण बनती है। मनुष्य की वास्तविकसत्ता उसके अन्दरकी चेतना में है। उसके मनोभाव ही उसके बाह्य कर्मों को निर्धारित करते हैं। मनोविज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि-कोण का यह आग्रह है कि मनुष्य-व्यवहार का नियन्त्रण अन्त में और सफलता-पूर्वक उसके आन्तरिक भावों की मर्यादा से ही हो सकता है न कि बाहरसे उसके हाथ पांव बांधने से।

यदि इस दृष्टिकोण की सार्थकता हमें स्पष्ट हो जाय तो वास्तवमें मनुष्य समाज में नित्य होने वाले संघर्ष तथा उनके मिटानेके उपायोंके सम्बन्धमें हमारी धारणा और ही बन जाय। कमसे कम हमारा लक्ष्य हमारे लिये साफ हो जाय। वह यह कि मनुष्य की अनेक वृत्तियों और उन के धर्मों को समझते हुए ही हम युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर विचार कर सकते हैं।

अनेक सामाजिक सङ्घर्षों में हम एक दूसरे पक्ष की मांगोंको लेकर उनमें समझौता करनेकी कोशिश किया करते हैं। परन्तु वास्तवमें हमे समझौतेकी कोशिश से पहले मांगो के पीछेकी गुप्त मनोवृत्ति को समझना चाहिये, क्योंकि यदि वास्तविक वृत्ति और है, मांगे उसका बहाना मात्र है, तब मांगे पूरा करने से शान्ति नहीं होगी।

गम्भीर मनोविज्ञानिक दृष्टि हमें उत्तरोत्तर मनुष्य-प्रकृति और स्वभावके नये नये तथ्य दिखाती जायगी। हमें अनुभव होता जायगा कि मनुष्य की अनेक प्रकार की वृत्तियां लोभ, अहंकार, भयादि उसे दूसरों के साथ सङ्घर्ष में लाती हैं। अब यदि हम अपने मनोविज्ञान को और एक कदम आगे ले जायंगे तो हम अध्यात्म की चरम सीमा तक पहुँच जायंगे। वह यह कि लोभ वास्तवमें अपने उद्देश्यको स्वयं नष्ट कर देता है। इसी प्रकार मोह अहंकारादि। वह कैसे? वह इस प्रकार कि मनुष्य लोभमें धन-संपत्ति अधिकाधिक मात्रामें प्राप्त करना चाहता है। वही लोभ-वृत्ति और उसकी सफलता दूसरों में ईर्षा पैदा करती है। उससे संघर्ष पैदा होता है और वही धन-सम्पत्ति खतरे में पड़ जाती है। और वह व्यक्ति अधिकाधिक लोभ का शिकार होते हुए स्वार्थरत होने से अपने आप को संसार से अलग करता जाता है अथवा संसारको अपना शत्रु बनाता जाता है। लोभ मोहादि

का मार्मिक धर्म स्वार्थ है, स्वार्थ दूसरों से भिन्न करता ही है और उन्हें शत्रु बनाता है। यह परम मनोविज्ञानिक सत्य है जिस को ध्यान में रखते हुए हम अपने अनेक संघर्षों के मूल करणों को शीशे की तरह साफ देख सकते हैं।

यह तथ्य हमें व्यक्ति तथा जाति-विशेष के स्वार्थ-सिद्धि-भाव को असम्भव दर्शा देता है। साथ ही सच्चा सत्य भी सुझा देता है कि वास्तव में व्यक्ति तथा जाति-विशेष का सच्चा स्थाई हित सम्पूर्ण मानवजाति के हित सम्पादन करने में सिद्ध होता है। लोक-हित से ही निजी-हित प्राप्त होता है। स्वार्थ भेद और विरोध को पैदा करता है, जिसका परिणाम संघर्ष और युद्ध अवश्यम्भावी है।

इस बुद्धि के पैदा होने तथा बढ़ने में ही युद्धका अन्तिम निराकरण हो सकता है, और तभी स्थाई शान्ति स्थापित हो सकती है। आज उस अन्तिम निराकरण के लिये हम तैयार नहीं। अभी हमारे में स्वार्थ अधिक है अथवा अभी हमने यह मनोविज्ञानिक तथ्य अच्छी तरह से अनुभव नहीं किया। परन्तु फिर भी इस मनोविज्ञानिक तथ्य के लिये कुछ भावना मौजूद है और प्रभावशाली जातियां किसी हद तक अनुभव करती हैं कि यदि देश के देश तथा जातियों की जातियों को पददलित रखा गया तो दलित जातियोंका दबा हुआ क्रोध ज़रूर कभी फूटेगा, हम पर नहीं तो हमारे बच्चों पर तथा बच्चों के बच्चों पर। यह दृष्टि बड़ी योग्य है और आज क्रियात्मिक रूप से इसी से ही विशेष आशा है। स्वार्थ का भी पहलेसे कुछ विस्तृत विचार ग्रहण किया जाता है और सामान्यतया लोग विचारने की कोशिश भी अधिक लम्बी दृष्टि से करते हैं। हो सकता है मनुष्य पुरानी भूलों को दुहराने से बच जाय और अपेक्षाकृत स्थायी शान्ति स्थापित हो जाय।

परन्तु युद्धका अत्यन्त निराकरण तथा वास्तविक विश्व-शान्ति चाहने वालों के सामने यह स्पष्ट ही है कि जब मनुष्य सहज भाव से उस बुद्धि और चेतना में, जहां कि उसे सर्वहित में निजहित प्रत्यक्ष दिखाई दे, स्थित होगा तभी वह आदर्श चरितार्थ होगा।

सर्व-हित में निजहित तथा सामान्य 'एकत्व'-अनुभव आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा है। आत्म-स्थिति का ही स्वरूप है। इसी पूर्ण हल के लिये योगिराज श्रीअरविन्द का पुनीत पुरुषार्थ है। उस एकत्व-सिद्ध आध्यात्मिक अतिमानस चेतनाका पृथ्वी पर अवतरणही उनका ध्येय है। सम भाव वाले सर्व-हित और निज-हितकी एकताको प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले, जैसे अधिकाधिक व्यक्ति पैदा होते जायंगे वह संसार के व्यवहारमें एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करेंगे और संसार द्रुततर गति से अपने विकास-क्रम में आगे बढ़ने लगेगा।

हम निश्चित अनुभव करते हैंकि "यह पृथ्वी तबतकसजीव और स्थायी शान्तिका उपभोग नहींकर सकती जब तक मनुष्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में भी पूर्ण रूप से सत्य परायण होना नहीं सीख लेते।" यह अनुभव करते हुए हम पूरे हृदय से "इसी पूर्ण सत्य-परायणता की अभीप्सा करते हैं।" वर्तमानके लिये हम प्रार्थना करते हैं "कि मानव-जाति अपने घोषित आदर्शों को कर्म में ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट कर सके।"

यह दिशा है हमारे प्रयत्न और पुरुषार्थ की। वर्तमान में सम्भव के लिये कोशिश करते हुए पूर्ण स्थिति के लिये धीरज से तथा विश्वास-पूर्वक आगे बढ़ते हैं।

# हे मात, तू धन्य है।

तेरा भारत आना, पच्चीस वर्ष का निवास, तेरा कार्य, दिन रातकी कृपा और प्रेम, आज बार बार स्मरण आते हैं। रोम रोम हर्षित हो जाता है।

मात, तू धन्य है; धन्य है।

तेरा उज्ज्वल प्रकाशमय स्वरूप, तेरी दिव्य-दृष्टि, तेरा आनन्द-भाव, तेरी सहानुभूति; सब नये सिरे से स्मरण आते हैं। तू हमारा ध्येय है, उद्देश्य है। तू हमारा आश्रय है।

मात, तू धन्य है, धन्य है।

तेरा पुरुषार्थ! तेरा दिन रात का कार्य!

तू स्वयं शक्ति-स्वरूप है। पता नहीं, मात, किस विशाल आयोजना के लिए तू हर समय ही छोटे मोटे कामों में लगी रहती है। तेरा इतवार नहीं, तेरी छुट्टी नहीं। क्या हम कुछ नहीं करते धरते, इस लिए ही तुझे इतना अधिक करना पड़ता है?

मात ,तू धन्य है, धन्य है।

हे मात, तू किस रहस्यमय कार्यमें लगी हुई है? बता, क्या वह महान् दिव्य चेतना पृथ्वीपर अवतरित होगी? मात, क्या तू हम से तो सन्तुष्ट है?

तेरी उपस्थिति, तेरा प्रकाश, तेरा स्वरूप, तेरा उत्साह और अनथक कार्य, हमारे लिये सजीव प्रमाण हैं, मात, कि पृथ्वी दिव्य चेतना की अधिकारी बनेगी।

तू धन्य है, मात, धन्य है।

तेरा उपकार, तेरी योग-शैली, तेरा क्षमा-भाव, तेरी प्रेरणा—सब के सब अद्भुत। तू हमें कैसे रूपान्तिरित कर देती है! हम आये थे योग साधने, तपस्या करने, तू हमें आनन्द-मार्ग का रास्ता दिखाती है।

मात, तू धन्य है, धन्य है।

हम तेरे ऋणी हैं, जीवन से ऋणी हैं। भारत-भूमि तेरी ऋणी है। तू हमें बल दे, हम तेरे योग्य बालक बनें। तेरे दिव्य काम में कुछ सेवा कर सकें। तेरी शक्ति अपार है। धन्य है, मात, तू हमारी कृतज्ञता स्वीकार कर।

धन्य है मात, तू धन्य है।

हे दिव्य माता! तेरा दिव्य कार्य, तेरी दिव्य शक्ति, तेरी दिव्य शैली, मेरी समझसे बाहर हैं। पर मेरा रोम रोम यह चाहता है कि मात, तू मेरा जो चाहे सो बना दे। मैं तेरे हाथमें हूँ। तेरे हाथ में ही रहूं।

तू धन्य है, मात, धन्य है।

—इन्द्रसेन

---

# कुछ सामान्य चर्चा

(अदिति के पाठकों से तथा स्वतन्त्र जिज्ञासुओं से मिलने पर अनेकवार बड़ी रोचक बात चीत हो जाती है। कभी २ उनके प्रश्न विशेष सुन्दर होते हैं। उन में से सामान्य उपयोगी चीजें हम सम्भवतः हर अंक में ही इस स्तम्भ के आधीन दिया करेंगे।)

श्रीअरविन्द की पुस्तकें बड़ी कठिन हैं, क्या किया जाय ?

यह कष्ट और भी कई अनुभव करते हैं। परन्तु कष्ट के कारणों पर विचार करने से यह बहुत कुछ कम हो सकता है।

पहिले तो यह, कि श्रीअरविन्द के ग्रन्थों का विषय आध्यात्मिक विकास, उसकी अनेक अवस्थाएं और आध्यात्मिक अनुभव हैं। हमारा साधारण अनुभव इन से बहुत भिन्न है। मनोविज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जाने हुए की सहायता से ही नए विषय को समझता है। जहां नया विषय पहले ज्ञानसे काफी भिन्न हो वहां वह विशेष कठिन मालूम देगा ही।

फिर आध्यात्मिक विषय की अवस्थाओं तथा आध्यात्मिक अनुभव का श्रीअरविन्द का वर्णन और विवेचन मौलिक है। वह निजी अनुभव से लिखते हैं और उस अनुभव को वर्त्तमान युग की भाषा में व्यक्त करने का यत्न करते हैं, वह किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीका या व्याख्या नहीं कर रहे। ऐसी अवस्था में हर एक मौलिक विचारक को आवश्यकतानुसार कुछ नए पारिभाषिक शब्दों की रचना करनी होती है। यह शब्द हमेशा नए सीखने पड़ेंगे। इनके कारण भी पाठक श्रीअरविन्द साहित्य पढ़ते हुए कठिनाई अनुभव करते हैं। इन पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई दूर करने के लिये कुछ एक ग्रन्थों के अन्त में शब्दावलि के आधीन विशेष शब्दों की व्याख्या दे दी गई है, जिस से पाठक को काफी सहायता मिल जाती है। हिन्दी में अभी तक ऐसी शब्दावलि नहीं निकली। उसे हम शीघ्र निकालने का विचार रखतेहैं।

शायद श्रीअरविन्द की पुस्तकों के समझने में कठिनाई का सब से बड़ा कारण यह है कि हमें उन्हें सामान्य बौद्धिक तरीके से कुछ सूचना अथवा स्थूल घटनात्मक समाचार प्राप्त करने की दृष्टि से पढ़ते हैं। परन्तु वहां तो स्थूल घटनाओं तथा उनके सम्बन्धी विचार के स्थान पर आन्तरिक अवस्थाओं का वर्णन तथा उनका विचार है। हम साधारणतया बहिर्मुख भाव में रहते सहते हैं। आन्तरिक अनुभव के बारे में हमारी भावना ही नहीं होती अथवा कम होती है। ऐसी दशा में क्या आश्चर्य जो आध्यात्म विज्ञान का सारा विषय ही कुछ हवाई तथा खाली खाली मालूम दे। योग विषय में समझदारी से प्रवेश करने के लिये अपनी आन्तरिक अवस्थाओं—सुख दुःख, शान्ति अशान्ति, चञ्चलता अचञ्चलता, तथा काम, क्रोध, लोभ मोह आदि के लिये कुछ भावना होनी चाहिये। जैसे इनके लिये भावना बढ़ती जायगी वैसे ही श्रीअरविन्द के ग्रन्थ आनन्द-दायक बनते जायंगे। बार बार देखने में आता है कि कई ऐसे व्यक्ति जिनका भाषा—अंग्रेजी अथवा हिन्दी—का ज्ञान कम भी है परन्तु अन्तरनिरीक्षण की योग्यता अच्छी है और जीवन के विकास के लिये दृढ़ मांग है वह श्रीअरविन्द के ग्रन्थों में अपूर्व रस पाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मिल कर जो आनन्द होता है वह कहा नहीं जा सकता। दूसरी तरफ़ कालिजों के संस्कृत तथा दर्शन के उपाध्याय भी मिलते हैं जो श्रीअरविन्द के ग्रन्थों को समझने में असमर्थता अनुभव करते हैं। बात यह है कि आज कल हम अनुभवके दृष्टिकोण की जगह पर बहिर्मुख बुद्धि के दृष्टिकोण को ज्यादा अपनाए हुए हैं। हम स्थूल कर्म को सत्ता अनुभव करते हैं परन्तु उसकी

मानसिक प्रेरणाको, जिसके कारण वह कर्म होता है और जिस प्रेरणा का वह कर्म केवल फलस्वरूप है, सत्ता अनुभव कम ही करते हैं। अपशब्द कहे जाने पर मानो किसी ने पीट दिया। पीटने का कारण अपशब्द का कहना कहा जाता है। वास्तव में अपशब्द कहे जाने पर व्यक्ति में क्रोध हुआ, उस क्रोध के कारण उसने पीटा। पीटने का कारण इस लिए आन्तरिक क्रोधभाव है। मनुष्य सामान्य प्रकृतिसे ही बहिर्मुख है, फिर वर्त्तमान् वैज्ञानिक संस्कृति उसे उसी भाव में दृढ़ करती है जिस से वह कारण-स्वरूप आन्तरिक भावों की ओर कम ध्यान देता है। योग का सारा विषय ही आन्तरिक विकास, उन्नति, आनन्द और संस्कृति है। योगके लिये मनुष्य-जीवन का उद्देश ही आन्तरिक संगठनको समुन्नत करना, उसे प्रकाशित और आनन्दित बनाना है। विज्ञान, इसके विपरीत, बाह्य स्थूल-प्रकृति जीतने में लगा हुआ है। योग के लिये स्वराज्य, अपने आप पर विजय, तथा साम्राज्य, परिस्थिति पर विजय, दोनों होने चाहियें। परन्तु दोनों में से प्रथम स्वराज्य है, उसीसे ही साम्राज्य स्थापित होता है।

अनुभव के दृष्टिकोण के मर्म को समझ जाने से मनुष्य आध्यामिक साहित्य को सामान्य रूप से अधिक रस से पढ़ने लगेगा। इस सम्बन्ध में योग के विद्यार्थियों का बड़ा सुन्दर अनुभव है। एक ही पुस्तक को आज वह जितना समझते हैं उस से कहीं अधिक वह एक वर्ष बाद समझने लगते हैं जबकि उनका अपना विकास दो कदम और आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार अपने विकास के साथ साथ पुस्तक का प्रतिपादित योग विषय उत्तरोत्तर अधिक समझ में आने लगता है और सहायक होता जाता है।

लेखक की लेखन-शैली उसके व्यक्तित्व का अंग होती ही है, तिस पर वर्णनका विषयभी उस शैली को कुछ हद तक निर्धारित करता है। आध्यात्मिक अनुभव एक समग्रसत्ता-भाव रखता है। उसे विश्लेषणात्मक शैलीमें कहनेमें भारी अनौचित्य उपस्थित होता है। यही कारण है कि 'Life Divine' में जैसी वाक्य रचना है वह 'गीता प्रबन्ध' में नहीं।

निश्चय ही श्रीअरविन्द के ग्रन्थों में प्रवेश प्राप्त करने में थोड़ी सहायता से अनेक लोग जल्दी सफल हो जाते हैं। जिसने पहले कुछ प्रयत्न कर रक्खा है और श्रीअरविन्द के ग्रन्थों का रस पिया है वह दूसरे को योग्य दृष्टिकोण पैदा करने में सहायक होता है। योगविद्या पूरी विद्या है फिर सूक्ष्म विद्या है, इसमें प्रवेश करने के लिए तथा इस विद्या के ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिए कुछ सहायता बड़ी सरलता उपस्थित कर सकती है।

अनेक बार लोग श्रीअरविन्द के ग्रन्थों को शुरू भी कहीं विशेष कष्ट वाली जगहसे कर देते हैं। Life Divine का नाम अधिक प्रसिद्ध है इस लिये बहुत लोग पहले पहले उसी वृहद् दार्शनिक ग्रन्थकोही पढ़ना चाहते हैं। उसके पढ़ने के लिए दार्शनिक विचारकी योग्यता चाहिये तथा पर्याप्त धीरज चाहिये। Life Divine से सामान्य आदमी निराश हो जाय इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु मातृवाणी के प्रश्नोत्तर-शैली वाली व्याख्या से सामान्य जिज्ञासु भी निराश होते कम देखे गये हैं। इसके अतिरिक्त शुरू में 'योग के आधार' 'योगप्रदीप' 'हमारा योग और उसके उद्देश्य' आदि छोटी पुस्तकें पढ़कर देखनी चाहियें।

यदि श्रीअरविन्द सम्बन्धी बिलकुल सामान्य बौद्धिक विचार पैदा करने की इच्छा हो, जो पहले पहल साधारणतया होती है, तो कलकत्ते के पाठ-मन्दिर के Annual तथा मद्रास से प्रकाशित Advent अथवा अदिति के निबन्ध और लेख तथा कुछ व्याख्यात्मक पुस्तकें जो निकल रही हैं शायद उपयोगी सिद्ध हों।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि योग विषयका अध्ययन एक जिज्ञासा और धीरजकी मर्यादा मांगता है, जिस के बिना इस विषय में सफलता की आशा करना कठिन है।

'धीर पुरुष' की बड़ी महिमा है। जीवन के हर

( शेष ५८ पृष्ठ पर )

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय शास्त्री
पडामाथ
23 August 1913
वि. सं. १९७० भाद्र शुक्ल ३ बुधवार

## लेखक-परिचय

**श्री के० डी० सेठना—**

आप श्रीअरविन्द के दर्शन और योग को खूब ही समझते हैं। बड़ी भारी विशेषता यह है कि आप श्रीअरविन्द के दृष्टिकोण विषयक गूढ़तम भावों को अत्यन्त सहज अधिगम्य शैली में उपस्थित करते हैं। आपके श्रीअरविन्द-सम्बन्धी अनेक लेख Illustrated Weekly of India और All India Literary Weekly में निकल चुके हैं। सब के सब बड़े सुन्दर और बड़े मार्मिक।

**श्री कृष्णलाल जी—**

आप श्रीअरविन्द आश्रम पाँडीचरीके कलाकार हैं। इस अंक का अनेक-रंगा चित्र आपका ही है। इस २४ अप्रेल को श्रीमाता जी को आश्रम में पधारे हुए पचीस वर्ष पूरे होते हैं। यह पचीस वर्ष आश्रम के अपने जन्म तथा विकास का पूरा इतिहास है। इन वर्षों का देश के आध्यात्मिक विकास में क्या स्थान है अथवा होगा यह भविष्य ही बतलायेगा, परन्तु इन वर्षों की स्मृति हमें गद् गद् कर देती है, यह हमें निश्चित पता है। इस सुअवसर पर श्रीकृष्णलाल जी ने अपनी यह कलात्मक रचना देकर हमें बड़ा आनन्द प्रस्तुत किया है। 'मृत्योर्माऽमृतं गमय', हम अमरता की देवी से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें मृत्यु पार करवा कर अमरता प्रदान करे। इस अवसर पर हमें और क्या भावना और अभीप्सा चाहिये।

---

( ५७ पृ० का शेष )

क्षेत्र में ही, परन्तु सबसे अधिक योग और अध्यात्म विद्यामें। आत्मविकास के 'धीर' जिज्ञासु अपनी रुची और जिज्ञासा के अनुसार एक अथवा दूसरी पुस्तक को अनुभव करने का यत्न करते हुए निश्चित श्रीअरविन्दके अमर आध्यात्मिक साहित्य का अमृत रस पान करेंगे। आज अथवा कल अथवा परसों।

—इन्द्रसेन

## पुस्तक-परिचय

**Sri Aurobindo**
by Dr. K. R. Srinivasa Iyengar

पृ० ४२५ मूल्य ८)

यह 'श्रीअरविन्द' नाम की पुस्तक श्रीअरविन्द की जीवनी, उन के विचार, साहित्य तथा कार्य, का समूचा दृश्य उपस्थित करने का यत्न करती है। डा० आइंगर बड़े प्रसिद्ध और सिद्धस्त लेखक हैं। परन्तु यह काम बड़ा कठिन था। आध्यात्मिक व्यक्तित्व का स्वरूप उपस्थित करना कठिन है ही। आध्यात्मिक जीवन हुवा जो विशेष रूप से आन्तरिक सत्ता। श्रीअरविन्द ने स्वयं ही एक बार कहा था 'No one can write about my life, because it has not been on the surface for man to see.' कोई मेरी जीवनी नहीं लिख सकता क्योंकि मेरा जीवन उपरितल पर नहीं रहा जिसे कोई वर्णन कर सके। परन्तु डा० आइंगर अपने कार्यमें अत्यन्त सफल हुए हैं। वह बड़े सुन्दर संकेतात्मक वर्णनों द्वारा श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक रहस्य को भी जतला सके हैं। श्रीअरविन्द के विस्तृत साहित्य का सुन्दर परिचय तो उन्होंने करवा ही दिया है। डा० अईगर निश्चय ही हमारी कृतज्ञता और बधाई के पात्र हैं।

**Sri Aurobindo** by Ghosh & Ghosh

मूल्य ८ आने

इस पुस्तका में दो निबन्ध हैं, एक श्रीअरविन्द की जीवनी पर दूसरा उनके दर्शन पर। दोनों निबन्ध सामान्य परिचय के लिये बड़े उत्तम हैं। प्रारम्भिक जानकारी के लिये पुस्तक बहुत उपयोगी है।

दोनों लेखकों ने बड़ी सुन्दरता और मार्मिकता के साथ, थोड़े पृष्ठों में ही, श्रीअरविन्द के व्यक्तित्व तथा विचारों का एक सामान्य दिग्दर्शन करवा दिया है। प्राथमिक जानकारी के लिये यह पुस्तक बड़ी उपयोगी रहेगी।

Telephones 8283 5283
7284 2518

Telegrams 'SUNDERSON'
everywhere

# S. N. SUNDERSON & Co.

*Post Box No. 85*, CONNAUGHT CIRCUS,

**NEW DELHI**

**BRANCHES**

| | | |
|---|---|---|
| CALCUTTA | CAWNPORE | LAHORE |
| MEERUT | KHEWRA | JHARIA |
| DELHI | PATNA | SATNA |

**SUB-OFFICES**

| | |
|---|---|
| JAITWARA | DANDOT |
| MAIHAR | SODY |

**ACTIVITIES**

**Cements**, Grey, White, Coloured, Cement Water Proofers, Impermo, Cico & Composeal —— **Limes**, Satna, Katni, Maihar, Panjab for Masonary, White Washing, Clarification & Tanning etc. —— **Paints**, Industrial, Ready Mixed, Stiff, Colours, Varnishes, Enamels, Linseed Oils, Turpentine etc. —— **Flooring Materials**, Cement Colours, Carborandum & Polishing Stones, Marble & Shell Chips, Cardinal & Mansion Polish, Wax and Tiles etc. —— **Minerals**, Lime Stone, Gypsum, Ochres, Yellow & Red, Bareyties, Soap Stone, Bauxite & Dolomite etc.——**Sanitary** Plumbers, Engineers & Contractors, Stockists Stoneware, C. I., R. W, G. I. Pipes & Brass Fittings, Glazed-ware Goods etc.——**Contracts**, Buildings, Roads & Sanitary, —— **Abbrasives**, Sand Paper, Emery Paper, Emery Cloth, Water Paper & Emery Powder etc. —— **Refractories**, Fire Bricks, Fire Clay, Fire Cement etc. —— Road and Concrete Materials, Badarpur Sand, River Sand, Stone Ballast, Morrum and Concrete etc. **Forest Products**, Timber, Bamboos, Ballies and Fire wood etc. —— **Coals** Steam, Soft, Hard, Dust, Rubble etc. —— **Chemicals & Pharmaceuticals Brick Fields —— Life Insurance —— Mill Stores —— Woodware Furnishing —— Electric Goods —— Rubber Goods —— Iron & Hardware Estate Agents —— Cloth —— Honey etc.**

**SRI AUROBINDO LITERATURE**

**Printing, Publishing, Translating, Selling & Aditi Press**

# बिड़ला लेबोरेटरीज़

८ रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता

**आयुर्वैदिक बायोलोजिकल फार्मास्युटिकल तथा केमिकल औषधिओं के प्रस्तुत कर्त्ता**

कुछ विशेष प्रभावशाली औषधियाँ :—

### नियोच्यवनप्राश

बिटामिन और कैलसियम के संयोग से बना हुआ अमोघ फलदायक है।

### नियोग्राप्पा

भूख की कमी, शारीरिक दौर्बल्य और क्षय आदि के लिये अद्वितीय पेय पदार्थ।

### होरमोसोक

अशोक और हौरमोन से बना हुआ रजः कृच्छ्ता, रज का अधिक आना तथा जरायु के रोगोंमें लाभप्रद है।

### लिकोसोल

श्वेत प्रदर में रामबाण है—स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता में बहुत लाभ प्रद है।

### गैस्ट्रोसोल

पुराने अजीर्ण, अपच आदि उदर के रोगों में उत्तम लाभ दिखाता है।

### नियोलैक्स ( रेचक वटी )

पुरानी कोष्ठबद्धता में इसके सेवन करने से लाभ होता है और साथ ही आदत भी नहीं पड़ती है।

बिड़ला लेबोरेटरीज़ की सब औषधियां निम्न पते से प्राप्त कीजिये :—

तार का पता—'सण्डरसन' नई देहली

फोन नं० ८२८३

## बिड़ला लेबोरेटरीज़ सेल्स डिपो

( एस० एन० सण्डरसन एण्ड को० )

**कनाट सरकस, नई देहली**

# श्रीअरविन्द आश्रम पांडीचेरी

का

अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला गुजराती तलिगी
तामिल आदि भाषाओं

में

सम्पूर्ण साहित्य

## श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली

से

प्राप्त किया जा सकता है।

'अदिति' के पिछले दो वर्षों की फाइलें भी प्राप्त हो सकती हैं।
मूल्य प्रति वर्ष ४) रु०

---

## अदिति में विज्ञापन

| दर:— | एक अङ्क में | वर्ष के चारों अङ्कों में |
|---|---|---|
| पूरा पृष्ठ | २५) | ९०) |
| आधा ,, | १६) | ४५) |
| चौथाई ,, | ७) | २५) |

विज्ञापनों को स्वीकार करने का अधिकार सम्पादक को होगा।

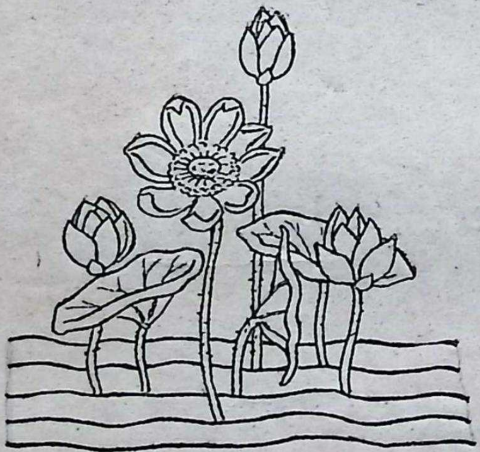

श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर द्वारा अदिति मुद्रणालय देहली में मुद्रित तथा प्रकाशित।

वर्ष ३ अङ्क ३

अगस्त १९४५

# अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित
त्रैमासिक पत्रिका

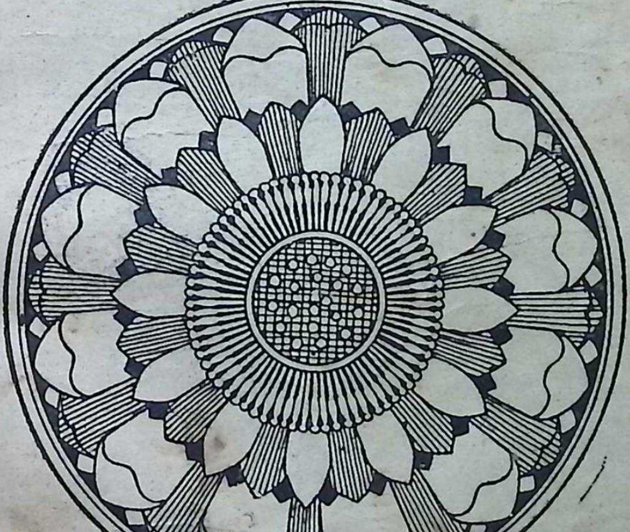

अनागसो अदितये स्याम

अनागसो अदितये स्याम

'May we be sinless and faultless in the presence of Aditi.'—*Sri Aurobindo*

# अदिति

ग्यारहवीं कला

१५ अगस्त १९४५ के श्रीअरविन्द-दर्शन के उपलक्ष में

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय बारखोटा
पञानाथ
23 August 1913
वी. सं. १९७० भाद्र शुक्ल ३ बुधवार

सम्पादक—
डा० इन्द्रसेन एम० ए०, पीएच० डी०

एक अङ्क १)
वर्ष भर के चारों अङ्क ४)

प्रकाशकः—
एस० एन० संडर्सन एण्ड को०
श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस
नई देहली

१२

# विषय-सूची


**मातृवचनामृत—**

प्रार्थना व ध्यान ... ... ५

**श्रीअरविन्दवाणी—**

१. वैदिक सूक्त-सुधा

(८) वायु, प्राणशक्तियों का अधिपति ६

२. कर्मयोगी

(७) शान्ति की शक्ति

३. श्रीअरविन्द के पत्र

पत्रों के निष्कर्ष

योग-भय ... आचार्य अभयदेव

'पातञ्जल योग और श्रीअरविन्द की योगपद्धति' ... डा० इन्द्रसेन

**पूर्णयोग—**

(५) भक्तियोग ... नलिनीकान्त २५

एकान्तसेवी योगी श्रीअरविन्द ... स्वा० निखिलानन्द २८

मेरे स्वामी ! ... स्वा० ब्रह्मानन्द ३६

अवतरण की प्रार्थना (कविता) ... विद्याव्रत ३७

एक पत्र ... वेदव्रत ३८

मानवीय कार्यों की प्रवाहदिशा—१९४५ ... चारुचन्द्र दत्त ४१

आध्यात्मिक रेडियो ... सुरेन्द्रनाथ ४८

सिद्धि (कहानी) ... मोहन स्वामी ४९

यूरोपीय युद्ध का अन्त ... डा० इन्द्रसेन ५३

सामान्य चर्चा ... " ५७

लेखक-परिचय ... " ६०

मातृवचनामृत—

# प्रार्थना व ध्यान

## (१)

जब तक हमारी सत्ता का एक भी अङ्ग, हमारे चिन्तनकी एक भी क्रिया किसी बाहरी प्रभाव के अधीन है, अर्थात् एकमात्र तेरे प्रभाव के अधीन नहीं है तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि तेरे साथ हमारा सच्चा एकत्व स्थापित हो गया है, बल्कि यही कहना होगा कि अभी तक वहां व्यवस्था और ज्योति से हीन एक विकट सम्मिश्रण है, क्योंकि वह अङ्ग, वह क्रिया अपने-आप में एक जगत् ही है, असङ्गति और अन्धकार का एक जगत् ही है जैसे कि यह समूची पृथ्वी भौतिक जगत्के अन्दर और यह भौतिक जगत् समग्र विश्वके अन्दर है ...।

२ दिसम्बर १६१२

## (२)

शान्तभाव से जलनेवाली दीपशिखा की भान्ति, बिना हिले-डुले ऊपर की ओर उठने वाली धूपकी सुगन्धि की भान्ति मेरा प्रेम तेरी ओर जा रहा है; और मैं एक बच्चे की भान्ति, जो न तो तर्क-वितर्क करता न किसी तरह की चिन्ता ही करता है, पूर्ण रूप से तेरे ऊपर निर्भर करती हूँ जिस में तेरी इच्छा पूर्ण हो, तेरी ज्योति प्रकट हो, तेरी शान्ति चारों ओर विकीर्ण हो और तेरा प्रेम सारे जगत् को आच्छादित कर ले। जब तू चाहेगा तभी मैं तेरी सत्ता में प्रवेश कर जाऊंगी, तेरे साथ एक हो जाऊंगी, बिना किसी भेदभाव के 'तू' ही बन जाऊंगी। और मैं बिना किसी प्रकारकी अधीरता के उस शुभ घड़ीकी प्रतीक्षा कर रही हूं तथा अबाध रूप से अपने-आप को उसकी ओर प्रवाहित होने दे रही हूं जैसे कोई शान्त जल-धारा असीम समुद्र की ओर बहती जाती है।

तेरी शान्ति मेरे अन्दर वर्तमान है और उस शान्ति में मैं शाश्वत स्थिरता के साथ केवल तुझे ही सब वस्तुओं में विद्यमान देख रही हूँ।

७ दिसम्बर १६१२

# वैदिक सूक्त-सुधा

## (८)

## वायु, प्राणशक्तियों का अधिपति

### ऋग्वेद ४.४८

**विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः ।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥**

[ रायः विपः ] आनन्द के अभिव्यञ्जक, और [अर्यः न] कर्म के कर्त्ता की तरह, तू [अवीता होत्रा] अव्यक्त पड़ी यज्ञिय शक्तियों को [ विहि ] व्यक्त कर दे; [ वायो ] हे वायु, [ चन्द्रेण रथेन ] सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढ़कर [ आयाहि ] तू आ, [ सुतस्य पीतये ] सोमरस को पीने के लिये ॥ १ ॥

**निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः ।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥**

[अशस्तीः] सब अनभिव्यक्तियों को [निर्युवाणः] अपने पास से दूर हटाता हुआ [ नियुत्वान् ] अपने 'नियुत' घोड़ों सहित [ इन्द्रसारथिः ] और इन्द्र को सारथि के रूप में लेकर (हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढ़ कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये । ) ॥ २ ॥

**अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा ।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥**

दोनों जो कि [कृष्णे] अन्धकारावृत हैं, तो भी [ वसुधिती ] सब ऐश्वर्यों को धारण किये हुए हैं, और [ विश्वपेशसा ] जिनके अन्दर सब रूप हैं [अनुयेमाते] अपने प्रयत्न में तेरा अनुसेवन करेंगे । (आ, हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ में चढ़ कर तू आ, सोमरस को पीने के लिये ।) ॥ ३ ॥

**वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव ।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥**

[ युक्तासः ] जुते हुए [ मनोयुजः ] मन द्वारा जोते जाने वाले [ नवतिः नव ] निन्यानवे (घोड़े) [ त्वा वहन्तु ] तुझे वहन करें । ( हे वायु, सुखमय प्रकाश के अपने रथ पर चढ़ कर तू आ; सोमरस को पीने के लिये ) ॥ ४ ॥

**वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम् ।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥**

[वायो] ओ वायु, तू [ शतं हरीणाम् ] अपने सौ चमकीले घोड़ों को [ पोष्याणाम् ] जो कि पोष्य हैं, जिन्हें बढ़ाया जाना है [ युवस्व ] नियुक्त करदे, [उत वा] अथवा [ ते सहस्रिणः रथः] हजार (घोड़ों) से युक्त तेरा रथ [पाजसा] अपने अति वेग के साथ [आयातु] आये ॥ ५ ॥

### भाष्य

वैदिक ऋषियों के अध्यात्मसम्बन्धी आलोचन प्रायःकर एक आश्चर्यजनक गूढ़ता को लिये हुए हैं और सबसे अधिक गूढ़ता वहां है जहाँ कि वे अवचेतन के अन्दर से उद्भूत होती हुई मन और प्राण की सचेतन क्रियाशीलताओं की घटना का वर्णन करते हैं। यहां तक कहा जा सकता है कि यह विचार ही उस समृद्ध और सूक्ष्म दर्शन (Philosophy) का सारा आधार है जो (दर्शन) ज्ञान की उस प्राचीन उषा में इन अन्तःप्रेरणा-युक्त रहस्यवादियों द्वारा आविष्कृत किया गया था। और ऋषि वामदेव ने जैसी सूक्ष्मता तथा उत्तमता के साथ इसे व्यक्त किया है उससे बढ़ कर कोई और नहीं कर सका है, यह ऋषि गम्भीरतम द्रष्टाओं में से एक है और साथ ही वैदिक युग के मधुरतम गायकों में से है। उसके सूक्तों में से एक, चतुर्थ मण्डल का अन्तिम सूक्त, सचमुच सबसे अधिक महत्त्व की कुञ्जी है जो कि उस प्रतीकवाद को

खोलने के लिये हमें मिलती है जिस प्रतीकवाद ने यज्ञ के रूपकों के पीछे उन अध्यात्मसम्बन्धी अनुभवों व बोधों के वास्तविक रूपों को छिपा रखा है जिन्हें आर्य पूर्वज इतना अधिक पवित्र मानते थे।

उस सूक्त में वामदेव अवचेतन के उस समुद्र का वर्णन करता है जो हमारे जीवन और क्रियाशीलता आदि सब के आधार में है। उस समुद्र में से संवेदनात्मक सत्ता की "मधुमय लहर" उठती है, जो अपने असिद्ध आनन्द के बोझ से अभी मुक्त नहीं हुई है, वह "घृत" और "सोम" से भरपूर होकर अर्थात् उस विशुद्ध मानसिक चेतना तथा उस प्रकाशमान आनन्द से भरपूर होकर जो आता है, ऊपर उठती है अमरता के आकाश की ओर। मानसिक चेतना का "गुह्य नाम", वह जिह्वा जिससे देवता जगत् का स्वाद लेते हैं, और अमरता की नाभि, वह **आनन्द** ही है जिसका कि प्रतीक 'सोम' है *। क्योंकि सारी रचना अवचेतन के अन्दर मानो चार सींगों वाले बैल, दिव्य पुरुष, द्वारा उद्वमन कर दी गई है, जिसके चार सींग हैं **असीम सत्ता** ( सत् ), **चेतना** ( चित् ), **सुख** ( आनन्द ) और **सत्य** ( विज्ञान)×। प्रागैतिहासिक युग की प्राचीन रहस्यमयी और प्रतीकात्मक कला के अवशेषभूत अत्यन्त वेढङ्गेपनों और अद्‌भुत रूपकों की स्मृति करा देने वाले बहुत ही प्रबल परस्परविरोध वाले रूपकों में, वामदेव हमारे सामने पुरुषका वर्णन एक बैलके रूप में करता है, जिसके चार सींग हैं और ये हैं, चार दिव्य तत्त्व; तीन पैर या तीन टांगें हैं, जो हैं तीन मानवीय तत्त्व—मनोवृत्ति, प्राणमय सक्रियता और भौतिक स्थूल तत्त्व; दो सिर हैं, अर्थात् **आत्मा** और **अनात्माकी**, या **पुरुष** और **प्रकृति** की, द्विविध चेतना; सात हाथ हैं, अर्थात् सप्तविध प्राकृतिक क्रियायें, जो कि सात लोकों के अनुसार हुआ करती हैं। "तीन स्थानों में बद्ध—अर्थात् मन में बद्ध, प्राणशक्तियों में बद्ध, शरीर में बद्ध—वह **बैल** जोर से शब्द करता है; वह महान् देव मर्त्यों के अन्दर प्रविष्ट हुआ हुआ है।"[1]

क्योंकि "घृतम्" अर्थात् मनोवृत्ति का वह निर्मल प्रकाश जो **सत्य** को प्रतिबिम्बित करता है, पणियों द्वारा, निम्न ऐन्द्रियिक क्रिया के अधिपतियों द्वारा, छिपा लिया गया है और अवचेतन के अन्दर बन्द कर दिया गया है; हमारे विचारों में, हमारी इच्छाओं में, हमारी भौतिक चेतना में तीन स्थानों में **प्रकाश** और **आनन्द** स्थापित किये हुए हैं, पर वे हम से छिपा लिये गये हैं। देवता गौ के अन्दर, जो गौ ऊपर से आने वाले **प्रकाश** का प्रतीक है, इस "घृतम्" की शुद्ध धाराओं को पाते हैं[2]। ये धारायें, ऋषि कहता है, वस्तुओं के **हृदय** से, अवचेतन के समुद्र से, **हृद्यात् समुद्रात्**, उठती हैं, पर उन्हें शत्रु वृत्र ने सैंकड़ों बाड़ों में घेर लिया

* समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्। घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ ४. ५८. १॥

(समुद्रात्) समुद्रसे (मधुमान् ऊर्मिः) मधुमय लहर (उदारत्) उठती है, (अंशुना) इस सोम द्वारा मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरता को (उप सं आनट्) पूर्णरूप से पा लेता है। (यत्) जो सोम (घृतस्य गुह्यं नाम) निर्मलता का गुह्य नाम, (देवानां जिह्वा) देवोंकी जिह्वा, (अमृतस्य नाभिः) अमृत की नाभि (अस्ति) है।

× चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्।

१ चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ ३॥

२ त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्॥ ४॥

है, ताकि वे विवेक की आंख से बची रहें, उस ज्ञान से बची रहें जो ज्ञान हमारे अन्दर उसे प्रकाशित कर देने का यत्न करता है जो कि अप्रकाशित छिपा पड़ा है, और उसे मुक्त कर देना चाहता है जो कि बन्द पड़ा है [३]। आशुगामिनी होकर घनीभूत हुई हुई, वातमय क्रिया से सीमित हुई हुई, प्राणशक्ति **वायु** की छोटी छोटी रचनाओं में परिणत होती हुई, **वातप्रमियः**, ये धारायें मार्ग में अवचेतन की सीमाओं पर चलती हैं। सचेतन हृदय और मन की अनुभूतियों द्वारा उत्तरोत्तर पवित्र की जाती हुई ये **प्रकृति** की शक्तियां अन्त में **दिव्य सङ्कल्प** रूप **अग्नि** के साथ परिणय के योग्य हो जाती हैं, जो अग्नि उनकी सीमाओंको तोड़ गिराता है और स्वयं उनकी उन लहरों से जो अब प्रचुर हो गई हैं पोषित किया जाता है +। यह है जीवन की क्रान्ति जिससे कि मर्त्य प्रकृति अमरता में परिणत होने की तैयारी करती है।

सूक्त की अन्तिम ऋचा में वामदेव सारी सत्ता को इस रूप में वर्णित करता है कि वह ऊपर दिव्य **पुरुष** के धाम में, नीचे अवचेतन के समुद्र में तथा **जीवन** में, **अन्तः समुद्रे हृदि अन्तरायुषि**, अधिश्रित है। तो सचेतन मन ही वह प्रणाली है, वह मध्यवर्त्ती साधन **है**, जिस के द्वारा ऊर्ध्वसमुद्र और अधःसमुद्र में, अतिचेतन और अवचेतन में, दिव्य प्रकाश और प्रकृतिके प्रारम्भिक अन्धकार में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है।

वायु है जीवन का देवता। प्राचीन रहस्यवादी ऋषि जीवनतत्त्व को यह समझते थे कि वह एक महान् शक्ति **है** जो सारी भौतिक सत्ता में व्यापक है और इसकी सब चेष्टाओंका कारण है। यही विचार है जो पीछे जाकर **प्राण**, जगद्व्यापक जीवन-श्वास, के स्वरूप में परिणत हो गया। मनुष्य की सारी जीवनसूचक या वातजन्य चेष्टायें **प्राण** की परिभाषाके अन्दर आ जाती हैं और वे **वायु** के साम्राज्य-क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। तो भी औरों की तुलना में ऋग्वेद में इस महान् देवता के सूक्त थोड़े से ही हैं और उन सूक्तों तक में जिनमें कि इसका मुख्य रूप से आवाहन किया गया है यह प्रायः अकेला नहीं किन्तु अन्यों के साथ में आया है, और वह भी इस तरह कि यह उनके आश्रित है। विशेषतया वह 'इन्द्र' के साथ जोड़ा गया है और यह भी प्रायः देखने में आयेगा कि मानो वैदिक ऋषि उससे जो कार्य लेना चाहते थे उसमें उसे (वायु को) उस उच्चतर देव की (इन्द्र की) सहायता अपेक्षित होती थी। जब मनुष्य के अन्दर जीवन-शक्तियों की दिव्यक्रिया का प्रश्न होता है तब **वायु** का स्थान वैदिक **अश्व** या **दधिक्रावा** के रूप में प्रायः **अग्नि** ले लेता है।

यदि हम ऋषियों के आधारभूत विचारों को देखें तो **वायु** की यह स्थिति स्पष्ट समझ आ जाती है। उच्च सत्ता के द्वारा निम्न सत्ता का, दिव्य के द्वारा मर्त्य का, प्रकाशित होना उनका मुख्य विचार था। **प्रकाश** और **शक्ति**, **गौ** और **अश्व** ये यज्ञ के उद्दिष्ट पदार्थ थे। **शक्ति** थी आवश्यक शर्त, **प्रकाश** था मुक्त कराने वाला तत्त्व; और 'इन्द्र' तथा 'सूर्य' उस **प्रकाश** के मुख्य लाने वाले थे। इसके अतिरिक्त, वह अपेक्षित शक्ति **दिव्य संकल्प** रूप था जो सब मानवीय शक्तियों पर अधिकार

---

३ एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् शतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ॥ ५ ॥

+ सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य (मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः) ॥ ६ ॥

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वा। घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभिः पिन्वमानः ॥ ७ ॥

कर लेता और अपने आप को उन में प्रकट कर देता था; और इस संकल्प का, वातमय प्राण-शक्ति पर अधिकार कर लेने और अपने आपको उसमें प्रकट कर देने वाला सचेतन बल की इस शक्ति का, प्रतीक 'वायु' से बढ़ कर अग्नि था और विशेष कर दधिक्रावा अग्नि। क्योंकि अग्नि ही है जो तपस् का, अपने को जगद्व्यापक शक्ति के रूप में व्यवस्थित करने वाली दिव्य चेतना का, अधिपति है, प्राण उसका केवल निम्न सत्ता में रहने वाला एक प्रतिनिधि है। इसलिये वामदेव के चतुर्थ मण्डल के ५८ वें सूक्त में इन्द्र, सूर्य और अग्नि ही हैं जो कि अवचेतन के अन्दर से सचेतन दिव्यता की महती अभिव्यक्ति को करने वाले हैं। वात या वायु, प्राणसम्बन्धी क्रिया, मन की, उद्भूत होते हुए मन की केवल एक प्रथम शर्त है। और मनुष्य के लिये वायु का महत्त्वपूर्ण कार्य है यह कि प्राण का मन के साथ मिलन हो और वह प्राण मन के उद्भव में सहायता प्रदान करे। यह कारण है कि हम, इन्द्र जो कि मन का अधिपति है, और वायु, जो कि प्राण का अधिपति है, को इकट्ठा जुड़ा हुआ और वायु को कुछ अंशों मे इन्द्र के आश्रित हुआ पाते हैं; मरुत, विचार-शक्तियां, यद्यपि मूलतः वे जितनी इन्द्र की शक्तियाँ प्रतीत होते हैं उतनी ही वायुकी भी, तो भी ऋषियों के लिये वे स्वयं वायु की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और वायवीय सेनाओं के इस प्राकृतिक मुखिया (वायु देवता) की अपेक्षा वे अग्नि रुद्र के साथ कहीं अधिक निकटता से सम्बन्धित हैं।

यह प्रस्तुत, ४र्थ मण्डल का ४८ वां, सूक्त उन तीन में अन्तिम है, जिनमें वामदेव सोम-रस को पीने के लिये इन्द्र और वायु का आवाहन कर रहा है। वे सम्मिलित रूप से प्रकाशमान शक्ति के दो देवताओं, शवसस्पती *, के रूपमें पुकारे गये हैं, जैसे कि इससे पूर्व के मण्डल में आने वाले एक अन्य सूक्त में उन्हें विचार के देवता, धियस्पती, के तौर पर आवाहन किया गया है। इन्द्र है मानसिक शक्ति का देवता, वायु है वातिक या प्राणसम्बन्धी शक्तिका, और उन दोनोंका सम्मिलन विचारके लिये तथा क्रियाके लिए आवश्यक है। उन्हें आमन्त्रित किया गया है कि वे एक ही रथ में चढ़ कर आयें और मिल कर उस आनन्द के रस का पान करें जो अपने साथ देवत्व प्रदान करने वाली शक्तियों को लाता है †। वायु, कहा गया है कि, प्रथम घूंटको पीनेका अधिकारी है+, क्योंकि विधारक प्राणशक्तियां ही हैं जिन्हें अवश्य सर्वप्रथम दिव्य क्रिया के आनन्द को ग्रहण करने योग्य हो जाना चाहिये।

इस तीसरे सूक्त में, जिसमें कि यज्ञ का परिणाम वर्णित किया गया है, वायु अकेला आवाहन किया गया है*, पर इस अवस्था में भी इन्द्र के साथ उसकी सहचारिता स्पष्टतया दर्शा दी गई है। उसे कहा गया है कि वह सुखमय प्रकाश के रथ में चढ़ कर, जैसे कि एक दूसरे सूक्त में यही उषा को कहा गया है, अमृतकारक रस को पीने के लिये आये+। रथ प्रतीक है शक्ति की गति का और यह है पहले से ही प्रकाशमान प्राणशक्तियों की प्रसन्न गति जिसे वायु के रूप में आवाहन किया गया है। इस प्रकाशमान सुखमय गति की दिव्य उपयोगिता प्रथम तीन ऋचाओं में बतलाई गई है।

इस देव को अभिव्यक्त करनी है—उसे उन

---

* ४. ४७. ३ † दविष्टिषु + ४. ४६. १

* इससे पहले के दोनों सूक्तों ४६, ४७ के देवता 'इन्द्रवायू' सम्मिलित हैं।

+ वायो आ चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये।

यज्ञिय शक्तियों को जो कि अब तक अभिव्यक्त नहीं हुई हैं, अब तक अवचेतन के अन्धकार में छिपी पड़ी हैं, सचेतन क्रिया के प्रकाश में लाना है †। कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार वाक्य का यह अनुवाद किया जा सकता है, "उन हवियों का तू भक्षण कर जो अभक्षित पड़ी हैं", या 'वी' धातु का दूसरा अर्थ 'पहुंचना' लें तो अर्थ कर सकते हैं, "उन यज्ञिय शक्तियों के पास तू पहुँच जिनके पास नहीं पहुँचा गया है"; पर प्रतीक रूप में इन सब अनुवादों का निष्कर्ष वही आध्यात्मिक अर्थ निकलता है। शक्तियों और क्रियाओं को, जिन्हें अबतक अवचेतन के अन्दर से बाहर नहीं निकाला गया है, इन्द्र तथा वायु की सम्मिलित क्रिया के द्वारा उस गहन गुफा के भीतर से मुक्त कराना है और फिर उन्हें कर्ममें विनियुक्त कराना है।

क्योंकि यह प्राणमय मनोवृत्ति की कोई सामान्य सी क्रिया नहीं है जिसके प्रति उन्हें बुलाया गया है। वायु को इन शक्तियों को इस रूप से अभिव्यक्त करना है जैसे कि वह "कोई परमानन्द का अभिव्यञ्जक, कोई आर्य कर्म का कर्ता" हो, विपो न रायो अर्यः। ये शब्द पर्याप्त रूप से उन शक्तियों का स्वरूप दर्शा देते हैं जिन्हें उद्बुद्ध किया जाना है। तो भी यह सम्भव है कि यह वाक्य गूढ़रूप से इन्द्र की तरफ संकेत करता हो * और इस प्रकार यह दर्शाता हो, जो कि बाद में स्पष्ट तौर पर ही व्यक्त हो गया है, कि यह आवश्यक है कि वायु की क्रिया उस अधिक प्रकाशमान देव ( इन्द्र ) की प्रकाशपूर्ण और अभीप्सायुक्त शक्ति से नियन्त्रित हो। क्योंकि यह इन्द्र का ही प्रकाश है जो कि परम आनन्द के प्रकट होने के रहस्य को प्राप्त करा देता है और वह ( इन्द्र ) इस महान् कार्य में सर्वप्रथम प्रयास करने वाला है। देवों में से इन्द्र, अग्नि और सूर्य के लिए ही विशेषतः 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है, एक ऐसी गहनार्थता को अपने अन्दर रखता हुआ जो कि शब्दानुवाद में प्रकट नहीं की जा सकती यह 'अर्य' शब्द उन्हें सूचित करता है जो कि उच्च अभीप्सा के लिए उद्यत होते हैं और जो भद्र तथा आनन्द को पाने के लिये एक हविःप्रदान के रूप में महान् यत्न करते हैं।

दूसरी ऋचामें इन्द्रकी पथप्रदर्शिताकी आवश्यकता स्पष्ट रूप से पुष्ट कर दी गई है वायु को उन सब नकारों को जो कि अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति के विरोध में हो सकते हैं परे हटाते हुए आना है, नि॒र्युवा॒णो अश॑स्तीः, 'अशस्तीः'का शाब्दिक अर्थ है 'अभिव्यक्तियोंका न होना' और इससे प्रकट होता है आच्छादक शक्तियें, जैसे कि वृत्र द्वारा उन प्रकाश और शक्ति का निरोध कर लिया जाना जो कि देवों के प्रभाव द्वारा और शब्दके कर्तृत्व द्वारा अभिव्यक्ति में आने को तैयार पड़े हैं, प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। शब्द है वह शक्ति जो कि अभिव्यक्त करती है, शस्त्रम्, गीः, वाचः। परन्तु इस बातकी आवश्यकता होती है कि दिव्य शक्तियों द्वारा शब्द की रक्षा की जाय और इसे इसका उचित कर्तृत्व प्रदान किया जाय। यह कार्य वायु को करना है; उसे नकारोंकी, बाधाओंकी, अनभिव्यक्तिकी सब शक्तियों को बाहर निकाल देना है। इस कार्य को करने के लिये 'नियुत' घोड़ों सहित और इन्द्र को सारथिरूप में लेकर, नियुत्वान् इन्द्रसारथिः, उसे अवश्यमेव

---

† विहि होत्रा अवीता।

* 'विपो न रायो अर्यः' इस वाक्यांशका यदि यह अनुवाद करें "आनन्द का अभिव्यञ्जक जो अर्य ( इन्द्र ) है उस की तरह" तू भी।

पहुँचना है। इन्द्रके, वायुके, सूर्यके तीनोंके घोड़ों के अपने अपने यथोचित नाम हैं। इन्द्रके घोड़े हैं हरि या बभ्रु अर्थात् अरुणवर्ण के या भूरे; सूर्य के हरित, जिससे अपेक्षाकृत अधिक गहरा, पूर्ण और घना चमकीलापन सूचित होता है; वायु के नियुत हैं अर्थात् नियुक्त होने वाले घोड़े क्योंकि वे उन क्रियावान् गतियों के द्योतक हैं जो शक्ति को उसकी क्रिया में नियुक्त कर देती हैं। पर यद्यपि हैं तो वे वायुके घोड़े, पर हांके जाते हैं इन्द्रसे अर्थात् वातमय और प्राणमय शक्तिके देव की गतियां मन के देव द्वारा परिचालित होती हैं।

तीसरी ऋचा+ पहले पहल कुछ ऐसी लगती है कि इसमें एक असम्बद्ध सा विचार चल पड़ा; इसमें अन्धकारावृत और सब रूपों को अपने अन्दर रखने वाले द्यावापृथिवी का वर्णन है जो अपने प्रयत्नमें वायु की गतियों के आज्ञानुवर्ती होते हैं या उनका अनुसरण करते हैं, जो वायु इन्द्र से हांके जाने वाले रथ पर बैठा है। उनका यहां नामोल्लेख नहीं किया गया है पर इस रूप में वर्णन है कि कोई दो हैं जो काले या अन्धकारावृत हैं और वसु या ऐश्वर्य को अपने अन्दर रखे हुए, वसुधिती, हैं; परन्तु 'वसुधिती' शब्दके प्रयोगसे पर्याप्त स्पष्ट तौर पर यह पता चल जाता है कि यह पृथ्वी (वसुधा) है और क्योंकि द्विवचनान्त प्रयोग है इसलिए उसके साथ उसका सहचर द्यौ भी आ जाता है। यह हमें ध्यानमें ले आना चाहिये कि यहां जिनका उल्लेख है वे पिता द्यौ और माता पृथिवी नहीं हैं, परन्तु दो बहिनें, रोदसी, द्यौ व पृथिवीके स्त्री-रूप, हैं जो कि मानसिक तथा भौतिक चेतना की सामान्य शक्तियों की प्रतीक हैं। यह उनकी अन्धकारमय अवस्थायें—मानसिक और भौतिक इन अपनी दो सीमाओं के बीच की अन्धकारावृत चेतना—हैं जो वातमय क्रियाशीलता की प्रसन्न गति द्वारा वायु की गति के अनुसार या वायु के नियन्त्रण के नीचे यत्न करने लगती हैं और अपने छिपे पड़े रूपों को व्यक्त करने लग पड़ती हैं; क्योंकि सभी रूप उनके अन्दर छिपे पड़े हैं और अवश्य ही उन्हें उनको व्यक्त करने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये। इस प्रकार हमें स्पष्ट हो जाता है कि यह ऋचा अपनी पूर्ववर्ती दो ऋचाओं के भाव को पूर्ण करने वाली ही है। क्योंकि सदा ही जब वेद को समुचित रूप में समझ लिया जाता है तो इसकी ऋचायें एक गम्भीर युक्तियुक्त सङ्गति के साथ और अर्थपूर्ण क्रमके साथ विचारको खोलती हुई दिखलायी देती हैं।

अवशिष्ट दो ऋचायें वर्णन करती हैं उस परिणाम को जो द्यौ और पृथिवी की इस क्रिया से, और जब वायु का रथ द्रुत वेग से आनन्द की ओर दौड़ता है उस समय की वायु की गति पर जो वे (द्यावापृथिवी) छिपे पड़े रूपों को और अनभिव्यक्त शक्तियों को व्यक्त करने लग पड़ते हैं उससे जनित होता है। सर्वप्रथम, उसके घोड़ों को अपनी सामान्यतया पूर्ण सरल संख्या को पा लेना है। "निन्यानवे घोड़े, जो मन द्वारा जोते जाते हैं, नियुक्त किये जायें और वे तुझे वहन करें *।" बार बार आने वाली निन्यानवे, सौ और हजार की संख्यायें वेद में एक प्रतीकात्मक अर्थ को रखती हैं, जिसे ठीक ठीक रूप से खोल सकना बड़ा कठिन है। रहस्य सम्भवतः यह है कि सात की रहस्यपूर्ण संख्या को उसी से गुणन करके जो उनचास की संख्या आती है उसे दुगना करके और उसके शुरू में और अन्त में एक की संख्या जोड़ने से सौ की

+ अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा

* वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव

संख्या बनती है, १÷४९+४९+१=१०० । सात है अभिव्यक्त प्रकृति के मुख्य तत्त्वों की संख्या, दिव्य चेतना के सात रूप जो कि विश्व-लीला में कार्य करते हैं। प्रत्येक पृथक् पृथक् लिया जाये तो अपने अन्दर बाकी छहों को रखता है; इस प्रकार पूर्ण संख्या ७×७ अर्थात् ४९ हो जाती है, और इसमें वह ऊपर की एक की संख्या और जोड़ दी जाती है जिसमें से सब कुछ विकसित होता है, तो सब मिलाकर पचास का प्रमाण (scale) बनता है जो कि सक्रिय चेतना का पूर्ण पैमाना है। पर साथ ही आरोह और अवरोह की शृङ्खला से इस (एक के साथ जुड़ने वाली ४९ की संख्या) का द्विगुणीकरण भी होता है, अवरोह देवों का, आरोह मनुष्य का। इससे निन्यानवे (१+४९+४९) की संख्या बनती है जो वेद में विविध रूप में घोड़ों, नगरों, नदियों के लिये, प्रत्येक स्थिति में एक जुदा किन्तु सजातीय प्रतीकवाद को लिए हुए, प्रयुक्त की गयी है। यदि हम नीचे एक की उस अन्धकारावृत संख्या, जिसके अन्दर सब कुछ अवरोहण करके आता है, को ऊपर उस प्रकाशमय संख्या के साथ, जिसकी तरफ सब आरोहण करके जाता है और जोड़ दें तो एक सौ का पूरा प्रमाण (scale) बन जाता है।

इसलिये यह है चेतना की एक सम्मिश्र (न कि सरल) शक्ति जो कि वायु की गति के परिणामभूत उत्पन्न होती है, यह है उस मानसिक क्रियाकी पूर्णतम गतिका उद्भव हो जाना, जो कि मानसिक क्रिया अभी मनुष्य के अन्दर केवल निगूढ़ और सम्भवकी अवस्था में है,—मन द्वारा जोते जाने वाले निन्यानवे घोड़ों का नियुक्त किया जाना। और अगली ऋचामें ऊपर वाली अन्तिम एक की संख्या जोड़ दी गई है। वहां हम सौ घोड़े देखते हैं, और क्योंकि क्रिया अब पूर्ण प्रकाशमान मनोवृत्ति की हो गई है इसलिये ये घोड़े, यद्यपि वे अब भी वायु और इन्द्र को वहन करते हैं, अब केवल 'नियुत' नहीं रहे किन्तु 'हरि' हो गये हैं, जो कि इन्द्र के चमकदार घोड़ों का रंग है। "ओ वायु, तू सौ चमकीले घोड़ों को नियुक्त कर, जो कि पोष्य हैं, जिन को बढ़ाया जाना है।" *

पर 'पोष्य' क्यों हैं, बढ़ाये जाने योग्य क्यों हैं? क्योंकि सौ तो विविधतया संयुक्त गतियों की सरल पूर्णताको ही सूचित करता है, पर उनकी पूरी सम्मिश्र-रूपता को नहीं। सौ में से प्रत्येक को दस से गुणित किया जा सकता है; सब अपने निज निज प्रकार से वर्धित या पोषित किये जा सकते हैं; क्योंकि 'पोष्याणाम्' शब्द से जो वृद्धि सूचित होती है वह इसी स्वरूप की है। इसलिये ऋषि कहता है कि या तो तू सौ की सरल पूर्णता के साथ आ जो कि बाद में बढ़कर दशगुणित सौ अर्थात् हजार की पूर्ण संमिश्ररूपता को प्राप्त हो जायगी, या यदि तेरी इच्छा हो तो एकदम हजार के साथ आ जा और अपनी गति को इस की संपूर्ण संभावित शक्तिके पूरे वेगमें आ जाने दे÷। जिसे वह चाह रहा है वह है पूर्णतः वैविध्ययुक्त, सबको अपनी परिधि में ले लेने वाला, सबको शक्ति प्रदान करने वाला मानसिक प्रकाश जो सत्ता, शक्ति, सुख, ज्ञान, मनोवृत्ति, प्राण-शक्ति, भौतिक क्रियाशीलता की अपनी पूर्ण उन्नति से युक्त है। क्योंकि यदि यह प्राप्त हो जाये तो अवचेतन बाध्य हो जाता है कि वह पूर्णताप्राप्त मन की इच्छा पर अपने सब छिपे पड़े हुए संभाव्य रूपों को मुक्त कर देवे ताकि पूर्णताप्राप्त जीवन (प्राण) की समृद्ध और प्रचुरतापूर्ण गति हो सके।

---

* वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्

÷ उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा

# कर्मयोगी

## सप्तम अध्याय

## शान्ति की शक्ति

विश्व में दो महान् शक्तियाँ हैं, नीरवता और वाक्। नीरवता सब तैयारी करती है, वाक् उत्पन्न करती है। नीरवता कार्य करती है, वाक् (वाणी) कार्य के लिये प्रेरणा प्रदान करती है। नीरवता बाधित करती है, वाणी अनुरोध करती है। संसार की सब की सब अपरिमेय और अचिन्त्य प्रक्रियाएं अपने आपको अन्दर ही अन्दर पूर्ण बनाती हैं, उस गम्भीर और महामहिम नीरवता के अन्दर जो कि शब्द के कोलाहलपूर्ण और भ्रान्तिजनक उपरितल से आवृत होती है--ऊपर होती है अनगिनत तरंगों की हलचल, नीचे समुद्र की अथाह अदम्य जलराशि। मनुष्य तरंगों को देखते हैं, वे किंवदंती और सहस्रों आवाजों को सुनते हैं, और इन के द्वारा वे भविष्य की दिशा का और ईश्वरीय संकल्प के मर्म का निर्णय कर लेते हैं; परन्तु दस में से नौ अवस्थाओं में वे निर्णय गलत होते हैं। इसलिए ही यह कहा जाता है कि इतिहास में सदा अप्रत्याशित ही घटित होता है। परन्तु अप्रत्याशित घटित नहीं होगा अगर मनुष्य अपनी आंखें उपरितल पर से हटा सकें और अन्दर पैठ कर सारतत्त्व को देख सकें, अगर वे प्रतीतियों को एक तरफ रखने और उनका भेदन कर उनसे परे निगूढ़ और प्रच्छन्न सद्वस्तु तक पहुंचने का अपने आपको अभ्यासी बना लें, अगर वे जीवन के शोर को सुनना बन्द कर दें और उसकी जगह उसकी नीरवता को सुनें।

बड़े से बड़े श्रम प्राण को अन्दर रोके रख कर किए जाते हैं; श्वास लेना जितना अधिक तेज होगा, उतना ही अधिक शक्तिका अपव्यय होगा। जो पुरुष कार्यके समय श्वास लेना स्वाभाविकतया, सहजतया बन्द कर सकता है, वह प्राणका–उस शक्तिका जो सम्पूर्ण विश्व में काम करती और सर्जन करती है–स्वामी है। सभी योगियों का यह सामान्य अनुभव है कि जब विचार बन्द होता है, श्वसन भी बन्द हो जाता है,—पूर्ण कुम्भक जिसे हठयोगी अपरिमित कष्ट और घोर प्रयास के साथ सिद्ध कर पाता है, इस प्रकार अपने आप सुगमतया व आनन्दपूर्वक साधित हो जाता है,—परन्तु जब विचार पुनः प्रारम्भ होता है तो श्वास भी अपनी क्रिया को फिर शुरू कर देता है। परन्तु जब विचार, श्वास प्रश्वास के बिना प्रवृत्त हुए, प्रवाहित होता है तब प्राण सच्चे तौर पर जीता जाता है। यह प्रकृति का नियम है। जब हम काम करने का प्रयत्न करते हैं तो प्रकृति की शक्तियां हमारे साथ अपनी मनमानी करती हैं; जब हम शान्त हो जाते हैं तो हम उनके ईश बन जाते हैं। परंतु शान्ति दो प्रकार की होती है—जड़ता

की असहाय शान्ति, जो विनाश की उद्घोषणा करती है, और दूसरी सुनिश्चित ईशत्वकी शान्ति जो जीवन की संगीतमयता को अधिष्ठित करती है। यह ईशत्वयुक्त शान्ति ही योगी की स्थिरता है। स्थिरता जितनी ही अधिक पूर्ण होगी, यौगिक शक्ति उतनी ही अधिक प्रबल होगी, कर्मगत तेज उतना ही अधिक महान् होगा।

इस स्थिरता में, यथार्थ ज्ञान उदित होता है। मनुष्यों के विचार सच और झूठ, सत्यम् और अनृतम् के सम्मिश्रण होते हैं। असत्य बोध सत्य बोध को विकृत और आच्छादित कर देता है, झूठा निर्णय सच्चे निर्णय को पंगु बना देता है, झूठी कल्पना सच्ची कल्पना को विरूप कर देती है, झूठी स्मृति सच्ची स्मृति को धोखे में डाल देती है। मन की क्रिया को बन्द होना होगा, चित्त को पवित्र करना होगा, प्रकृति की चञ्चलता पर निश्चलनीरवता को छा जाना होगा, तब उस स्थिरता में, उस निःशब्द शान्तता में प्रकाश मन पर आ उतरता है, गलती दूर होने लगती है और, जब तक कामना फिर हलचल नहीं करती तब तक, निर्मलता चेतना के निम्नतर स्तर में शान्ति और सुखको अनिवार्य बनाती हुई, उच्चतर स्तर में अपने आपको प्रतिष्ठित रखती है। यथार्थ ज्ञान यथार्थ कर्म का अचूक स्रोत बन जाता है। योगः कर्मसु कौशलम्।

योगी का ज्ञान साधारण कामना-परिचालित मन का ज्ञान नहीं होता। न ही यह वैज्ञानिक तर्कबुद्धि का या लौकिक व्यवहारकुशल बुद्धि का ज्ञान होता है जो बुद्धि कि ऊपरी तथ्यों पर अपना आधार रखती है और अनुभव तथा संभवनीयता का सहारा लेती है। योगी ईश्वर के काम करने के ढंग को जानता है और उसे यह पता होता है कि असंभवनीय भी बहुधा घटित हो जाता है, कि तथ्य भी भटका देते हैं। वह बुद्धि से ऊपर उस साक्षात् और प्रकाशपूर्ण ज्ञान तक उठ जाता है जिसे हम विज्ञान कहते हैं। कामनापरिचालित मन अच्छे और बुरे की, रुचिकर और अरुचिकर की, सुख और दुःख की विषम उलझन में फंसा रहता है। वह सदा ही अच्छे को, सदा ही रुचिकर को, सदा ही सुख को पाने की कोशिश करता है। सौभाग्यपूर्ण घटनाओं से वह फूल जाता है, उन से विपरीत घटनाओं के द्वारा वह विक्षुब्ध और निस्तेज हो जाता है। परन्तु द्रष्टा ( योगी ) की प्रकाशयुक्त चक्षु यह देखती है कि सब कुछ ही भले की ओर ले जाने वाला है; क्योंकि ईश्वर सब कुछ है और ईश्वर सर्वमङ्गलमय है। वह जानता है कि प्रतीयमान बुराई बहुधा अच्छाई तक पहुंचने का लघुतम मार्ग होती है, अरुचिकर वस्तु रुचिकरको तैयार करनेके लिये अनिवार्य होती है, दुर्भाग्य पूर्णतर सुख को प्राप्त करने की शर्तरूप होता है। उसकी बुद्धि द्वन्द्वों की दासता से मुक्त हो जाती है।

अतएव योगी का कार्य वैसा नहीं होगा जैसा कि साधारण मनुष्य का। वह प्रायः ऐसा दिखाई देगा मानो बुराई के लिये अनुमति देता हो, विपत्ति को हटाने के अवसर को टालता हो, उन भद्रहृदय पुरुषों के प्रयत्नों में अपनी सहमति देने से इन्कार करता हो

जो हिंसा और दुष्टता का प्रतिरोध करते हैं; वह 'पिशाच' की तरह (पिशाचवत्) काम करता प्रतीत होगा। अथवा मनुष्य उसे 'जड़', गति-शून्य, पत्थर, स्तम्भ समझेंगे क्योंकि जहां क्रियाशीलता की मांग दिखाई देती है वहां वह निष्क्रिय रहता है; जहां लोग जोर जोर से बोलने की आशा करते हैं वहां वह शान्त तथा जहाँ गहरे और अत्युत्कट भाव का कारण होता है वहां वह अचलायमान रहता है। जब वह काम करेगा, मनुष्य उसे 'उन्मत्त', पागल, केन्द्रच्युत या मूढ़ कहेंगे; क्योंकि उसके काम बहुधा ऐसे लगेंगे कि उनका कोई निश्चित फल या प्रयोजन नहीं है, और वे उच्छृङ्खल, अनियमित, सामान्य बुद्धि और संभाव्यता की पर्वाह न करने वाले या एक ऐसे उद्देश्य और एक ऐसी दृष्टि से प्रेरित हैं जो इस संसार के लिये नहीं है। और यह सच है कि वह एक ऐसे प्रकाश का अनुसरण करता है जो दूसरे लोगों को प्राप्त नहीं होता या जिसे वे अन्धकार कहकर पुकारना भी पसन्द करेंगे; कि जो कुछ उनके लिये स्वप्न है, उसके लिये वह वास्तविकता है; कि उनकी रात उसका दिन है। और यही, इस भेद का भी मूल है कि जब वे तर्क ही करते होते हैं तब वह जानता है।

निश्चलनीरवता, शान्तता, प्रकाशित निष्क्रियता के लिये समर्थ होना अमरता के योग्य होना है—अमृतत्वाय कल्पते। यह धीर होना है, जो कि हमारी प्राचीन सभ्यता का आदर्श है, जिस का कि अर्थ तामसिक, गतिशून्य और पत्थर होना नहीं है। तामसिक, मनुष्य की अक्रियता उसके चारों ओर की शक्तियों के लिये प्रतिबन्धक रूप होती है, योगी की अक्रियता उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती है; उसकी सक्रियता महान् प्राकृतिक शक्तियों की साक्षात्, अतीव महान् संचालन-शक्ति से क्रियाशील होती है। यह एक आभ्यंतरीण शान्ति होती है जो कि बहुधा बाहर से वाक्व्यवहार और सक्रियता की तरंग से आच्छादित रहती है—जैसे बाहिरी चपल तरंगों से आच्छादित समुद्र। परन्तु जैसे कि लोग संसारके निरर्थक कोलाहल और इसकी अस्थिर घटनाओं में से ईश्वरकी कार्यशैलियों की वास्तविकता को नहीं देख पाते, क्योंकि वे (कार्यशैलियां) उस पर्दे के पीछे छिपी हुई होती हैं, उसी प्रकार वे योगी के कार्य को समझने में भी असफल ही रहेंगे, क्योंकि वह भीतर में उस से भिन्न होता है जैसा कि वह बाहर से दिखाई देता है। कोलाहल और सक्रियता की शक्ति, निःसन्देह, महान् है,—क्या जैरिको की दीवारें कोलाहल की शक्ति से नहीं गिर गई थीं? परन्तु अनन्त है उस शान्ति और उस नीरवता की शक्ति, जिन में कि महान् शक्तियाँ कार्य के लिये तैयारी करती हैं।

श्रीअरविन्द के पत्र—

## पत्रों के निष्कर्ष

( १ )

इस योग का सिद्धान्त यह नहीं कि मानव-प्रकृति जैसी भी है उसी की पूर्णता करना बल्कि पहले आन्तरिक चेतना के और फिर उच्चतर चेतना के कार्य द्वारा सत्ता के सभी भागों का अन्तरात्मिक और आध्यात्मिक रूपान्तर करना है—इस रूपान्तर कार्य में उपर्युक्त चेतना हमारी सत्ता के सभी भागों पर कार्य करती, पुरानी गतियों को निकाल फेंकती या उन्हें अपनी प्रतिमा के रूप में परिवर्तित करती और इस प्रकार निम्नतर प्रकृति को उच्चतर में रूपान्तरित कर देती है। यह उतना अधिक बुद्धि को पूर्ण बनाना नहीं जितना कि उसका रूपान्तर करना, मन का रूपान्तर करना, उनके स्थान पर ज्ञान के विस्तीर्णतर और महत्तर तत्त्व को प्रतिष्ठित करना है। और यही बात सत्ता के शेष सब भागों के विषय में भी लागू होती है।

यह धीमे धीमे चलने वाली और कठिन प्रक्रिया है, मार्ग लम्बा है और आवश्यक आधार को स्थापित कर लेना भी कठिन कार्य होता है। पुरानी चली आ रही प्रकृति प्रतिरोध करती है और बाधा डालती है तथा कठिनाइयाँ एक के बाद एक उपस्थित होती जाती हैं, जब तक कि वे जीत नहीं ली जातीं।

( २ )

हमारे योग में निर्वाण है उच्चतर सत्य का प्रारम्भ, क्योंकि यह अज्ञान से उच्चतर सत्य की ओर जाने के मार्ग में पड़ता है। अज्ञान का निर्वाण करना होता है जिससे कि सत्य प्रकट हो सके।

( ३ )

जो कुछ हम कर रहे हैं, अगर और जब हम उसमें सफल होंगे तो, वह प्रारम्भ होगा, समाप्ति नहीं। वह पृथ्वी पर एक नयी चेतना की नींव डालना होगा—एक ऐसी चेतना की जो अभिव्यक्तिकरण की अनन्त सम्भावनाओं से युक्त है। अभिव्यक्तिकरण में ही शाश्वत प्रगति है और उसके परे कोई प्रगति नहीं है।

अगर आत्मा का भौतिक शरीर से छुटकारा ही उद्देश्य हो, तो विज्ञानमयीकरण की कोई जरूरत नहीं। आध्यात्मिक मुक्ति और निर्वाण पर्याप्त हैं। अगर उद्देश्य है अतिभौतिक स्तरों पर पहुंचना, तो भी विज्ञानमयीकरण की कोई जरूरत नहीं। कोई भी मनुष्य किसी उपरिस्थित देवलोक में उस देवलोक के देवता की आराधना द्वारा प्रवेश पा सकता है। किन्तु वह कोई प्रगति नहीं है। अन्य लोक आदर्शरूपात्मक (Typal) लोक हैं, उनमें से प्रत्येक अपने प्रकार, नमूने

और नियम में बंधा हुआ है, स्थिर है। विकास पृथ्वी पर घटित होता है और अतएव पृथ्वी प्रगति के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। दूसरे लोकों के जीव प्रगति करके एक लोक से दूसरे में नहीं जाते। वे अपने ही नमूने में स्थिर रहते हैं।

विशुद्धतया एकत्ववादी वेदान्ती कहता है, सब ब्रह्म है, जीवन स्वप्न है, अवास्तविकता है, केवल ब्रह्म सत् है। एक मनुष्य जो निर्वाण या मुक्ति प्राप्त करता है, केवल तभी तक जीता है जब तक शरीर छूट नहीं जाता—उस के बाद जीवन जैसी कोई चीज नहीं होती। वे रूपान्तर में विश्वास नहीं रखते, क्योंकि मन, प्राण और शरीर अज्ञान हैं, भ्रम हैं—एकमात्र सद्वस्तु है आकाररहित, सम्बन्ध-शून्य आत्मा या ब्रह्म—जीवन सम्बन्धों से युक्त वस्तु है; शुद्ध आत्मा में सब जीवन और सम्बन्ध विलुप्त हो जाते हैं। उस भ्रम को रूपान्तरित करने का क्या लाभ होगा और क्या सम्भावना होगी जो (चाहे जितना रूपान्तरित कर दिया जाय फिर भी) भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता? उन के लिये "निर्वाण का जीवन" जैसी कोई वस्तु नहीं है।

केवल कुछ ही योगमार्ग ऐसे हैं जिनका लक्ष्य किसी प्रकार का—अज्ञान का ज्ञान में रूपान्तर करने के सिवाय किसी अन्य प्रकार का—रूपान्तर करना होता है। रूपान्तर के सम्बन्ध में धारणा भिन्न भिन्न होती है,—कभी तो दिव्य ज्ञान या शक्ति या फिर दिव्य पवित्रता या सदाचारसम्बन्धी पूर्णता या दिव्य प्रेम।

जिस पर विजय प्राप्त करनी है वह है उस अज्ञान का विरोध जो प्रकृति का रूपान्तर नहीं चाहता। अगर उसके विरोध पर विजय प्राप्त की जा सके, तब पुरानी आध्यात्मिक धारणाएं मार्ग में बाधक नहीं बनेंगी।

सारी की सारी मानवजाति को विज्ञानमय बनाना हमारा अभिप्रेत नहीं है, किन्तु अभिप्रेत है पृथ्वी-विकास में विज्ञानमय चेतना के नियम को प्रतिष्ठित करना। अगर यह हो जाय, तो और जो कुछ प्रयोजनीय है वह सब विज्ञानमय शक्ति स्वयं विकसित कर देगी। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि हमारा कार्य दूर तक फैला हुआ हो। जो कुछ आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है वह तो यह कि उपर्युक्त बात सिद्ध हो सही, वह सिद्धि चाहे कितनी ही थोड़ी संख्या में क्यों न हो, वही एकमात्र कठिनाई है।

इसका अर्थ है, अगर शरीर का रूपान्तर पूर्णरूप से हो जाय तो, मृत्यु के वशवर्त्ती न रहना—इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी जीव सदा के लिए उसी शरीर को रखने के लिए बाधित रहेगा। कोई भी अपने लिए नया शरीर पैदा कर लेगा जब वह बदलना चाहेगा, किंतु यह कैसे किया जायगा यह अभी से नहीं कहा जा सकता। वर्तमान तरीका है भौतिक जन्म लेने के द्वारा—कई गुह्यविद्यावेत्ता कल्पना करते हैं कि समय आवेगा जब वह आवश्यक नहीं रहेगा—किंतु यह प्रश्न विज्ञानमय विकास-क्रिया के निर्णय के लिए छोड़ देना होगा।

अतिमानस-सम्बन्धी प्रश्नों का जवाब देना अभी विशेष लाभप्रद नहीं हो सकता।

अतिमानस का वर्णन ऐसे शब्दों में नहीं किया जा सकता जिन्हें कि मन समझ ले, क्योंकि शब्द मानसिक होंगे और मन उन्हें मानसिक तरीके से और मानसिक भाव में समझेगा और उन के सच्चे अर्थ को खो देगा। इसलिए अभी तो यह समय और शक्ति का अपव्यय करना होगा जिस समय और शक्ति को अभी प्राथमिक कार्य के लिए—सत्ता और प्रकृति के अन्तरात्ममयीकरण और अध्यात्ममयीकरण के लिए जिन के बिना अतिमानसीकरण सम्भव नहीं—अर्पित करना चाहिए। अभी अन्तरात्मा द्वारा परिचालित अपनी सम्पूर्ण क्रियाशील प्रकृति को क्रियाशील आध्यात्मिक प्रकाश, शान्ति, पवित्रता, ज्ञान, शक्तिसे अपने आपको परिपूर्ण कर लेने दो; उसके बाद उसे मध्यवर्ती आध्यात्मिक स्तरों का अनुभव प्राप्त करने दो तथा उनकी भावना में ज्ञान करने, अनुभव करने और कार्य करने दो, तब अंत में अतिमानस रूपान्तर की चर्चा करना संभव होगा।

( ४ )

अतिमानस-चैतन्य में, कोई समस्याएं नहीं होतीं—समस्या सदा मन द्वारा बनाये हुए विभाग या भेद से उत्पन्न होती है। अतिमानस चैतन्य तो सत्यको एक एकाकी अखण्ड के रूप में देखता है और उस अखण्ड में प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्थान में सन्निविष्ट हुई होती है। अतिमानस-स्तर ही आध्यात्मिक भी होता है, किंतु पुराने योग आध्यात्मीकृत मन द्वारा सच्चिदानन्द को पहुंचते हैं और सच्चिदानन्द के नित्यतया स्थितिशील एकत्व में चले जाते हैं या अधिक ठीक रूप में शुद्ध सत्—निरपेक्ष और नित्य—में या फिर शुद्ध असत्—निरपेक्ष और नित्य—में चले जाते हैं। हमारा योग आध्यात्मिक मन के स्तर में सच्चिदानन्दका साक्षात्कार करके अतिमानस-स्तर में उस का साक्षात्कार करने को आगे बढ़ता है।

परम विश्वातीत सच्चिदानन्द सब से ऊपर है। तो अतिमानस का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि यह उस (सच्चिदानन्द) की आत्म-संवित् और विश्व-संवित् की शक्ति है, चूंकि विश्व स्वयं उसीमें सत् है। इस प्रकार परम सच्चिदानन्द में सचेतन रूपसे निवास करने के लिए मनुष्य को अतिमानस में से गुजरना आवश्यक है। यदि कोई अभिव्यक्ति से पृथक् रह कर विश्वातीत में स्थित है, तो वहाँ समस्याओ या समाधानों के लिए कोई स्थान नहीं। अगर कोई एक ही समय में परात्परता और वैश्व दृष्टि में रहता है, तो यह तो परम सच्चिदानन्द-चैतन्य में अतिमानस-चैतन्य के द्वारा ही केवल हो सकता है—इसलिए प्रश्न उठेगा ही क्यों? विश्व के परम सच्चिदानन्द की दृष्टि से होने वाले वर्णन और अतिमानसकी दृष्टिसे होने वाले उसके वर्णन में भेद हो ही क्यों? बहुत-सम्भवतः तुम्हारी कठिनाई दोनों के विषय में मन की परिभाषाओं में ही सोचने के कारण पैदा होती है।

(१) अतिमानस न केवल अध्यात्ममयीकृत मन से सर्वथा विभिन्न चेतना है किन्तु

अध्यात्ममयीकृत मन के ऊपर के उन स्तरों से भी बिलकुल भिन्न है जो कि उस के और अतिमानस स्तर के बीच में पड़ते हैं। एक बार जब कोई अधिमानस को पार कर अतिमानस में पहुंच जाता है, वह एक ऐसी चेतना में प्रवेश करता है जिस पर अन्य स्तरों के नियम बिलकुल लागू नहीं होते और जिस में वही एक सत्य, उदाहरणार्थ सच्चिदानन्द, और इस विश्व का सत्य, बिलकुल ही भिन्न ढंग से दिखाई देता है और उस का क्रियात्मक तौर पर भिन्न ही फल होता है। यही परिणाम है जिस पर हम आवश्यक रूप से पहुंचते हैं जब कि हम इस तथ्य को देखते हैं कि अतिमानस का ज्ञान अखण्ड होता है, जबकि अधिमानस विभागमें एकता के द्वारा क्रिया करता है और मन विभाग द्वारा, विभाग को ही सर्वप्रथम तथ्य मान कर, क्योंकि वही उसके ज्ञान की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

(२) सभी स्तरों में सच्चिदानन्द का, शुद्ध सत, चैतन्य, आनन्द का सारभूत अनुभव समान होता है और मन प्रायः इसे एकमात्र सत्य समझ कर इसी से सन्तुष्ट रहता है और शेष सब को महान् भ्रम का भाग कह कर बहिष्कृत कर देता है, परन्तु भगवान् का या सत्ता का गतिशील अनुभव (उदाहरणार्थ एक और बहु, सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक, अनन्त और सान्त इत्यादि रूप) भी है जो पूर्ण ज्ञान के लिए आवश्यक है। गतिशील अनुभव निम्नतर स्तरों में वैसा ही नहीं होता जैसा कि उच्चतर में, मध्यवर्ती आध्यात्मिक स्तरों में वैसा नहीं जैसा कि अतिमानस में। उन में विरोधों को केवल इकट्ठा रखा जा सकता और सुसंगत किया जा सकता है, अतिमानस में वे एक साथ घुलमिल जाते हैं और अभेद्य रूप से एक हो रहते हैं; यह बात एक बड़ा भारी अन्तर कर देती है।

(३) विश्व सक्रियता, गति है—सक्रियता और गतिशीलता से पृथक् सच्चिदानन्द का सारभूत अनुभव स्थितिशील है। सच्चिदानन्द और विश्व के पूर्ण गतिशील सत्य और उस के परिणाम को अतिमानसके अतिरिक्त अन्य कोई चेतना ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि अन्य सब (निम्नतर) स्तरों में उपकरणक्रिया हीनतर है और अतएव स्थितिशील अनुभव की पूर्णता और अन्य स्तरों के हीनतर प्रकाश और शक्ति के परिणामभूत उनकी क्रियाशील शक्ति व ज्ञान की अपूर्णता, इन दोनों के बीच वैषम्य रहता है। यही कारण है जिस से कि अन्य आध्यात्मिक स्तरों की चेतना यद्यपि वह उतर भी आवे तो भी वह पृथ्वी-चेतना में कोई मूलगत परिवर्तन नहीं कर सकती, वह केवल उस में आंशिक परिवर्तन कर सकती या उसे समृद्ध कर सकती है। मूलगत रूपान्तर अतिमानस शक्ति और प्रकृति के अवतरण की ही अपेक्षा रखता है।

कोई भी व्यक्ति सच्चिदानन्द के दो प्रकार का होने की बात नहीं कह सकता, क्योंकि सच्चिदानन्द सदा ही समान है—किन्तु सच्चिदानन्द और विश्वका ज्ञान उस चेतना की कोटि के अनुसार भिन्न भिन्न होता है जिस चेतना द्वारा कि अनुभव प्राप्त किया जाता है।

भगवान् का सव्यक्तिक साक्षात्कार कभी रूपसहित और कभी रूपरहित हो सकता है। रूपरहित तब, जब कि यह सजीव भागवत पुरुष की उपस्थिति के तौर पर प्रकट होता है, जो उपस्थिति कि प्रत्येक वस्तुमें अनुभूत होती है। रूपसहित तब जब कि वह उस देव की प्रतिमा के रूप में प्रकट होता है जिस देव की पूजा की गयी होती है। भगवान् सदा ही भक्त या जिज्ञासु के सम्मुख अपने आप को रूपसहित भी प्रकट कर सकता है। कोई भी मनुष्य उसे उस रूप में देखता है जिस में कि वह उस की पूजा करता या उसे चाहता है या उस रूप में जो कि उस आराध्य देवता

(भागवत पुरुष) की अभिव्यक्तिके उपयुक्त हो। वह कैसे प्रकट होता है यह बात बहुत सी चीजों पर आश्रित होती है और यह इतनी अधिक विविधतापूर्ण है कि इसे एक ही नियम में सीमित नहीं किया जा सकता। यह रूपसहित उपस्थिति कभी तो हृदय में ही दिखाई देती है, कभी अन्य केन्द्रों में से किसी में, कभी सिर के ऊपर और वहांसे पथप्रदर्शन करती हुई; कभी वह बाहर और सम्मुख दिखाई देती है जैसे कि कोई शरीरधारी पुरुष हो। इसके लाभ हैं घनिष्ठ सम्बन्ध और सतत मार्गदर्शन अथवा, अगर वह अन्दर अनुभव होती या दीखती हो तो, सतत उपस्थिति का बहुत बलपूर्ण और मूर्त्तिमन्त साक्षात्कार। परन्तु प्रत्येक को अपनी उपासना और खोज की पवित्रता के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चयवान् होना चाहिये--क्योंकि इस प्रकार के साकार सम्बन्ध का नुकसान यह है कि अन्य शक्तियाँ उस रूप का अनुकरण कर सकती या नकली आवाज और बनावटी मार्गदर्शन दे सकती हैं और इस (नकली मार्गदर्शन या आवाज) को अधिक बल मिल जाता है अगर यह एक बनायी हुई प्रतिमा से भी सम्बन्धित होती है जो प्रतिमा कि सत्य वस्तु नहीं होती। कई लोग इस प्रकार गुमराह हो चुके हैं क्योंकि गर्व, मिथ्याभिमान या कामना उनमें प्रबल थी और उस ने उन का वह सूक्ष्मतर अन्तरात्मिक बोध अपहरण कर लिया था जो बोध कि मानसिक नहीं होता और जो ऐसी पथभ्रष्टताओं या गलतियों पर एकदम माता का प्रकाश डाल सकता है।

इत श्रीअरविन्द वाणी

---

## योग-भय

मनुष्य पहले ही नानाविध भयोंसे आक्रान्त है। रोग भय, मृत्यु भय, धननाश भय, निर्बल हो जाने का भय, नौकरी छिन जाने का भय, दूसरे के अप्रसन्न हो जाने का भय, अपमान-भय, पतन भय आदि आदि न जाने कितने कितने प्रकार के भय हैं, जिन से पहिले ही मनुष्य आक्रान्त, पीड़ित और त्रस्त रहता है। इन अनगिनत भयों में कम से कम एक और भय की वृद्धि हो गयी दीखती है।

'योग भय' नाम से इस नये भय का नाम आप ने चाहे सुना हो या न सुना हो, पर इस भय से पीड़ित व्यक्ति तो मैंने बहुत से देखे हैं।

* * *

एक अध्यापक अपने विद्यार्थी का सी. आई. डी. की तरह इसलिये पीछा करते और पता लगाते रहते थे कि वह कहीं योग की बातें करने वाले अमुक व्यक्ति के पास तो नहीं जाता। ऐसे अनेक माता पिताओं को जानता हूं, जो बड़ी ईमानदारी के साथ अपने पुत्रों को 'जीवन बर्बाद करने वाले' इन योगाभ्यासियों के 'फंदे' में पड़ने से बड़े यत्न से बचाना चाहते हैं, यद्यपि वे धर्म तथा ईश्वर की बड़ी बड़ी बातें और बढ़ बढ़कर करते हैं। एक महानुभाव अपने एक विद्वान् सम्बन्धी के विषय में बड़े चिंतित थे क्योंकि उन्हें कुछ ऐसा दीखता था कि उसे 'पांडिचेरी की बीमारी' होती जा रही है। मेरे एक मित्र की पत्नी अपने पति के धौति, नेति (हठयोग की शारीरिक शुद्धि के उपकरण) आदि वस्तुओं को मौका पाकर छिपा देती या फेंक देती थी। कई पति भी ऐसे देखे गये हैं जो कहते हैं कि उन की पत्नी न जाने क्या 'वाहियात' योग योग करने लगी

है और वे डरते हैं कि वह अमुक प्रसिद्ध साधु संन्यासियों के पास इसके लिये क्यों जाती है।

योग से दुनियावी सम्बन्ध विच्छेद हो जाने का जो एक भय होता है वह तो है ही, पर उसके अतिरिक्त भी बहुत से लोग बिना कुछ जाने ही वैसे ही योग से 'हौवे' की तरह या 'एक बला' की तरह डरते हैं।

* * *

मैं यह नहीं कहना चाहता कि योग से किसी को भी और किसी अवस्था में भी डरना नहीं चाहिये। पर यह जरूर कहना चाहता हूँ —और इसके कहे जानेकी बहुत जरूरत है—कि अन्य भयों की तरह यह योगभय भी प्राय: काल्पनिक होता है, अज्ञान के कारण होता है। जैसे साधारण धारणा यह है कि योग में प्रवृत्त होने पर दुनिया का सब सुख छिन जाता है। परन्तु योगसे जो अपार अक्षय सुखका द्वार खुल जाता है उसे वे नहीं जानते। इसी तरह लोग योग में पड़ अपना घर कुटुम्ब खतम हो जाने से डरते हैं, पर यह जरूरी नहीं है। और यदि यह खतम होता है तो उस से बहुत अधिक विशाल तथा उससे बहुत अधिक सच्चे और दृढ़ प्रेमसे युक्त घर कुटुम्ब मिल जाता है। बहुत से लोग योगमार्ग को बिल्कुल सूखा नीरस समझते हैं; पर उन्हें ठीक योगमार्ग का पता न होने से ही वे ऐसा समझ बैठते हैं। सच तो यह है कि जिस योगमें उत्तरोत्तर सरसता, सुख, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, शान्ति नहीं, तो उस योग में कुछ कमी है, कुछ गलती है। वह वास्तविक योग नहीं है।

योगके नामसे डरने वाले एक मेरे सुशिक्षित मित्र ने जब एक बार श्रीअरविन्द के योग-आश्रम को जाकर अच्छी तरह देख लिया तब उनका योगविषयक वह महाभय जाता रहा। उन्होंने तब कहा 'यदि योग-जीवन यह है, योग का परिणाम यह है, तब तो योग बड़ी अच्छी और अत्यन्त उपयोगी वस्तु है, यही है जिसकी मनुष्यको वास्तवमें आवश्यकता है'।

* * *

तो भी इसका यह मतलब भी नहीं कि योग से किसी को हानि नहीं होती या किसी को कुछ खतरा नहीं हो सकता। गलत तरीके से योग करनेके कारण बिगड़े हुए, क्षत विक्षत, आहत तथा विक्षिप्त हुए लोग हमें जगह जगह मिल सकते हैं। बहुत बार लोग विपरीत भाव से ही योग करते हैं। उनके लिये मातृवाणी में कितना ठीक कहा गया है :—

"खतरे और कठिनाइयां तो तब उपस्थित होती हैं जब कोई भगवान् के लिये योग-साधना नहीं करता, बल्कि इसको किसी शक्ति की प्राप्ति के लिये करता है और योगकी आड़ में किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति करना चाहता है। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओं से छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो। यह आग है जो जला देती है।"

परन्तु यदि हम ठीक तरीके से और ठीक भाव से योग करते हैं तो यही आग हमें तीव्र वेग से मानव जीवन के परम ध्येय, उच्चतम कल्याण की तरफ ले जाती है। क्योंकि तब भगवती माता की कृपा हम पर रहती है, और तब हमारे लिये भय का कोई भी कारण नहीं रह सकता। इसलिये श्रीअरविन्द हमें परम आश्वासन देते हुए कहते हैं :—

"और जब भगवती माता का वरद और रक्षक हाथ तुम्हारे ऊपर होगा तब फिर कौन है जो तुम्हारे ऊपर उंगली उठा सके या जिस से तुम्हें भय करना पड़े ? इसकी अत्यल्प मात्रा भी तुम्हें सब विघ्नबाधाओं और संकटों के पार कर देगी; इसकी पूर्ण सत्तासे घिर कर तुम अपने रास्ते पर निरापद आगे बढ़े चले जा सकते हो। क्योंकि यह रास्ता माता का है,

यहां किसी विभीषिका की चिन्ता नहीं, किसी शत्रु का भय नहीं—वह चाहे कितना ही बलवान् हो, इस जगत् का हो या अन्य किसी अदृश्य जगत् का। माता के वराभयहस्त का स्पर्श कठिनाइयों को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। कारण मां भगवती की दया भगवान् की अनुमति है और आज या कल उसका फल निश्चित है—पूर्व-निर्दिष्ट है, अवश्यंभावी और अकुण्ठ है"।

* * *

और असल में देखें तो योग में भय की बात ही क्या है, क्योंकि योग तो एक अत्यन्त स्वाभाविक वस्तु है। "सब जीवन ही योग है"। श्रीअरविन्द के इस वचन को जितना दोहराया जाय उतना थोड़ा है। योग से डरना जीवन से डरना है, मृत्यु की तरफ जाना है। अधिक प्रचलित अर्थ में कहें तो "भगवान् की तरफ जाने के लिये जीवन बिताना ही योग है"। वैसे तो, श्रीअरविन्दकी विशाल दृष्टि में, हर एक मनुष्य ही जाने अनजाने भगवान् की ओर ही जा रहा है, बिना जाने योग कर रहा है। पर जब वह आत्मा में जाग कर भगवान् को पानेके लिये यात्रा शुरू करता है तब प्रत्यक्ष 'योग करने वाला' हो जाता है। तो योग का अर्थ है, तीव्र गति से परमेश्वर की तरफ यात्रा करना। मानो पैदल या बैलगाड़ी में यात्रा करने के स्थान पर रेल पर या हवाई जहाज से भगवान् की तरफ यात्रा करना। सचमुच योग द्वारा कई जीवनों का काम एक जीवन में या कुछ वर्षों में पूरा हो जाता है।

यह ठीक है कि तीव्र गति के यान पर सवारी करने में खतरा भी अधिक हो सकता है। पर यह जरूरी नहीं है। यदि अच्छे चालक द्वारा चलाये जाने वाले दृढ़ और उत्तम यान पर सवारी करोगे तो वहां कोई खतरा नहीं होगा। श्रेष्ठ गुरुकी अधीनता में सच्चे उत्कृष्ट योगमार्ग पर चलोगे तो बड़ी तेजी से चलते हुए भी तुम्हें कोई भय नहीं हो सकता। भारत-वर्षमें शायद कुछ लोग अब भी ऐसे मिल जांय जो कि रेलगाड़ी पर इसलिये सवारी न करें, क्योंकि कभी कभी रेलें टकरा भी जाती हैं। पर भारत में भी आज प्रायः सभी लोग दिन रात रेल का सफर निःशंक होकर कर रहे हैं। यह सवारी एक आम सवारी हो गई है। बल्कि कुछ ही दिनों में हवाई जहाज की सवारी भी आम हो जाती दीखती है।

* * *

और समय आने वाला है—बड़ी तेजी से वह समय आरहा है—जब कि योग एक आम वस्तु हो जायेगी। समय आरहा है जब योग घर घर में दीपक की तरह जलेगा और घर भर को अपने अध्यात्मप्रकाश से प्रकाशित करेगा। हृदय हृदय में इस की पवित्र अग्नि प्रदीप्त होगी और मानव-जीवन को प्रकाशमान और सुगन्धित करेगी। शायद कोई भी आदमी इस से अछूता न रह सकेगा। ऐ योग से डरने वाले! निश्चय जान एक दिन तेरा दर्वाजा भी वह खटखटायेगा। उस समय तू उस नयेसे आगन्तुकको देखकर चौंक न जाना, डर के मारे अपना दरवाजा बन्द न कर लेना। क्योंकि इस से बढ़कर अकल्याणकी बात और कुछ न होगी। तूने तब बिलकुल निर्भय होकर इस परम कल्याणकारी अभ्यागत देव को हृदय से अपनाना, इस के लिये अपना सारा घर निःशंक होकर खोल देना, और इसे उसमें बसा लेना।

—अभय

---

# 'पातञ्जल-योग और श्रीअरविन्द की योग-पद्धति'

इस विषय पर श्री स्वामी ओम नन्दजी के 'कल्पवृक्ष' में प्रकाशित पहले तीन लेखों को पढ़ कर उनके संबन्धमें हमने अदिति ( फरवरी १९४५ ) में प्रसन्नता प्रकट की थी। हमने तब सामान्यतया यह अनुभव किया था कि दो योगाभ्यासियों में मतभेद की अवस्था में बड़ी उदारता और तटस्थता के साथ विचारों का आदानप्रदान हुआ है। उन लेखों के विचारों से हम सहमत नहीं थे, परन्तु लेखक की भावना और वृत्ति हमें अच्छी लगी थी।

परन्तु अब उन्होंने 'पातञ्जलयोग और श्रीअरविन्दकी योगपद्धति' इस नाम से एक ८८ पृष्ठ की पुस्तिका ही प्रकाशित कर दी है, और वह पुस्तिका हमारे पास समीक्षा के लिये भिजवाई है। उपस्थित पुस्तक में वे तीनों लेख हैं तथा जो सामग्री उनके अतिरिक्त है वह भी धाराबाही रूपसे कल्पवृक्ष में प्रकाशित हो रही है।

हमें बड़ी प्रसन्नता होती यदि हम शेष भाग के लिये भी वह प्रसन्नता प्रकट कर पाते जो हमने पहले तीन लेखों के लिये अनुभव की थी। वास्तव में इस भागमें, विशेष कर दो तीन स्थलों पर, लेखक महोदय अप्रत्याशित तलपर उतर आये हैं। स्वामी ओमानन्द जी के सम्बन्ध में यह जतलाते हुए भी हमें संकोच होता है कि उन्होंने अपनी युक्ति में कुछ अनुचित भाषा प्रयुक्त की है, यद्यपि नाम लेकर आक्षेप के रूप में नहीं की परन्तु प्रसंग और संकेत से आक्षेप स्पष्ट ही है। एक जगह पर "वैयक्तिक मोक्ष को पाना श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य नहीं" को अंगूर खट्टे हैं वाली बा बतलाया है (पृ.६५-६६)। एक और जगह 'भगवान् को मिलना है, पूरी तरह मिलना हैं, जगत् को नहीं छोड़ना' को एक फारसीके उद्धरण के अनुसार जनून बतलाया है। फिर एक जगह कुछ शब्दों को 'लोगों को प्रभावित करने तथा अपने सम्प्रदाय में खींचने' आदि के आशय वाला सम्भावित किया है। परन्तु जो उन्होंने पृ. ४० व ४१ पर लिखा है वह आश्चर्यजनक है। शक्ति-संचार योग और पातञ्जल योग की चर्चा करते हुए वह शक्ति-संचार क्रिया की यौगिक सत्यता को स्वीकार करते हुए भी शक्ति-संचार को 'ढोंग और पाखंड' अथवा 'दर्शन मात्र से शक्ति पहुँचाने की बात भी इसी प्रकार की है' आदि आदि बहुत कुछ कह गये हैं। संसार में किस चीज की विकृति या कौन सी चीज विकृत नहीं हो सकती? परन्तु क्योंकि कोई चीज विकृत हो सकती है इसलिये ही तो वह त्याज्य नहीं हो जाती। शायद ये सब आरोप श्रीअरविन्दपद्धति पर न हों क्योंकि पुस्तकके अन्त में स्वामीजी कहते हैं कि "फरवरी सन् १९४३ में लगभग एक मास श्रीअरविन्द आश्रम में रह कर उनके दर्शन तथा आश्रम के पवित्र व्यावहारिक और मानसिक वातावरण तथा आध्यात्मिक जीवन से लाभ प्राप्त किया है" और श्रीअरविन्द के प्रति 'हार्दिक श्रद्धा और आदर' रखते हैं। जो भी हो, पृ० ४०-४१ निश्चित ही असावधानी अथवा आवेग में लिखे गये हैं।

इन कुछ स्थलों को छोड़ कर पुस्तक सामान्य रूपसे दार्शनिक भाव और भावना में लिखी गई है। और यह प्रत्यक्ष है कि स्वामी ओमानन्द जी सांख्य और उस पर प्रतिष्ठित पातञ्जल-योग के सच्चे अनुयायी हैं। परन्तु यह उन की स्थिति ही उन्हें श्रीअरविन्द के दार्शनिक विचार को समझने में आपत्ति करती है। उनके लिये पुरुष और प्रकृति दो सत्तायें हैं और पुरुषका स्वरूप में स्थित हो जाना मनुष्य-जीवन का अन्तिम ध्येय। अब इन विचारों के साथ वास्तव में अवरोहण, दिव्यीकरण व रूपान्तर का कुछ सम्बन्ध ही नहीं। जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक में अवरोहण बतलाया है वह श्रीअरविन्द का विवर्तन अर्थात् विकास है। श्रीअरविन्द के योग की अवरोहण क्रिया चीज ही और है। फिर जब स्वरूप-स्थिति पुरुष का ध्येय हो तो मन, प्राण और शरीर के दिव्यीकरण या रूपान्तर का प्रश्न भी कैसे पैदा हो सकता है? दिव्यीकरण के मूल में जो दार्शनिक विचार है वह यह है कि जगत् का रचयिता, नियन्ता सर्वाधार चेतन ब्रह्म है। संसार उसकी

अभिव्यक्ति है। मन, प्राण और शरीर का बदलना सम्भव इस कारण है कि वे वास्तवमें अब भी प्रच्छन्न रूप से उसी से प्रेरित हैं, उसी की अभिव्यक्ति हैं। परन्तु सांख्य की पुरुष प्रकृति की अत्यन्त विभिन्नता में प्रकृति का रूपान्तर संभव कैसे हो सकता है? वह दार्शनिक विचार ही और है। स्वामी ओमानन्द जी अपने सांख्य-विचार में गहरे प्रतिष्ठित हैं इसी कारण श्रीअरविन्द के 'माता' विचार से उन्हें बड़ी आपत्ति होती है। 'माता' ईश्वर से भिन्न होने से 'जड़-प्रकृति' ही हो सकती है। हमें आश्चर्य होता है स्वामीजी श्रीअरविन्द पर टीका करते हुए उनके 'माता' विचार के स्वरूप से अनभिज्ञ कैसे हैं। स्वामीजी सात्त्विक और आध्यात्मिक को बार बार मिला जुला कर लिख गये हैं। वास्तव में सात्त्विक अवस्था सुन्दर होने पर भी मन की बहिर्मुख दशा ही है। आध्यात्मिक अवस्था अन्तर्मुख आत्मस्थिति है।

आपका कहना है कि श्रीअरविन्द का योग विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचता है। इसी संबन्ध में आप कहते हैं स्वामी दयानन्द भी सम्प्रज्ञात समाधि तक की ही अवस्था का उपदेश करते हैं। तभी उनकी मुक्ति पुनरावर्तन वाली है। आप का अवतारसम्बन्धी विचार भी आपके सांख्य-विचार से संगत है अर्थात् जिस योगी के और सब संस्कार तो नष्ट हो गये हों परन्तु लोकोपकार का इच्छा बाकी हो वही ईश्वरनियमानुसार अवतार बनते हैं।

यह विचारशैली ही श्रीअरविन्द के विचार से भिन्न है। श्रीअरविन्द के अनुसार मनुष्य-जीवन का चरम विकास तब समझो जब वह अहंकार को त्याग कर सर्वथा ईश्वर-प्रेरित होकर लोकसंग्रह-भाव में क्रियाशील रहे। यही उनकी मुक्ति है। स्वामीजी के अनुसार तो "भगवान् को पाना दार्शनिक और यौगिक परिभाषा के विरुद्ध है"।

कैसे भिन्न दो दृष्टिकोण हैं। हमारे विचार में पातञ्जल योग और श्रीअरविन्द-पद्धति की भिन्नता को यथार्थ अनुभव कर लेना ही उनकी जानकारी प्राप्त कर लेना है। परन्तु इस विभिन्नता में हमें कुछ आपत्ति नहीं होनी चाहिये। भारतवर्षके महान् आध्यात्मिक पुरुषार्थ ने अनेक योगशैलियों का आविष्कार किया है और उन में से हर एक की अपनी अपनी देन है। और उस देन का हमें मान करना चाहिये।

स्वामी ओमानन्दजी ने निश्चय ही अशुद्ध समझा कि आचार्य अभयदेवजी ने अपने दोनों लेखों में श्रीअरविन्दयोग की पूर्णता तथा अन्य योगों की न्यूनता दिखानेका यत्न किया है। उनके लेख तो पातञ्जल योग और श्रीअरविन्द की पद्धति की सदृशता और विसदृशता उपस्थित करते हैं और उनकी लेखनशैली उनकी तटस्थता का प्रमाण है।

स्वामीजी द्वारा की गई उन लेखोंकी समालोचना से हमें आपत्ति नहीं। परन्तु वह समालोचना निश्चय ही न्याययुक्त होनी चाहिये थी। पुस्तकके ५० पृष्ठके दूसरे भाग में यदि आचार्यजी का दूसरा लेख (विसदृशतावाला, जिसकी समालोचना उन्होंने की है) जो लगभग ८-१० पृष्ठ लेता दे दिया जाता तो शेष ४० पृष्ठ समालोचना के लिये फिर भी बच रहते। उसमें आचार्यजी के खण्डित वाक्य पाठकों के सामने न आते। दूसरे, आचार्यजी ने उन लेखों को २०-२५ वर्ष के पातञ्जल योग, अन्य योगशैलियों तथा श्रीअरविन्दयोग-पद्धति के अध्ययन और अभ्यास के आधार पर लिखा। स्वामी जी पातञ्जल योग के धुरन्धर विद्वान और अभ्यासी हैं। परन्तु श्रीअरविन्द के योगसाहित्य का पर्याप्त अध्ययन किये बिना श्रीअरविन्दपद्धति की समालोचना पर पुस्तक लिख देना हम न्याययुक्त नहीं कह सकते हैं। श्रीअरविन्द का 'Synthesis of Yoga' उनका योगदर्शन है। उसके अध्ययन के बिना, अभ्यासको यदि छोड़ भी दें, कोई कैसे श्रीअरविन्दयोग-पद्धति पर कुछ लिख सकता है यह हम नहीं समझ सकते।

—इन्द्रसेन

—*—*—

## ( ५ )

# मार्गत्रयी

## भक्तियोग

ज्ञानयोग मनुष्य को उस के मस्तिष्क, उसकी बुद्धिवृत्ति, उसकी सत्य जानने की प्रेरणा के द्वारा समुन्नत अध्यात्म-सत्ता में प्रतिष्ठित करना चाहता है। परन्तु भक्तियोग ने पकड़ा है मनुष्य के हृदय को, उसकी प्रेमवृत्ति को, सुन्दर के प्रति उसकी आसक्ति को। ज्ञानयोगी का लक्ष्य है ब्रह्म, तुरीय चैतन्य। भक्त का लक्ष्य है भगवान्, तुरीय आनन्द। ज्ञानी का मार्ग है आत्मोपलब्धि, अपने स्वरूप को, सत्य सत्ता को जानना, पहचानना, अपना 'मैं' ही बन जाना। भक्त का मार्ग है आत्मसमर्पण, प्रणति—'मैं' को 'तुम' के हाथों में सौंप देना, 'मैं' के भीतर 'तुम' को मिलाकर आनन्द से, तृप्ति से भरपूर हो जाना। भक्त कहते हैं कि प्रेमपिपासा से अधिक प्रबल और कोई भी वृत्ति मनुष्य के भीतर नहीं है। मनुष्य विचार करता है, कर्म करता है, परन्तु ये सब मानो बाहरी अंग मात्र हैं। हृदय ही उसका केन्द्र-स्थल है, वास्तव में हृदय ही मनुष्य को परिचालित करता है। इसलिये यदि मनुष्य को रूपान्तरित करना हो, बृहत्तर सत्ता के साथ उसका परिचय कराना हो, तो यह कार्य करना इस प्रेम के आकर्षण के द्वारा ही सब से अधिक सहज होता है और इस में सफलता भी बहुत शीघ्र मिलती है। मनुष्य मनुष्य के साथ प्रेम करना चाहता है, इस मनुष्य के स्थान पर भगवान् को स्थापित कर दो—केवल प्रेम के पात्र को बदल दो, फिर देखो मनुष्य किस प्रकार और कितनी तेज़ी के साथ बदलने लगता है। मनुष्य प्रेम की पूर्ण तृप्ति चाहता है—केवल मनुष्य में उसका मिलना कहां सम्भव है? परन्तु भगवान् तो पूर्ण प्रेम, अखण्ड भोगमूर्त्ति, परम सुन्दर हैं। भगवान् को इस रूप में देखकर, अपने ही अन्तर के समस्त प्रेम के भीतर गुप्त रूप से जो रसराज विराजमान हैं, उन्हीं में एकाग्रचित्त होकर डूब जाओ। ईश्वर में परानुरक्ति ही सारी साधना की मूल बात है। जिस के अन्दर यह अनुराग पैदा हो गया है उसकी चित्तशुद्धि भी हो गयी है और उसे मुक्ति भी मिल चुकी है।

भक्तियोग ने भगवान् को मनुष्य के लिये अत्यन्त गोचर, मनुष्य का अत्यन्त अपना बना दिया है। मनुष्य अपनी ही जैसी सामग्री चाहता है, जो वस्तु जितने अंश में उसके समान होती है, वह उसके साथ ठीक उतने ही अंश में मिल पाता है। भक्तियोग में मनुष्य अपने उस अतीन्द्रिय या तुरीय, उस महत्तर, बृहत्तर आदर्श से अपने-आप को बहुत दूर नीचे पड़ा हुआ अनुभव नहीं करता। क्योंकि भक्तियोग मनुष्य का विचार एकदम मनुष्य के रूप में ही करता है और फिर तदनुसार उसकी साधन-प्रणाली का निर्देश करता है। मनुष्य इस जगत् में नाना प्रकार के बन्धनों में अपने को बांध कर, प्रेम के अनेक पात्रों में अपनी हृदय-धारा को ढाला करता है। वह पुत्र के प्रति, मित्र के प्रति, पति या पत्नी के प्रति—इस प्रकार प्रेम के अनेक संबन्ध स्थापित करता है। भक्तियोग कहता है कि भगवान् को भी तुम इसी प्रकार चाहे किसी भाव में प्राप्त कर सकते हो। वह कोई अद्भुत या अनधिगम्य

पदार्थ नहीं हैं। वही 'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाः' हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये प्रेमरस के पांच भाव हैं। इन्हीं भावों को अपने हृदय में रखो। और चाहे जिस भाव में तुम सराबोर क्यों न हो, उस भाव को बस मनुष्य की ओर से फेर कर भगवान् के चारों ओर विकसित करो। भक्तवीर हनुमान्, अर्जुन, यशोदा और राधा ने इसी प्रकार एक-एक भाव के द्वारा भगवान् को पाया था।

इतना ही नहीं, बल्कि भक्तिमार्ग ने यह बात भी कहा है कि केवल अनुकूल भाव से ही नहीं, प्रतिकूल भाव से भी, केवल मित्रभाव से ही नहीं, शत्रुभाव से भी भगवान् के लिये साधना की जा सकती है, भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। किसी चीज को अधिकृत करने के लिये सब से पहले आवश्यकता है उसके साथ एक घनिष्ठ, अत्यन्त तीव्र सम्बन्ध स्थापित करने की। मित्र-भाव की तरह शत्रु-भाव भी ऐसा ही एक तीव्र सम्बन्ध है। जिस प्रकार मित्र की सत्ता हमारे निकट अत्यन्त परिस्फुट, गोचर होती है ठीक उसी प्रकार शत्रु की सत्ता भी परिस्फुट, गोचर होती है, उसका अस्तित्व ठीक उसी प्रकार हमारे अन्तःकरण में जाज्वल्यमान रहता है। भगवान् को भी इसी प्रकार शत्रुभाव से देख कर उनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यहां तक कि मित्रभाव की अपेक्षा शत्रुभाव बहुत बार साधक के लिये शीघ्र फलदायक होता है। क्योंकि शत्रुभाव की साधना करने पर हमारे अन्दर की सारी अशुद्धि, विकृति, जो चारों ओर फैली हुई, छिपी हुई होती है, वह सब एकत्रित, एकमुखी और गम्भीर हो जाती है। और जब यह विराट् स्तूप भगवान् के विरुद्ध प्रयुक्त होता है तब एक साथ ही, एक आघात में ही उस सारे स्तूप को चूर-चूर कर देनेका मौका उन्हें मिल जाता है। परन्तु मित्रभाव की साधना में भगवान् को साधक के प्रत्येक अंग से दोषों को लगातार चुन-चुन कर दूर करना पड़ता है और इस कार्य में समय लगता है। इसी कारण संभवतः ऐसा कहा गया है कि मित्रभाव से साधना करने पर सात जन्म में मुक्ति मिलती है और शत्रुभाव से करने पर केवल तीन जन्म में ही मुक्ति मिल जाती है। विद्वेष प्रणय का ही विपरीत स्वरूप है। घोर विद्वेष को बड़ी आसानी से प्रणय के रूप में परिणत किया जा सकता है। परन्तु जहां पर उदासीनता है वहां पर इस प्रिय सम्बन्ध को स्थापित करना कठिन है।

भगवान् केवल अतीन्द्रिय, अशरीरी सच्चिदानन्द ही नहीं हैं। जगत् के स्थूल रूप मनुष्य की इन्द्रिय आदिके खेलके अन्दर भगवान् का ही आनन्द-स्वरूप मूर्त्तिमान् हुआ है। भक्तियोग का यही मूल तत्त्व है। जगत् की सभी भोग्य वस्तुएं, उन सब को भोगने के यंत्र-स्वरूप सारी इन्द्रियां और इन सब का आधार यह शरीर, यह जगत्—सब कुछ सत्य और नित्य है। इन में से प्रत्येक की एक सत्य सत्ता है, इन में परस्पर एक सत्य सम्बन्ध है। उसकी पूर्ण प्रतिमूर्त्ति जहां पर है वही भगवान् हैं। स्थूल का जितना विकास है, जितना वैभव है वह सब भगवान् के अन्दर है और अपने पूर्ण स्वरूप में है। वहां होने के कारण ही बाहर में उसका यह विकास हुआ है। इसीलिये भगवान् समस्त ऐश्वर्य, समस्त वीर्य, समस्त श्रीके आधार हैं—उन्हीं में सब 'भग' हैं, उन्हीं में सब भोग, सब रस, सब आनन्द हैं। स्थूल वस्तु के, स्थूल विकास के अन्दर जो भागवत वस्तु, भागवत विकास वर्त्तमान है, उसी के साथ सम्बन्ध स्थापित करना, उसी के रस में मग्न हो जाना भक्त की लीला है।

भक्त जगत् को अस्वीकार नहीं करते, वे जगत् को भगवान् की निगूढ़ लीला की बाह्यमूर्त्ति, भगवान् की रासलीला का स्थूल आश्रय, आधार मानते हैं। परन्तु इस जगत् के साथ उनका जो सम्बन्ध है वह

केवल साक्षी या उदासीन रसग्राही का सम्बन्ध है। वे भागवत आनन्द के प्रवाह में अपने-आपको छोड़ देते और उसी में बहते हुए चले जाते हैं। वे इस बात का अनुभव नहीं करते कि भागवत तपःशक्ति मनुष्यको केवल निष्क्रिय (passive) भोक्ता ही नहीं, वरन् सक्रिय ( active ) कर्त्ता भी बनने की प्रेरणा करती है। जगत् में जो कुछ जैसा है या होता है उसी से भक्त एक समरसात्मक महान् आनन्दके नशे में चूर रहते हैं। इस आनन्द के खेल का भी जो विशेष लक्ष्य, विशेष गति, विशेष प्रणाली है उसकी अनुभूति मनुष्य को प्रज्ञा के द्वारा अपने अन्दर प्राप्त करनी चाहिये और कर्म द्वारा उसको विराट् बनाना चाहिये—इस बात के प्रति भक्त एकदम उदासीन रहते हैं। इसीलिये उन की दृष्टि के सामने जगत् अर्धस्फुट, भाव के कुहासे से ढका हुआ रहता है, वह जाग्रत वस्तुतंत्र नहीं हो पाता। भावप्रवणता की सहज मादकता के नशे में चूर होकर भक्तिके साधक धीरे धीरे साधारण जगत् से दूर हट जाते हैं। यही भक्तिमार्ग की कमी है।

भगवान् के साथ ज्ञानी का सम्बन्ध एकदम इन्द्रियों से परेका, सृष्टि से बाहर का सम्बन्ध होता है। परन्तु उसी सम्बन्ध को भक्तों ने स्थूल रूप में मनुष्य के अत्यन्त निकट अनुभव किया है, उसको सृष्टि के, इन्द्रियों के अन्दर प्रतिष्ठित किया है। भक्ति-मार्ग की यही विशेषता है। जगत् को स्वीकार करके, मनुष्यजाति के भीतर रहकर जो सिद्ध जीवन, दिव्य साम्राज्य प्राप्त होता है उसका एकमात्र आधार यह प्रेम, भागवत प्रेम ही हो सकता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच, केवल मनुष्य-मनुष्य के बीच ही क्यों, मनुष्य और सारे सृष्ट पदार्थों के बीच आनन्द का, सामञ्जस्य का, मिलन का एक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, इस मिलन के खेल की सम्भावना को भक्तिमार्ग ने दिखाया है। साथ ही भक्तिमार्ग यह भी कहता है कि मनुष्य की जो रूपतृष्णा, भोग-वासना है, जो उसका इन्द्रियपरिचालित जीवन है उसके अन्दर भगवान् की ही भोगेच्छा छिपी हुई है, उन्हीं का आनन्द बिखरा हुआ है। इसीलिये इन सब को छोड़ कर नहीं, वरन् इन सब को भगवान् के अन्दर शुद्ध और परिपूर्ण करके दिव्य जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

—नलिनीकान्त

तृतीय सोपान है भक्तियोग, परमात्मा की भगवान् के रूप में उपासना और खोज; यहां भक्ति पर ज़ोर है, पर ज्ञान का गौणत्व नहीं, यहां केवल ज्ञान उन्नत होता है, उसमें एक जान आ जाती है और वह कृतार्थ हो जाता है, और फिर भी कर्मों का यज्ञ जारी रहता है; द्विविध मार्ग यहां ज्ञान, कर्म और भक्ति का त्रिविध मार्ग हो जाता है। और यज्ञ का फल, एकमात्र फल जो साधक के सामने ध्येय रूप से अभी तक रखा हुआ है, प्राप्त हो जाता है, अर्थात् भगवान् के साथ योग और परा भागवती प्रकृति के साथ एकता।

—गीताप्रबन्ध, प्रथम भाग, पृ. ६३

—:०:—

# एकान्तसेवी योगी श्रीअरविन्द

वर्तमान युग में भारत ने मानव-प्रयास के कई क्षेत्रों में अपनी सफलताओं की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया है। महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टाकुर, पं० जवाहरलाल नेहरू, सर सी० वी० रमण और सर राधाकृष्णन् के नाम राजनीति, साहित्य, विज्ञान और दर्शन के जगत् में काफी प्रसिद्ध हैं। ये व्यक्ति उस दिन के अग्रदूत हैं जब भारतीय संस्कृति के अथाह मूलस्रोत में छिपी हुई संभावनायें सिद्ध होंगी और भारत फिर से अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त होगा।

आजकल इन प्रसिद्ध व्यक्तियों के अतिरिक्त एक और विशिष्ट व्यक्ति भारत में हैं जिन का जीवन इन लोगों के जीवन से एकदम उलटा है और वह हैं श्रीअरविन्द घोष। आज से प्राय: ३० वर्ष पूर्व भारत के राजनीतिक और शिक्षासम्बन्धी आन्दोलनों में कार्य करने वाले प्रमुख व्यक्तियों में एक श्रीअरविन्द भी थे; परन्तु आजकल वह मौन-व्रत लेकर एकान्त-वास कर रहे हैं और संसार के साथ केवल अपने पत्रों तथा प्रकाशित लेखों के द्वारा ही संबन्ध बनाये हुए हैं। उनके लेख आज भारत तथा अन्य देशों के गम्भीर विचारकों तथा दार्शनिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। रवीन्द्रनाथ टाकुर ने पांडीचेरी में श्रीअरविन्द से मुलाकात करने के बाद इस लाइन द्वारा अपने हृदय का उद्गार प्रकट किया था—"अरविन्द! रवीन्द्रेर लह नमस्कार।" अर्थात् हे अरविन्द! रवीन्द्र का नमस्कार स्वीकार करो। सर राधाकृष्णन् एक जगह लिखते हैं—"वर्तमान समय के भारतीय विचारकों में संभवत: श्रीअरविन्द घोष ही सबसे अधिक पूर्ण हैं। वास्तविक दर्शन के मूल सिद्धान्तों को ठीक-ठीक ग्रहण करने की उनकी शक्ति, आन्तरिक जीवन विकसित करने का उनका सच्चा प्रयास तथा मनुष्य-जाति और उसके भविष्य के प्रति उनका महान् प्रेम उनके लेखों को वह गम्भीरता और विशालता प्रदान करते हैं जो और कहीं मुश्किल से दिखायी पड़ती है।" रोमां रोलां उन्हें "एशिया और यूरोप की प्रतिभाओं का अबतक प्राप्त पूर्णतम समन्वय" कह कर उनका स्वागत करते हैं।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीअरविन्द के लेख भारत में भी बहुत अधिक लोग पढ़ते हैं; और पाश्चात्य देशों में तो उन्हें अभी बहुत कम लोग जानते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में शायद ही कभी उनका नाम प्रकाशित होता है। फिर भी वर्ष में तीन बार—२१ फरवरी, १५ अगस्त और २४ नवम्बर को*— उनके सैकड़ों भक्त पांडीचेरी के उनके आश्रम में उन का मौन आशीर्वाद ग्रहण करने के लिये जाते हैं। उन भक्तों में हिन्दू और मुसलमान, चीनी और जापानी, यूरोपियन और अमेरिकन सब तरह के लोग होते हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि आध्यात्मिक पुरुष बोलने की अपेक्षा मौन रह कर कहीं अधिक शक्ति विकीर्ण करता है और ऐसा पुरुष मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिये एक महान् प्रेरक का काम करता है।

श्रीअरविन्द का जन्म सन् १८७२ में हुआ था। यह वह समय था जब १९ वीं शताब्दी की पाश्चात्य सभ्यता ने बंगाल के शिक्षित समाज पर मोहिनी शक्ति फैला रखी थी और वे अपने ही पुराने धर्म

---

* इसके अतिरिक्त २४ अप्रैल को भी दर्शन होते हैं — सम्पादक।

और सभ्यता की खिल्ली उड़ाया करते थे। इसी कारण ७ वर्ष की उम्र में श्रीअरविन्द अपने दो बड़े भाइयों के साथ इङ्गलैण्ड भेज दिये गये जिस में पूर्ण रूप से पाश्चात्य परम्परा के अनुसार उनका लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा हो सके। सर्वप्रथम वह मैनचेस्टर में एक अंग्रेज परिवार के साथ रहे और उसके बाद लंडन के सेण्टपाल स्कूल में भर्त्ती हो गये। फिर समयानुसार उच्चतर छात्रवृत्ति के साथ कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज में पहुँचे और वहाँ से प्रथम श्रेणी में ट्राइपोस पास किया। बचपन में ही उन्होंने फ्रेंच भाषा में बातचीत करना सीख लिया था, कालेज में जाकर ग्रीक और लेटिन में नाम पैदा किया और जर्मन तथा इटैलियन भाषाओं का इतना पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया जिस में गेटे और दान्ते की मूल पुस्तकें पढ़ सकें। उन्होंने इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा विशेषता के साथ पास की थी, परन्तु घुड़सवारी की परीक्षा में शामिल न होने के कारण वह अनुत्तीर्ण समझे गये।

श्रीअरविन्द सन् १८९३ में भारत वापिस आये, और १९०६ तक बड़ौदा के गायकवाड़ महाराज के यहां नौकरी करते रहे। वे वहाँ सेक्रेटरियट और रेवन्यु डिपार्टमेंट में रहे और फिर बड़ौदा कालेज में इङ्गलिश के प्रोफेसर और बाद में वाइस-प्रिंसिपल रहे। इङ्गलैण्ड में वह भारतीय भाषाओं और संस्कृति के ज्ञान से एकदम वंचित थे, पर बड़ौदा में उन्होंने उस कमी को पूरा कर लिया। उन्होंने संस्कृत तथा अन्य कई आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया और अपनी तीक्ष्ण बुद्धिसे भारतीय सभ्यताके मूल भाव को बड़ी शीघ्रता से हृदयङ्गम कर लिया।

( २ )

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ही पहली बार भारतीयों ने विदेशी राज्यके निर्जीवतापादक प्रभावको अनुभव करना आरम्भ किया। दक्षिण अफ्रिका के बोअर-युद्ध, रूस-जापान युद्ध तथा सर्वसत्ताधारी ज़ार के विरुद्ध अपनी रोटी तथा स्वाधीनता के लिये रूसी जनता के विद्रोह ने भारत में बड़ी गम्भीर प्रतिक्रिया उत्पन्न की। बङ्गालमें राजनीतिक आन्दोलन जाग उठा और उसे जन्मते ही नष्ट कर डालने के उद्देश्य से लार्ड कर्जन ने बंगाल-प्रान्त को ही विभक्त कर देने की आज्ञा दे दी। पर यही बंगाल के राजनीतिक आन्दोलन को ज़ोरदार बनाने का सिगनल बन गया।

श्रीअरविन्द ने राजनीतिक नेताओं के साथ अपना निकट सम्बन्ध बनाये रखा, पर आरम्भ में वह खुले तौर पर आन्दोलन में भाग न ले सके, क्योंकि वह उस समय तक बड़ौदा के गायकवाड़ की नौकरी में थे। परन्तु जब १९०६ में हिन्दुओं को सच्ची भारतीय सभ्यता की शिक्षा देने तथा पाश्चात्य सायन्सों के अध्ययन के लिये भी सुविधाएं देने के लिये बङ्गाल में नेशनल कालेज की स्थापना हुई तब बड़ौदा में अपने पद से इस्तीफा देकर वह नेशनल कालेज के सर्वप्रथम प्रिंसिपल हो कर आ गये। फिर तो उसके बाद वह बहुत शीघ्र ही राजनीतिक युद्ध के केन्द्रस्थल में खिंच आये। उन्होंने अन्य आमूल परिवर्तनवादी नेताओं के साथ मिल कर स्वदेशी-आन्दोलन चलाया जिसे भारतीय 'सिन-फिन' आन्दोलन कहा जा सकता है, और उसके बाद उन्होंने एक नयी राजनीतिक पार्टी तैयार की जिसने सरकारके ऊपर निर्भर करनेके बजाय स्वावलम्बनके भावपर अधिक जोर दिया तथा राष्ट्रीय शक्तियोंको कार्यकरी रूप में संघटित करनेका मसविदा तैयार किया। उस समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पुरानी आवेदन-नीति के विरुद्ध इन लोगों का प्रोग्राम यह था कि ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग किया जाय, सरकारी कचहरियों का बहिष्कार किया जाय, पंचायत-पद्धति को पुनर्जीवित किया जाय, सरकारी विश्वविद्यालयों और कालेजों का बहिष्कार किया जाय तथा राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित किये जांय, पुलिस और

देश-रक्षा के कार्य के लिये नवयुवकों की संस्थाएं संगठित की जांय तथा काँग्रेस को राज्य के भीतर अवैध राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय।

श्रीअरविन्द के कहने के अनुसार इस नयी पार्टी ने महाराष्ट्र के विद्वान्-राजनीतिज्ञ बालगङ्गाधर तिलक को अपना नेता स्वीकार किया, कांग्रेस के लिये एक निश्चित तथा चुनौती देने वाला प्रोग्राम बनाया और काँग्रेस तथा देश को नरम दल के नेताओं के हाथ से छीन कर अपने हाथ में कर लेने के लिये चेष्टा करना आरम्भ कर दिया। सन् १६०६ में सब से पहले श्रीअरविन्द ने ही भारत के राजनीतिक आन्दोलन का लक्ष्य पूर्ण 'स्वराज्य' घोषित किया। इस तरह काँग्रेस के अन्दर दो दल तैयार हो गये, एक दल तो था पुराने नेताओं तथा पदवीधारी कुलीनों का जो भारत के लिये ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक राज्य प्राप्त करनेके लिये वैध आन्दोलन करना चाहते थे, और दूसरा दल था उन नवयुवकों का जो ब्रिटिश राज्यको एकदम अस्वीकार करना चाहते थे। उस समय तक कांग्रेस एक तरह से बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोगों की ही संस्था थी, भारत की साधारण जनता केवल दर्शकके रूप में ही उसके अधिवेशनों में सम्मिलित हो सकती थी। अब इन दो दलों का नाम पड़ा—गरम दल तथा नरम दल, और उस समय यह कहना कठिन था कि कौन दल देश का नेतृत्व अपने हाथों में लेने में समर्थ होगा।

सन् १६०७ में कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ और नरम तथा गरम दल के आदर्शों में विरोध होनेके कारण सभापति सर रासविहारी घोष का भाषण होने से पहले ही अधिवेशन भंग हो गया। फिर गरम दल ने एक राष्ट्रीय कान्फरेन्स का संघटन किया और श्रीअरविन्द को उसका सभापति नियुक्त किया।

इसी बीच श्रीअरविन्द 'वन्दे मातरम्' नामक साप्ताहिक पत्रिका के सम्पादक हो चुके थे। इस पत्र के द्वारा उन्होंने चरम राष्ट्रीयता की नीति का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इसका प्रभाव आनन फानन में सारे भारत में फैल गया और उस के सम्पादक, जो सदा से ही सलज्ज, एकान्तप्रिय और अल्पभाषी थे, नवीन भारतीय राष्ट्रीयता के नेता स्वीकार कर लिये गये। परन्तु फिर भी श्रीअरविन्द कभी कभी यह सोचकर हताश हो जाया करते थे कि देश अभी उनके द्वारा प्रचारित राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये तैयार नहीं हो पाया है। सन् १६०५ के लगभग ब्रिटिश सरकार ने नये राष्ट्रीय दल को कुचल डालने के अभिप्राय से कठोर दमननीति का आरम्भ कर दिया था और इसके फलस्वरूप इस दल के बहुत से नेता या तो कैद कर लिये गये थे या देश से निकाल दिये गये थे। श्रीअरविन्द के ऊपर भी सन् १६०७ में राजद्रोह का मामला चलाया गया पर उनका दोष साबित न होने के कारण वह छोड़ दिये गये। मामले से रिहा होने के बाद वह गरम दल के नेता बने और उन्हें कई स्थानों में राजनीतिक भाषण देना पड़ा। परन्तु बहुत शीघ्र ही वह फिर से गिरफ्तार कर लिये गये और इस बार उन पर यह दोष लगाया गया कि वह बंगाल के नवयुवकों के एक विप्लवी दल के कार्यों में भाग लेते हैं। अंगरेज सरकारकी दमननीति के फलस्वरूप यह एक नया ही आन्दोलन गुप्त रूपसे बंगाल में आरम्भ हो गया था। इस दलके सदस्यों ने जानबूझकर ही बम और पिस्तौल का सहारा लिया था और सब से पहला बम सन् १६०७ में फेंका गया था। श्रीअरविन्द के छोटे भाई और इस नये दल के नेता बारीन्द्र अपने अन्य साथियों के साथ विद्रोही होने के कारण गिरफ्तार कर लिये गये और इस तरह श्रीअरविन्द भी दूसरी बार सन् १६०८ के मई महीने में गिरफ्तार हुए।

इस बार उन्हें विचाराधीन अभियुक्त के रूप में १ वर्ष तक जेल में रहना पड़ा और अन्त में वह

प्रमाण के अभाव के कारण रिहा कर दिये गये। परन्तु यह १ वर्षका समय उनके लिये बड़े महत्त्वका था, क्योंकि जेल में ही सबसे पहले उन्हें आन्तरिक दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ और वह अपने भावी जीवन-कार्य के विषय में सज्ञान हुए। जेल से बाहर आकर उन्होंने देखा कि उनकी पार्टी एकदम तितर-बितर हो गयी है, नेता या तो जेल में हैं या देश से बाहर निकाल दिये गये हैं। फिर कुछ दिनों तक उन्होंने पार्टी को फिर से संगठित करने का प्रयास किया, राष्ट्रीय आन्दोलन में फिर से जान डालने के लिये दो पत्रोंको प्रकाशित किया, पर कोई लाभ न हुआ। यहां पर फिर से उन्हें यह गहरा अनुभव हुआ कि देश अभी उनके कार्यक्रम के लिये तैयार नहीं है और अपने देश के राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व करना उनका काम नहीं है। आखिरकार सन् १९१० में उन्होंने राजनीति से अलग होने का—कम से कम कुछ समय के लिये, और अपने आन्तरिक जीवन का विकास करने का निश्चय कर लिया। इस कार्य के लिये वह कलकत्ते के पास फ्रान्सीसी राज्यान्तर्गत चन्दरनगर चले गये और वहाँ कुछ महीनों तक एकान्त में रहे। वहाँ से सन् १९१० के अप्रैल महीने में जहाज से फ्रेंच इण्डिया की राजधानी पांडीचेरी में चले गये। ठीक इसी समय तीसरी बार राजद्रोह का मामला उन पर चलाया गया परन्तु अब वह ब्रिटिश कानून की पहुंच से बाहर चले गये थे।

आरम्भ में श्रीअरविन्द का विचार यह नहीं था कि वह फिर से राजनीतिक आन्दोलन में भाग ही नहीं लेंगे। परन्तु पीछे धीरे-धीरे उन्हें यह पता चल गया कि उनके भावी कार्य का क्षेत्र राजनीति के दायरे से बहुत दूर है। उन्होंने अपने देश के बार-बार निमन्त्रित करने पर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सभापति होना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने सामने एक नया ही पथ खुला हुआ पाया और आत्मा का जीवन प्राप्त करने में अपने-आपको लगा दिया। सन् १९१४ में उन्होंने 'आर्य' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किया जिसमें एकमात्र दार्शनिक विषयों, आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने के लिये व्यावहारिक संकेतों—जो उन्हें अपने अनुभव से प्राप्त हुए थे—,तथा भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूल सिद्धान्तों के विषय में ही लेख रहा करते थे। इन लेखों में से बहुत से अब पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो गये हैं। इस पत्रिका के द्वारा फिर से उन्होंने अपना सम्बन्ध बाहरी जगत् के साथ स्थापित किया, पर इस बार वह एक राजनीतिक उपदेष्टा नहीं बल्कि अधिकार के साथ बोलने वाले एक महान् योगी थे। प्रायः साढे छः वर्ष लगातार छपने के बाद सन् १९२१ में 'आर्य' पत्रिका बन्द हो गयी।

( ३ )

आरम्भ में पांडीचेरी में श्रीअरविन्द के साथ केवल चार या पांच शिष्य थे। धीरे-धीरे बहुत से योग के सच्चे विद्यार्थी उनके शिष्य हो गये और उच्चतर जीवन की खोज के लिये अपनी समस्त पार्थिव सम्पत्ति का त्याग करके उनके साथ रहने लगे। इस तरह धीरे-धीरे उनके इर्दगिर्द एक आश्रम तैयार हो गया जिसके सदस्यों की संख्या आज लगभग १७५ है *। इस आश्रम का खर्च चलाने के लिये श्रीअरविन्द के भक्त तथा प्रशंसक धन प्रदान करते हैं। आश्रम सब प्रकार के राज-नीतिक संस्पर्शों तथा प्रचार के सभी अन्य रूपों से दूर रहता है। आश्रम के साधक आन्तरिक साधना का शान्त जीवन यापन करते हैं। आज यह कोई नहीं जानता कि कब श्रीअरविन्द फिर से जनता के

* यह संख्या पहले की है। आज तो ४०० के लगभग सदस्य-संख्या पहुँच चुकी है।

सामने प्रकट होंगे अथवा कभी होंगे ही नहीं। कहा जाता है कि वह अपने सभी कार्यों में भागवती शक्ति के द्वारा ही परिचालित होते हैं।

परन्तु यह बात कैसी कि जो श्रीअरविन्द सन् १६०५ से १६१० तक एक उग्र राजनीतिक कार्य-कर्त्ता थे वही अब संसार के लिये एक आध्यात्मिक मिशन रखने वाले योगी बन गये? वह अवश्य ही जन्म से ही योगी रहे होंगे, परन्तु उनकी पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के कारण बचपन में उनकी आध्यात्मिक वृत्तियां प्रकट नहीं हुईं। यद्यपि बड़ौदा में ही उन्होंने योग की दीक्षा प्राप्त की थी, फिर भी वास्तव में उन्हें सबसे पहले प्रकाश मिला अलीपुर जेल में। वहां एक महान् ज्योति उनके ऊपर बरस पड़ी। उस समय उन्हें जो आन्तरिक अनुभव हुआ वह पूर्ण रूप से तो कभी प्रकट न होगा, पर जेल से छूटनेके बाद उन्होंने एक भाषण में अपने इस आध्यात्मिक पुनर्जन्म की कुछ बातें बतलायी थीं। जब वह पहले-पहल जेल के अन्दर बन्द कर दिये गये तब उन्होंने अपने भगवान् के सामने इस तरह उन्हें अपने प्रिय कार्यक्षेत्र से जबर्दस्ती दूर हटा देने के लिये विरोध प्रकट किया। उन्हें यह सोच कर दुःख हुआ कि उनकी तथा उनके साथियोंकी अनुपस्थिति से भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन को बड़ा गहरा धक्का पहुँचेगा।

जिन दिनों वह कृष्णजन्मस्थान के दुःख भोग रहे थे उन्हीं दिनों उनके हाथोंमें भगवद्गीताकी एक प्रति रख दी गई। उस पुस्तकसे उन्हें मालूम हुआ कि जो आदमी भगवान्का कार्य करना चाहता है उसे राग-द्वेष से मुक्त होना चाहिये, फलाकांक्षा का त्याग कर भगवान्के लिये कर्म करना चाहिये, अपनी इच्छाओं का त्याग करना चाहिये और भगवान्के हाथोंका एक निष्प्रतिरोध और सच्चा यंत्र बन जाना चाहिये। अपने जेल के इस महत्त्वपूर्ण अनुभव का वर्णन करते हुए श्रीअरविन्द कहते हैं कि "मैंने जेल की ओर देखा जिसने मुझे अन्य मनुष्यों से अलग कर रखा था और मैंने देखा उसकी ऊंची-ऊंची दीवारों के द्वारा मैं अब आबद्ध नहीं हूं; नहीं, मैं तो स्वयं वासुदेव के द्वारा घिरा हुआ हूं। मैं अपनी कोठड़ी के सामने के पेड़ की डालों के नीचे घूमने लगा, मगर वह अब पेड़ नहीं था, मैंने स्पष्ट देखा कि स्वयं वासुदेव ही वहां खड़े हैं और मेरे ऊपर छाया किये हुए हैं। मैंने अपनी कोठड़ी की लोहेकी छड़ोंकी ओर देखा, उस लोहे की जाली की ओर देखा जो दरवाजे का काम करती थी और वहां भी वासुदेव को ही पाया। स्वयं वासुदेव ही मेरा पहरा दे रहे थे और संतरी की जगह खड़े हो रहे थे। और मैं अपने मोटे कम्बल पर, जो मुझे बिछाने के लिये मिला था, लेट गया और अपने चारों ओर वासुदेव के, अपने सखा और प्रेमी भगवान् के हाथों का स्पर्श अनुभव किया।"

अपने जेल-जीवन का बाकी समय उन्होंने योग-साधना तथा कठोर आत्मसंयम में बिताया; भगवान् के हाथों में अपने को सुरक्षित समझ कर उन्होंने अपने ऊपर चलाये हुए मामले में बिल्कुल ही दिलचस्पी न ली। इन दिनों उन्हें भगवान् से दो संदेश प्राप्त हुए। पहले संदेश के द्वारा उन्हें यह ज्ञात हो गया कि वह निर्दोष साबित होकर छूट जायेंगे। दूसरा संदेश उनके लिये और भी गभीर अर्थ रखता था और उनके भावी जीवन-क्रम को निश्चित करने वाला था। भगवान् ने उन्हें यह बतलाया कि भारतराष्ट्रीय नवजागरण का वास्तविक अर्थ है सनातनधर्म का उद्धार करना। उन्होंने यह अनुभव किया कि स्वतन्त्र भारत अपनी आध्यात्मिक संस्कृति की महान् पैतृक सम्पत्ति को वितरित करके समस्त मानवजाति की सेवा करेगा। भारत को महान् होना ही होगा जिसमें वह मनुष्यजाति के सामने यह आदर्श रख सके कि आध्यात्मिकता ही वह कील है जिस पर समस्त मानवीय कर्म आश्रित

होते हैं और मनुष्य-जीवन का लक्ष्य एकमात्र भगवान् हैं। परन्तु हिन्दू-धर्मको उसके अन्धविश्वासों तथा विभिन्न मतवादोंके साथ मिला-जुला कर विकृत नहीं कर देना चाहिये। उसकी विशेषता है उसका सार्वभौमिक सन्देश। वह केवल विश्वास और प्रतिज्ञा पर निर्भर करनेवाला धर्म नहीं है; यह जीवन के समस्त अङ्गों को स्पर्श करता और आलोकित करता है। वह मनुष्य को यह विश्वास दिलाता है कि भगवान् तुम्हारे पास हैं और वह उन सभी सम्भव साधनों को बतलाता है जिनके द्वारा मनुष्य अपने आदर्श को प्राप्त कर सकता है।

इस तरह जेल में श्रीअरविन्द को यह मालूम हो गया कि भारत की जागृति का सच्चा उद्देश्य केवल राजनीतिक विद्रोह नहीं है जैसा कि एक परतन्त्र राष्ट्र का अपने बलशाली विदेशी शासक के विरुद्ध होता है। भारत सदा से ही मनुष्यजाति के लिये जीता है, केवल अपने लिये नहीं, और अब उसे उस मनुष्यजाति के लिये ही, अपने लिये नहीं, महान् होना है। अपने-आप को प्राप्त कर भारत अपने पैरों तले कमजोरों को नहीं कुचलेगा। शक्तिमान् होने पर वह अपने पड़ोसियों से बेजा लाभ नहीं उठायेगा। जहां भारत को अपने विकास के लिये बहुत से पाश्चात्य भावों को ग्रहण करना होगा वहां जाग्रत और स्वतन्त्र होने पर वह संसार के ऊपर उस सनातन प्रकाश को भी फैलायेगा जो उसे धरोहर के रूप में प्राप्त है। अतएव श्रीअरविन्द ने निश्चय किया कि उन्हें भारत के उस आध्यात्मिक मिशन के लिये अपने-आपको तैयार करना चाहिये।

( ४ )

भारतीय परम्परा के अनुसार दार्शनिक खोज और धार्मिक अनुभूतियां में कोई असङ्गति नहीं और इस परम्परा की रक्षा श्रीअरविन्द भी करते हैं; वह दार्शनिक और रहस्यवादी दोनों ही हैं। वह यह जानते हैं कि तर्क-बुद्धि कहां तक सत्यान्वेषण में सहायता करती है और कहां पर बाधक बन जाती है। फिर वह एक साथ ही तत्त्वदर्शी और योगी भी हैं। तत्त्वदर्शी के नाते वह अदृश्य के अन्दर दृश्य वस्तु का ठीक-ठीक विवेचन करते हैं और योगी के नाते अपने मत का समर्थन करने के लिये अपने सीधे अनुभव के प्रमाण पर निर्भर करते हैं। आज भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा के मूल तत्त्वों को समन्वय करने वाले जितने भी विचारक हैं उन में शायद श्रीअरविन्द ही सबसे पूर्ण और श्रेष्ठ हैं। पाश्चात्य संस्कृति और दर्शनके उनके विशाल ज्ञानने उन्हें इस योग्य बनाया है कि वे मानवीय समस्याओं को हल करने में उस संस्कृति और दर्शन का ठीक-ठीक मूल्य समझ सकें।

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों के चरमवादी लोगोंने आत्मा और जड़तत्त्व के बीच एक अयुक्तिसङ्गत विभेद उत्पन्न कर दिया है। सद्वस्तु तो एक अद्भुत 'सम्पूर्ण' वस्तु है जो दोनों को धारण करती और समन्वय करती है। श्रीअरविन्द कुछ हिन्दू दार्शनिकों के इस मूलगत सिद्धान्तको अस्वीकार करते हैं कि जीवन को माया समझ कर एकदम त्याग देने पर ही अन्तिम मुक्ति प्राप्त हो सकती है। और साथ ही उसी तरह वह इस बात से भी सहमत हैं कि आत्मा की ज्योति से रहित पार्थिव जीवन कभी भी मानव-विकासक्रम का लक्ष्य नहीं हो सकता। उनका विश्वास है कि योग आत्मा के अन्दर ऊपर उठने का हमें रास्ता दिखाता है, और फिर हम आत्मा की शक्ति लेकर जड़तत्त्व के अन्दर उतर आते हैं जिस में जड़तत्त्व और जीवन की प्रत्येक क्रिया को दिव्य बना सकें। बहुत्व के नाम-रूप के पीछे 'एक' सद्वस्तु है और उसका स्वभाव है आनन्द और चैतन्य। परन्तु वह हमारे लिये उस अज्ञान के निरोधात्मक पर्दे के पीछे छिपी हुई है जिसका आधार है अचेतना, परन्तु मनुष्य की इस आत्मविस्मृति के अन्दर भी यह चेतना सदा-सर्वदा जाग्रत रहती ही है कि

भगवान् विद्यमान हैं। योगसाधनाके द्वारा भगवान् से अपने पृथक्त्व की इस भावना को दूर करना और सर्वात्मा के रूप में अपने आत्मा को प्राप्त करना सम्भव है।

विकासक्रम के द्वारा मनुष्य के अन्दर विद्यमान देवत्व अज्ञान-अन्धकार के बन्धन से छूट कर मुक्त होता है। यूरोप का १९वीं शताब्दी का सबसे अधिक आकर्षक आविष्कार था क्रम-विकासवाद और इसने यूरोपियन लोगों के राजनीतिक, सामाजिक, अर्थ-नैतिक और धार्मिक मतों के अन्दर कई प्रकार से विप्लव उत्पन्न किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक उस क्रमविकास की गति को यान्त्रिक बतलाते हैं और यह कहते हैं कि इस विश्व-प्रक्रिया का कोई उद्देश्य नहीं है। परन्तु भारत के महान् योगी पतञ्जलि को डारविन के जन्म से बहुत पहले ही डारविन के सिद्धान्त का पता चल गया था। श्रीअरविन्द ने भी प्राचीन हिन्दू मनोवैज्ञानिकों के ज्ञान को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हुए यह घोषित किया है कि क्रम-विकास के द्वारा मनुष्य और जड़तत्त्व में अन्तर्निहित देवत्व मुक्त और स्वतन्त्र होता है। प्रकृति की क्रम-विकासकी धारा न तो यान्त्रिक ही है न उद्देश्यहीन, बल्कि यह जड़तत्त्व के अन्दर गुप्त भगवान् के ही आत्मप्रकाश की प्रक्रिया है। क्रमविकास की प्रक्रिया के अन्दर मनुष्य अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो गया है, बल्कि उसके अन्दर स्वयं भगवान् के अभिव्यक्त होने की सम्भावना निहित है।

क्रमविवर्तन का पहला पग है प्राण और दूसरा है मन। इसके बाद का अन्तिम पग होगा अतिमन या अतिमानसका प्रादुर्भाव जिसके द्वारा अन्तर्निहित आत्मा अपनी दिव्य पूर्णता को अभिव्यक्त करेगा। क्रमविकास की पहली अवस्था में प्रकृति अन्धप्रेरणा के द्वारा कार्य करती है और अपने लक्ष्य के विषय में सचेतन नहीं होती। दूसरी अवस्था में वह अपने ध्येय की जानकारी प्राप्त करती है और वह ध्येय है उच्चतर परिपूर्णता के लिये अपने-आपको अतिक्रमण करना। परन्तु मन, स्वयं बिना किसी सहायता के, उस दिशा में बहुत अधिक दूर तक नहीं जा सकता। एक हद तक पहुँचने के बाद वह वृत्ताकार घूमने लगता है। ठीक इसी मौके पर ऊपर से भगवान् का अवतरण होता है जो मनुष्य को पूर्णरूप से दिव्य-भावापन्न बनाने के लिये मन को एक यन्त्र के रूप में स्वीकार करता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि योग-साधना के द्वारा हमारी सत्ता का प्रत्येक भाग अति-चेतनके अवतरणके लिये उपयुक्त बनाया जा सकता है। इसी को निम्न प्रकृति का परिवर्तन या रूपान्तर कहा जाता है। मुक्त आत्मा न तो स्वर्ग में जाकर आश्रय ग्रहण करता है और न शून्य के राज्य में ही समा जाता है, बल्कि वह निम्न प्रकृति के प्रत्येक भाग और क्रिया को रूपान्तरित करने के कार्य में लग जाता है जिस में स्वयं पृथ्वी भी पूर्ण रूप से दिव्य बन जाय। क्रमविकास की दूसरी अवस्था में पहुँचने के बाद मनुष्य योगकी सहायतासे क्रमविकास के लक्ष्य को प्राप्त करता है।

( ५ )

श्रीअरविन्द का सब से प्रधान ग्रन्थ * है गीता-प्रबन्ध ( Essays on the Gita ), जिसमें उन्होंने हिन्दुओं के अमर ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता की विशद और विचारपूर्ण व्याख्या की है। श्रीअरविन्द के मतानुसार गीता के अन्दर ऐतिहासिक सत्य भी है जहां गान्धी जी जैसे अन्य टीकाकार उसे केवल देवा-सुरसंग्राम के रूपक के रूप में ही स्वीकार करते हैं। श्रीअरविन्द जोरदार शब्दों में यह प्रस्थापित करते

* गीता-प्रबन्ध को 'सबसे प्रधान ग्रन्थ' की अपेक्षा 'प्रधान ग्रन्थों में से एक' कहना अधिक उचित है। 'सबसे प्रधान ग्रन्थ' दिव्य जीवन ( The Life Divine ) को ही कह सकते हैं।

—अनुवादक

हैं कि प्रकृति से दूर भागने में समाधान नहीं है, बल्कि उसे समझाने और अन्त में उसे रूपान्तरित करने में है। गीता के ११ वें अध्याय में अर्जुन की आंखों के सामने यह स्पष्ट रूप में दिखा दिया गया है कि यह सारा संसार अपने समस्त द्वन्द्वों के साथ भगवान् के साथ सम्बन्धित और युक्त है। अर्जुनके इस दर्शन की व्याख्या करते हुए श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'एक' 'बहु' में है और 'बहु' 'एक' में है—और सब एक हैं। इस दर्शन के द्वारा मनुष्य 'भगवान् रूपी चमकती हुई कुल्हाड़ी से सब सन्देहों तथा दुर्भावनाओं की जड़ काट डालता है तथा सब प्रकार की अस्वीकृतिओं तथा विरोधों को नष्ट कर डालता है।'

गीता की केन्द्रीय ज्योति तथा उसका मुख्य सन्देश है विश्व-प्रक्रिया के अन्दर भगवान्को देखना तथा सर्वव्यापी परमदेव के परात्पर स्वरूप पुरुषोत्तम के अन्दर जड़-तत्त्व और आत्मा का समन्वय करना। शङ्कर जैसे गीता के प्राचीन भाष्यकारों तथा श्रीअरविन्द के बीच यह भेद दिखायी देता है कि जहां शङ्कर के मतानुसार 'केवल' की, ब्रह्मकी उच्चतर चेतना को प्राप्त करने पर मनुष्य इस आपेक्षिक जगत् को, यद्यपि इसकी व्यावहारिक सत्ता है, एकदम अतिक्रम कर जाता है, वहां श्रीअरविन्द के मतानुसार यह कोई आवश्यक नहीं है कि विश्व-प्रक्रिया को माया समझकर उससे नाता ही तोड़ दिया जाय। परात्पर सत्य की अनुभूति होने के बाद भी ऋषि की दृष्टि में यह जगत् सब प्रकारसे भगवान् की ही अभिव्यक्ति मालूम हो सकता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि संसार की सीमाओं को अतिक्रम कर फिर से उसे आलिङ्गन करना ही अन्तिम दिव्य यज्ञ है। भगवान् या सद्वस्तु कोई शून्य अमूर्त्त सत्ता अथवा केवल निराकार त्रिमूर्त्ति नहीं है, बल्कि उसकी उपमा में हम यह कह सकते हैं कि एक शाश्वत बालक एक शाश्वत उद्यान में शाश्वत खेल खेल रहा है।

गीता-प्रबन्ध के लेखों में श्रीअरविन्द ने ज्ञान, कर्म और भक्ति-मार्ग का समन्वय किया है और यह दिखाया है कि ये तीनों मार्ग समानान्तर रेखाएं नहीं हैं बल्कि ये कई स्थानों में एक-दूसरे से मिलती हैं। उनके सभी विचार वेदों और उपनिषदों की शिक्षाके अन्दर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार उपनिषदों के ऋषि सत्यों के स्रष्टा नहीं हैं, बल्कि उनके द्रष्टा और वक्ता हैं। उसके बाद के दार्शनिकों ने अपनी आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा उन सत्यों को पुनः आविष्कृत किया और समय की आवश्यकता के अनुसार उन्हें प्रकट किया। जो नबी, पथप्रदर्शक आचार्य होता है वह कालक्रम से मानव विचारधारा में परिवर्तन होने के कारण जो बातें अनुपयोगी हो गयी होती हैं उन्हें त्याग देता है और साथ ही जो मूल और स्थायी सत्य है उसे परिपूर्ण बनाता है।

आज विश्वशक्ति की यह मांग है कि भारत के प्राचीन ज्ञान को समस्त संसार के सामने रखा जाय। और सम्भवतः भारत के जीवित विचारकों में दूसरा कोई भी इस कार्यके लिये उतना अधिक योग्य नहीं है जितना पाँडीचेरी के ये शान्त योगी हैं। वह एक हद तक वैज्ञानिक पद्धति पर जोर देकर पश्चिम की माँग को पूरी करते हैं और फिर इस बात पर जोर देकर, कि अनुमान और कल्पनाकी अपेक्षा अनुभव अधिक शक्तिशाली है, पूर्वीय आदर्श के साथ भी अपना सामञ्जस्य बनाये रखते हैं। प्राच्य और पाश्चात्यका समन्वय उनके दर्शन की सब से बड़ी विशेषता है।

पश्चिम के अधिकांश लोग यह बात नहीं समझ पाते कि किस प्रकार एक शान्त, मौन गुरु जिज्ञासुओं को ज्ञान दे सकता है। उच्चारित शब्द को वे लोग अत्यधिक मूल्य प्रदान करते हैं। परन्तु पूर्व में मौन के, शान्ति के रहस्य का उत्साहपूर्वक पोषण किया

गया है। शान्ति सर्वशक्तिमती सृष्टि का अग्रदूत है। भारत के इतिहास में यह बार-बार देखा गया है कि विचार और आदर्श पहले बांध के पीछे रहने वाले पानी की तरह शान्ति के अन्दर ही शक्ति सञ्चय करते हैं और फिर बर्फ के शिला-खण्ड की शक्ति के साथ प्रकट होते हैं और मनुष्यसमाज को अपनी प्रबल शक्ति से परिप्लावित कर देते हैं। शब्दों से कहीं अधिक या अपने व्यक्तिगत उदाहरण से भी अधिक शान्ति के द्वारा श्रीअरविन्द जैसे गुरु हृदय की पूर्णावस्था से अपने शिष्यों के अन्दर ज्योति भर देते हैं। श्रीअरविन्द एकान्तवासी हैं। जनता, यहां तक कि आश्रम के साधक तक भी, वर्ष भर में केवल उन्हीं तीन मौकों पर देख सकती है जब वह दर्शनार्थियों को मूक आशीर्वाद देने के लिये बाहर आते हैं। दर्शनार्थी उन्हें प्रणाम करते हैं और उनके सामने फल-फूल रखते हैं जैसा कि भारत में पूज्य पवित्रात्माओं के सामने भेंटस्वरूप रखने का नियम है। अपने शिष्योंके साथ उनका सम्बन्ध केवल पत्रों के द्वारा और नीरव आध्यात्मिक प्रभाव के द्वारा ही होता है।

अपने गुरुके चारों ओर बैठी हुई एक आदर्श शिष्य-मण्डली का वर्णन करते हुए एक प्राचीन हिन्दू शास्त्र कहता है :— "कपड़े पर अङ्कित चित्रकी भांति मौनावस्था में एक नवयुवक गुरु एक वटवृक्ष के नीचे अपने वृद्ध शिष्यों से घिरे हुए बैठते हैं। गुरु मौन के द्वारा आत्मा के अन्दर के जीवन को समझाते हैं और मौन के द्वारा ही शिष्यों के सन्देह छिन्नभिन्न हो जाते हैं।" —स्वामी निखिलानन्द

—('एशियाटिक डाइजेस्ट' में उद्धृत 'एशिया' के एक लेख का संक्षिप्त भावानुवाद)

# मेरे स्वामी !

तुम इतने ऊंचे पर हो, हम इतने नीचे हैं! तुम्हारी ही अहैतुकी कृपाके बिना हम भला तुम तक पहुंच ही कैसे सकते हैं? हृदय के सघन अन्धकार को वेधती हुई तुम्हारी ही कृपा-दृष्टि की एक किरण जब हम तक पहुंच पाती है प्रभो! तभी दुःखों की ज्वाला में जलते हुए इस हृदयको शान्ति मिलती है; प्राणों को आराम मिलता है और मन का भटकना बन्द हो जाता है।

पर तुम्हारी इस अहैतुकी कृपा-दृष्टि की किरण बिना तो नाथ! हम धोखे ही में होते हैं—बड़े भारी धोखे में होते हैं। हम यदि सुख के लिये प्रयत्न कर रहे होते हैं तो वास्तवमें दुःख ही की जड़ मजबूत कर रहे होते हैं! और तो और जिस मार्ग पर हम तुम्हारी ही प्राप्ति का मार्ग समझ कर चल रहे होते हैं वह हम को उलटे तुम से अधिकाधिक दूर ही ले जा रहा होता है! हम केवल अन्धकार ही में चक्कर लगा रहे होते हैं। और केवल माया ही का ताना-बाना बुन रहे होते हैं!

हा! हम ठगे जा रहे हैं! हमारे साधन भी बन्धन ही हो रहे हैं! होंगे क्यों नहीं? आखिर हमारा मन ही तो हमारा पथ-प्रदर्शक हो रहा है! वह चाहे थोड़ा शुद्ध ही क्यों न हो गया हो आखिर है तो वह फिर भी मन ही!

प्रभो! जब तुम्हीं हमारे मन की बागडोर अपने हाथोंमें ले लो—तुम्हीं जब इसका सञ्चालन करो, मार्ग में आने वाले सब प्रकारके विघ्नोंको और हमारी सब भूलों को जानने वाले हे सर्वज्ञ! जब तुम ही हमारे पथ-प्रदर्शक बनो और अपनी प्रेम-भरी वाणी से आश्वासन देते हुए उत्साहित भी करते रहो तब ही, हां, केवल तब ही हम तुम तक पहुँच सकते हैं; केवल तब ही हमारी जन्म जन्म की साध—जन्म जन्म की खोज मिटकर परम आनन्द, परम शान्ति में लय हो पाती है।

—सब प्रकार से तुम्हारा।

## अवतरण की प्रार्थना

**उतरो माँ हे ! बन अवतार, उतरो जीवन में साकार ॥**

नूतन जग अभिनन्दित हो, प्राणों में तू स्पन्दित हो।
गौरवमय महिमान्वित हो, रोम-रोम आनन्दित हो।
तव चरणों में अभिनन्दन, स्वीकृत होवे प्रेमागार।
जीवन-नाव लगाने पार, माँ ! बन आओ खेवनहार।
उतरो जीवन में साकार ॥

माँ, उर में टङ्कार करो, आशा का सञ्चार करो।
मङ्गलमय हे ! ताप हरो, ओजस् का भण्डार भरो।
स्थिर हो फिरसे वह पावन, ऋषि-मुनियोंका नव संसार।
जल, थल और चराचर में, हो जावे जीवन संचार।
उतरो जीवन में साकार ॥

वसुधाका कर दो दुख भङ्ग, दिल में उमड़े दिव्य उमङ्ग।
मानव मन के अङ्ग-अङ्ग में, छाओ बन विद्युत् तरङ्ग।
सिंहनाद मां तेरा गूंजे, नस-नसमें रमकर साकार।
ज्वालासा संतप्त बना दो, हृदय-गुहा में कर अधिकार।
उतरो जीवन में साकार ॥

तन-मन-धन-जीवन देकर, तुझ को ही अर्पित होकर
तव चरणों में बढ़ जायें; तुझ से ही निर्मित हो कर
बढ़ा चले यह जग-जीवन; तव आदेशों के अनुसार।
मम अन्तर की यही पुकार, पृथिवीतल की यही पुकार।
उतरो जीवन में साकार,
उतरो माँ हे ! बन अवतार ॥

—विद्याव्रत

# एक पत्र

गताङ्क से आगे

वह चिरप्रतीक्षित आलोक आ रहा है। वह ज्योतिका लोक खुल रहा है—चिति का चतुर्थ लोक; वह, जहां सूर्य के घोड़ोंकी रास खुलती है, जो सूर्यके (ज्ञानज्योति के) प्रयाण की मंजिल है। जहां अन्धेरा नहीं, जहां मृत्यु नहीं। ऋषि वशिष्ठ इसी उषा पर अपना संगीत फैलाते हैं क्या—

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं
विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुः
आविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥

हां, यह ज्योति विश्वजन्य ही है; यह सविता एक-दो का नहीं, वह तो विश्वानर देव है। देव भी अपना चक्षु उसी से पाते हैं। यह कैसी उषा प्रकट हुई कि विश्व भुवन ही आविष्कृत हो गया!!

यह सविता ही है अतिमानस (Supramental) आलोक, वह विज्ञानशक्ति (Gnosis) जिसका स्पर्श ही कण-कण को सौवर्ण कर देगा—अमृत सोम का प्याला। उस सुधा के बिना अमृतत्व की शक्ति संभव नहीं। उस सूर्य के बिना अन्धेरे का आमूल विनाश नहीं हो सकता। उस शक्ति के बिना पूर्णत्व एक स्वप्न ही रहेगा। उस आनन्द के बिना जीवन सदा मृत ही है। उस प्रेम के बिना यह सब कुछ मानो बन्धन का पाश है।

अथर्व में * शायद ब्रह्माने समाधि की अत्यन्त ऊंची किसी भूमिका में उसी ज्योति को दूर से देख कर यह गान किया था—

'स एति सविता, स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत्।
रश्मिभि र्नभ आभृतम्, महेन्द्र एति, आऽऽवृतः॥'

आ रहा है वह सविता, ज्योति के लोक की, द्यु की, पीठ पर चमकता हुआ—नीचे की ओर देखता हुआ। रश्मियों से नभ भर गया है, आ रहा है वह महेन्द्र, चारों ओर से घिरा हुआ।

वही है वह जो एक कदम नीचे उतर कर अधिमानस (Overmind) में देवों के नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है—

वही धाता है, वही विधर्ता, वही वायु है जीवन का देव, नभ के अन्दर उठा हुआ। वही अर्यमा है—उज्ज्वल शुचि विवेकी अभीप्साका अमर प्रेरक; वही मित्र है—हमारे सब विचारों को, क्रियाओं को और वृत्तियों को दिव्य सामञ्जस्य में परिणत करने वाला प्रणेता, संज्ञान और प्रेम का ज्योतिर्मय देव; वही वरुण है—सब वृजिनों की, अघ की, कुटिल अनृत की संहारक विशाल पवित्रता, और शुचि विशालता। वही है रुद्र, अत्यन्त रौद्र साथ ही करुणा से पूर्ण, वह समर्थ देव जो इस सृष्टिको बलात् ऊपर की ओर उठाता है—जो भी उसकी राह में आये उसे ठिकाने लगाता हुआ, जो भी रोके उसे अपने प्रहारों से टुकड़े करता हुआ। वही है वह महादेव, माया का अधिपति प्रशान्त शिव। वही अग्नि है, देव की चेतन शक्ति, परम का दिव्य संकल्प। वही सूर्य है, ऋत की ज्योति, ज्ञान का अधिष्ठाता, आलोकका चक्षु। वही है महायम।··· एक सिर वाले दस वत्स उसका उपस्थान कर रहे हैं।

---

* अतिमानस (Supermind), विज्ञानतत्त्व (Gnosis) पृथ्वी पर आ रहा है इस घटना का वर्णन अथर्ववेद के काण्ड १३ सूक्त४ में लेखक ने देखा है। उसी सूक्त की यह व्याख्या कर रहा है।

जो भी उदित होता है जो भी व्यापक कान्ति से चमकता है सबके पीछे और आगे, चारों ओर, 'उसी' का तार वे फैला रहे हैं।... यह मरुतों का गण उसी का है, यह विचार के देवों की सेना। आ रहा है वह, छींके की तरह झूलता हुआ। रश्मियों से नभ भर गया है, महेन्द्र आ रहा है उन में घिरा हुआ!

तमिदं निगतं सहः,
स एष एकः,
एकवृत्,
एक एव।
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥

उसी में यह सब जो भी कुछ है, आहित है। वहां द्वित्व नहीं है, वह एक ही है। उसी में ये सब देव एक हो रहे हैं।

आओ, हम उस देवाधिदेव के स्वागत के लिये इस विश्वको सजा दें, तैयार कर दें। कहीं ऐसा न हो कि वह प्रिय सुन्दर अतिथि आये और हमारी किवाड़ी बन्द ही पाये। आओ, हम सब को जगा दें।... ...किन्तु, इसके लिये पहले हमें अलग-अलग अपना व्रत जगा लेना होगा, अपनी भूमि का परिष्कार कर लेना होगा, उस अपनी सत्ता से अपने अन्दर परिचय कर लेना होगा, एक पूर्ण जीवनके स्रोत और आधार को पा लेना होगा।

विश्व में और प्रकृति में सत्यजीवन के सिद्धि-विधान के लिये अपने अन्दर के सच्चे आत्मा का साक्षात् तो करना ही होगा, और उस सम्राट् का उसके साम्राज्य पर सर्वाधिकार देकर अभिषेक भी। हमें क्रान्तदर्शी वेन बन कर गुहा में बैठे 'उस' को देखना होगा जिस में यह विश्व एकनीड हो रहा है। क्योंकि उसीमें यह सब समेत और वीत हो रहा है, वही है वह 'विभु' जो सब प्रजाओं में ओत है और प्रोत।...

स्रष्टा का कोई उद्देश्य है। हमारे अस्तित्व का कोई हेतु है। वह क्या है यह हमारे अन्दरकी सत्ता ही जानती है। उस को पाये बिना हमारे जीवन की गति अर्थशून्य जैसी है। उस आन्तरी दिव्यता से भेंट किये बिना जीवन में कुछ करने निकलना मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे आंखें मींचकर अंधेरे में घूमना। मन बुद्धि और प्राणके संकेत अपने ऊंचे से ऊंचे क्षेत्रमें भी आधा ही प्रकाश देते हैं, वे मन्दे दीये हैं जो राह चमकाने की जगह भुलाते ही अधिक हैं। अपने जीवन के विषय में जो ऊंचे सपने कभी वहां पढ़ते हुए देखता था, उन्हें पूरा करने के लिये ही, या उन की यथार्थता की परख के लिये ही जो दृष्टि चाहिये उसकी एक इच्छा मुझे थी। अनायास मन्त्रमुग्ध सा होकर किसी अज्ञात शक्ति की गोदी में बैठ कर मैं यहां आया, और देखता हूँ कि मेरे वे ऊंचे से ऊंचे सपने भी (जिनका संकेत मैंने तुम्हारे आगे कभी नहीं किया था) यहाँ की वास्तविकताओं के आगे कितने नीचे हैं, महान् से महान् आदर्श यहाँ की ध्रुव नियति के सामने कितने क्षुद्र हैं। यहाँ मुझे ऐसा लगा मानो अपने ही उस घर में आ गया हूं; उसी पथ पर, जिस की पदवी का अनुसरण मैंने जन्म-जन्म में किया है। और जैसे अब जिस पथ पर कदम उठाने की मैंने तैयारी की है उससे अच्छा कोई पथ मेरे लिये नहीं हो सकता; जिनकी छाया में आया हूं उनसे अच्छा कोई पथ-दर्शक 'महान्' मुझे नहीं मिल सकता। यह मेरा सब उन्हीं का हो जाय, जो वे चाहें बस वही मैं बन जाऊं, यही मेरी प्यास है—यही मेरी साध।

साधना के विषय में जो तुमने प्रश्न किया था उसका उत्तर कुछ इसी में यदि पा सको तो पा लो, साधना के विषय में मैं भला क्या लिखूं?

अपनी प्रकृति के सहज मार्ग पर वही मन्त्रमुग्ध सा मैं बहा जा रहा हूँ, बल्कि बहाया जा रहा हूं—यही शायद मेरी साधना हो। हाँ ऐसा तो मालूम

होता है कि इस विमल प्रवाह की देवनदी ऊपर ही ऊपर चढ़ती है पहाड़ों के ऊंचे से ऊंचे शिखरों तक, चारों ओर फैलती है क्षितिज से भी परे, गहराई में भी उतरती है अनन्त गम्भीर किसी अज्ञात गुफा के भीतर। इस प्रवाह में पतन कहीं नहीं है। ऊपर की ओर अधिक ऊंचे अगले शिखर पर चढ़ने के लिये ही जरूरी हो तो यह पार्वत्य राह कभी नीचे भले ही उतरे, किन्तु इस में भ्रंश कहीं नहीं है। प्रणाम है उस शक्तिको जिसने इस राह में स्वयं अपने को रक्षा और शान्तिके रूप में बिछा दिया है!

मैं समझता हूं मेरे जीवन की खिंचती रेखा को समझने के लिये इतना संकेत पर्याप्त होगा।

तुम्हारे इस माँगलिक अवसर पर मैंने तुम्हारी बात तो कुछ भी नहीं पूछी—इसमें व्यवहार की कुछ अकुशलता जान पड़े तो मन में मत लाना।

मुझे याद पड़ता है तुम्हारा कभी एक विचार था कि तुम अपने जीवन की नौका कहीं ठहराने से पहले एक बार सारे देश में चलना आरम्भ करोगे और जहां तुम्हें अनुकूल मालूम होगा वहीं खड़े होकर अपने जीवन की ऊर्ध्वयात्रा के लिये उपक्रम करोगे, वहीं तुम्हारा आवास बनेगा। अस्तु, अब तो तुमने कोई देश चुन ही लिया है। और भविष्य को कौन जानता है।

कहो, आज तुम्हारे इस उत्सव में मैं क्या वृद्धि करूं?—प्रेरणा, सन्देश, या नसीहत—इस सबका तो मुझे अधिकार नहीं। कहो तो हृदय से एक प्रार्थना तो करूंगा ही। 'यह उत्सव सचमुच एक उच्च जन्म (उत्+सव) ही होवे। यह एक से दो होना, यह विवाह, वास्तव में प्रेम के उस एक स्रोत की ओर ही विविध रूपसे वहन करने वाला हो जाय जो वह परम सत्यका घर है—परम रस, अनेकताओं में भी जो एकता की प्रतिष्ठा है, जड़लोक में जीवन का आलोक है, जो सब के हृदयों में आसीन है और पर से भी परे। यह सम्बन्ध सामञ्जस्य की ओर ले चले जिसमें विश्व का वह अद्भुत ऐक्य प्रकट हो। यह वह पवित्र परिणय हो जो ऊपर ही ऊपर उठे, रोचिष्णु और राजकीय।'

और यह सब हो, इस में कुछ आश्चर्य नहीं, मैंने जो कुछ कहा इसका आधार है वह अलौकिक भेंट जो मैं तुम्हें इस अवसर पर भेज रहा हूं। वह तुम साथके छोटे सम्पुट को खोल कर देखना। इसका कितना मूल्य है वह तो तुम्हारा हृदय ही बतायेगा अथवा आने वाला काल। किन्तु अभी तो मैं तुम्हें अत्यन्त स्नेह के साथ, आह्लाद और गर्व के साथ, इसे भेजता हूं—क्योंकि इससे अधिक अमूल्य वस्तु मेरे लिये जगत् में नहीं है—इसी से इसे प्यार के साथ स्वीकार करना।

अपनी माता जी को मेरा अभिवादन कहना। अन्त में फिर गाता हूँ:—

‡ इहेदसाथ, न परो गमाथ,<br>
इमं गावः प्रजया वर्धयाथ।<br>
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो<br>
विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि॥<br>
इमं गावः प्रजया सं विशाथ,<br>
अयं देवानां न मिनाति भागम्।<br>
अस्मै वः पूषा, मरुतश्च सर्वे,<br>
अस्मै वो धाता सविता सुवाति॥<br>
अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो<br>
येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।<br>
सं भगेन, समर्यम्णा,<br>
सं धाता सृजतु वर्चसा॥

और बहिन को भी कहना—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं,<br>
ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।<br>
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य<br>
शिवा स्योना पतिलोके विराज॥

‡ अन्तमें चुने हुवे वेदमन्त्रों द्वारा ही वरके लिये तथा वधूके लिये भी अपनी शुभकामना की गयी है।

सोमस्य जाया प्रथमम्,
गन्धर्वस्ते परः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिः,
तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥
सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपम्
हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आरोह सूर्ये ! अमृतस्य लोकं
स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥

बस.

अपनी हार्दिक शुभाकांक्षाओं को लिये

तुम्हारा प्रिय भाई

वेदव्रत

# मानवीय कार्यों की प्रवाहदिशा—१९४५

यह द्वितीय विश्व-युद्ध अपनी अन्तिम अवस्था में प्रवेश कर चुका है। यूरोप का युद्ध समाप्त हो चुका है और जापान का युद्ध भी सम्भवतः कुछ महीनों में समाप्त हो जायगा और इस प्रकार निर्दय रक्तपात और स्वेच्छाचारितापूर्ण विनाश के उस भैरवनृत्य का विराम हो जायगा जिसने कि सभ्य जगत् में मानवीय सामर्थ्य के ऊंचे जलचिह्न को चिह्नित किया है। हां, विराम होगा, किन्तु केवल ईश्वर ही जानता है कि कितने समय के लिये। इस समय हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि हम मानवीय उन्नति के मार्ग में ठीक कहां पर खड़े हैं। क्योंकि, मार्गवर्ती उतार चढ़ावों के बावजूद भी यह उन्नति अवश्य है।

जब कि १९१४ से १९१८ का गत महायुद्ध चल रहा था, तब हमें बार-बार कहा जाता था कि यह युद्ध युद्ध को समाप्त करने के लिये है, कि यह न्याय्य धर्मयुद्ध है जो कि मनुष्य और मनुष्य के बीच द्वेष और घृणा का अन्त करने, और पृथ्वी पर शान्ति तथा सद्भावना के शाश्वत युग की घोषणा करने के लिये दैवात् आया है। किसी भी कारण, वर्तमान युद्ध में बाइबल के वाक्यों पर उतना खुल कर वादविवाद नहीं किया गया जितना कि तब किया गया था, परन्तु जनतन्त्र के सिद्धान्तों में विश्वाससम्बन्धी दावे ज़ोर-ज़ोर से बोल कर बहुत-बहुत किये गये हैं। ब्रिटेन और अमरीका में चतुर लोगों ने, अगर स्वाधीनता, भ्रातृभाव और समानता के आधार पर नहीं तो, न्याय और सच्चे व्यवहार के आधार पर, संसार के पुनर्निर्माण की योजनाओं को सूत्रबद्ध करना पहले से ही शुरू कर दिया था। १९१६ में, श्रीअरविन्द ने अपने "आइडियल ऑफ ह्युमन यूनिटी (मानव एकता का आदर्श)" नामक लेख में मानवीय कार्यों के प्रवाह की सामान्य दिशा के विषय में लिखा था कि "वर्तमान यूरोपीय संघर्ष दो विभिन्न संभावनाओं को वेगपूर्वक पूरा होने के बहुत अधिक निकट ले आया है, एक तरफ तो स्वतन्त्र यूरोपीय राष्ट्रोंका सङ्घशासन, और दूसरी तरफ, भूतल का थोड़े से महान् साम्राज्यों या साम्राज्यशाही आधिपत्यों में विभाजन।" हमें देखना है कि वर्तमान वैर-विरोधों के शान्त हो लेने तक घटनाएं इन दो दिशाओं में कहां तक प्रगति कर चुकी होंगी। जर्मनी की नवीन यूरोप का निर्माण करने की महत्त्वाकांक्षा, जो यूरोप कि अनुशासित, कार्यनिपुण और बलशाली हो, तथा ट्यूटन लोगों के नियन्त्रण में हो, काफ़ूर हो चुकी है तथा जापान का अपने आधिपत्य के अधीन नवीन एशिया को सङ्गठित करने का दावा भी तब तक बहुत सम्भवतः समाप्त हो चुका होगा। परन्तु रूस बचा रहेगा और संसार का पुनर्निर्माण करने के मामले में उसकी आवाज़

निःसन्देह शक्तिशाली होगी। हमें अभी विदित नहीं हुआ है कि रूस का राजनीतिज्ञ प्रमुख ऐंग्लो-अमरीकन लोगों द्वारा को गई थोथो टिप्पणियों के बारे में क्या सोचता है। पर मैं यह कहनेका साहस करता हूँ कि विजित देशोंके विभाजन के सम्बन्ध में, संभवतः भावी प्रभाव-क्षेत्रों के विषय में भी साधारण समझौता हो चुका है। किन्तु जो राजनीतिक दर्शन सोवियट समष्टिसत्तावाद के आधार में है और जो वैध राजतन्त्र या धनाढ्यसत्तात्मक जनतन्त्रको उचित ठहराता है उनके बीच क्या असली समझौता हो सकता है! तथापि यह संसार के लिये सामान्यतया बहुत अधिक महत्त्व की बात नहीं, बशर्ते कि विजयी शक्तियाँ छोटे या बड़े प्रत्येक राष्ट्र को अपने सामूहिक जीवन को अपने ही ढङ्ग से पूर्ण बनाने का अवसर देने के लिये सहमत हो जांय, जैसा कि सानफ्रांसिस्को सम्मेलनमें हो गया दीखता है। राष्ट्र-अवस्था अबतक साङ्घिक जीवन की सब से विस्तृत जीवित इकाई है जिसे कि यूरोप का राजनीतिक विचारक स्वीकार करता है और जब संसार का विधान फिर से बनाया जा रहा है उस समय इस अवस्थाका दूसरे महाद्वीपों के लोगों के लिये सर्वथा निषेध करना बहुत कठिन हो गया है। इस समय मैं विशेषतया अपने देश के बारे में नहीं सोच रहा हूँ, क्योंकि यह खुला प्रश्न है कि क्या भारतवर्ष ने राजनीतिक तौर पर उस अखण्ड चेतना को पर्याप्त प्रबल और सच्चे रूप में विकसित कर लिया है जो कि उसे स्वतन्त्र राष्ट्रीय जीवन का प्रारम्भ करने में समर्थ बना सके।

बस यही है जो कुछ कि मुझे भूमिका रूप से कहने की ज़रूरत है, क्योंकि मेरा मुख्य उद्देश्य संसार की घटनाओं के, जैसी कि वे प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् थीं, श्रीअरविन्द द्वारा किये गये अद्भुत सारप्रतिपादन से पाठकको परिचित कराना है। वह लेख 'Arya ( आर्य )' में १६२० में प्रकाशित हुआ था, और उस पत्रिका के पाठकों को वह अवश्य भलीभांति विदित होगा। परन्तु आज बहुत लोग ऐसे हैं जिन्होंने उसे नहीं देखा है, या कुछ भी हो उसका वैसा अध्ययन नहीं किया है जैसा कि करना चाहिये। इस लेख का ध्यानपूर्वक अध्ययन हमें वर्तमान संघर्षके संभावित परिणामों—निकटवर्ती और दूरवर्ती दोनों प्रकार के परिणामों—को ठीक-ठीक जानने में समर्थ बनायेगा। गुरु श्रीअरविन्द ने गत युद्ध के तात्कालिक परिणाम का इस प्रकार निरूपण किया था :—"हमारे चारों तरफ वर्तमान का अन्धकारमय कुहरा और गड़बड़झाला है, हमारे सामने धुन्धले और सन्दिग्ध भविष्यत्का मुख है"—"महान् बौद्धिक और नैतिक दिवालेपन, अपरिमित रिक्तता और विषाद ने संहार के उन्माद का स्थान ले लिया है।" तथापि उन्होंने अन्धकार को भेद कर अपनी भविष्यदर्शिनी दृष्टि से सूक्ष्मतया देखा, और जिस उथलपुथल ने संसार को हिला दिया था उसका आन्तरिक अर्थ हमें बताया। लड़ाई के दौरान में लोग जो बड़ी बड़ी बातें बनाने में मजा लेते थे वे निरर्थक थीं, और उनका केवलमात्र आशय था लड़नेवाले दलों के इरादे की सचाई को संसार के समक्ष सिद्ध करना। विश्व-शान्ति सर्वोत्कृष्ट नारा था और इसे बार-बार दुहराया जाता था। छोटे राष्ट्रों के लिये आत्म-निर्णयाधिकार बहुत अच्छा मोहक शब्द था और संसार के छोटे राष्ट्रों की सद्भावना को प्राप्त करने के निमित्त इसे फिर-फिर दुहराया गया, जिन राष्ट्रों की सहानुभूति और सहायता, जब कि युद्ध चल रहा था, काफी उपयोगी थीं। परन्तु ज्यों ही युद्ध-विराम की घोषणा हो गई, तत्काल ये सब धर्ममूलक दृढ़ वचन भूल गये और प्रभुता के लिए अशोभाजनक छीनाझपटी शुरू हो गई। इसके अनुसार अफ्रीका को "दो या तीन महान् शक्तियों की निजी सम्पत्ति के रूप में अधिकृत और विच्छेदित" किया जाना था। पश्चिमी एशिया को "शासनादेश"......"जो व्यापारिक शोषण के

यन्त्र के तौर पर खुल्लमखुल्ला उचित साबित किये गये, उनकी पद्धति के अधीन शासित किया जाना" था। सैनिकतावाद ने इसके बजाय कि वह हताहत हो और मारा जाय जैसी कि युद्ध की अनिर्णायक अवस्था के मध्य इतनी वाचालता के साथ प्रतिज्ञा की गई थी, जीवन की नवीन आशा प्राप्त कर ली। इन चीजों को कुछ लोगों ने इस सारे दौरान में पहले ही देख लिया था किन्तु युद्ध-विराम के बाद ये लोकविदित साधारण बातें हो गईं।

यह स्पष्ट था, कि युद्ध १९१८ में समाप्त हुआ इसलिये नहीं कि नाना देशों के युद्ध-नायक शान्तिवादी बन गये थे किन्तु इसलिए चूंकि युद्धरत राष्ट्र इतने थक गये थे कि लड़ाई जारी नहीं रख सकते थे। इन दो महान् युद्धों के बीच के अवकाश में घटी घटनाओं ने यह बहुत काफी दिखा दिया कि लड़ने वाले राष्ट्र केवल दम लेनेके लिये थोड़ी बहुत प्रतीक्षा कर रहे थे—अपने हृदयों में घृणा और छल को भरे हुए प्रतीक्षा कर रहे थे—जिस से कि सबसे पहले अवसर पर एक दूसरे पर अधिक सख्त प्रहार कर सकें। पुरानी दुनिया में, युद्ध मुख्यतया राजवंश के स्वार्थों को पूरा करने तथा राजाओं और महाराजाओं की राजवंशसम्बन्धी महत्त्वाकांक्षाओं को तृप्त करने के लिये बहुधा लड़े गये थे। परन्तु १९१४ में, यद्यपि हैप्सबर्ग, रोमनोफ्फ और होहेनजालर्न अपने अपने सिंहासनों पर आरूढ़ थे, तो भी युद्ध राष्ट्र और राष्ट्र के बीच में था। हम इससे भी आगे जा सकते और यह विशेष निर्देश कर सकते हैं कि वह उग्रतापूर्ण जर्मनीय विचार के और फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा अमरीका द्वारा प्रतिष्ठापित मध्यश्रेणी वाले सौम्य-उदारतावाद के बीच संघर्ष था। ट्यूटन लोग परास्त हो गये, किन्तु केवल थोड़े समय के लिये। उसे कैसर से छुटकारा मिल गया, परन्तु जर्मन प्रभुत्व के पुराने मत को नये नाम से चलाने के लिये नया नेता उठ खड़ा हुआ। यूरोप की जनतन्त्रीय शक्तियां, प्रत्येक दूसरी के पीठ पीछे होकर, युद्ध की आम चिनगारियां फूट निकलने से पहले लगभग अन्तिम क्षण तक, इस नेता के साथ प्रेमलीला करती रहीं। तो फिर, इस सब समय में राष्ट्र-सङ्घ क्या कर रहा था! १९२० में भी श्रीअरविन्द के पास इसके लिये कोई स्तुतिवचन कहने को नहीं था। उनकी राय में, "यह सत्ता भी मुश्किल से ही रखती है या केवल मजाक और उपहासास्पद वस्तु के रूप में सत्ता रखती है।" उस के बादके वर्षोंमें इसने अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें सचमुच बहुत शोचनीय भाग लिया, यहां तक कि अन्त में इसने अपनी प्रतिष्ठा सर्वथा खो दी। इस सङ्घ ने साहसपूर्ण, स्वतन्त्र और न्याय्य निर्णय विरले ही कभी किया, और जब किया भी, तब भी इसके पास अपने आदेश को लागू करने की शक्ति नहीं थी। कई शक्तिशाली राष्ट्र इससे सर्वथा बाहर रहे, जब कि दूसरों ने इसे पूरे तौर पर अपने ही स्वार्थमय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त किया। हमें इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नितान्त निरर्थकता स्थापित करने के लिये केवल मंचूकुओ, स्पेन और अबीसीनिया की तरफ ध्यान खींचना पर्याप्त है।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध का प्रत्यक्ष परिणाम था सब महान् आदर्शों का विषादपूर्ण मर्दन, दारुण भ्रमनिरास। परन्तु यह केवल उसका एक पहलू है। ऐसे सब महाविप्लव प्रकृति की पूर्वचिन्तित योजना के भाग होते हैं। प्रकृति प्रायः विरुद्ध वस्तुओं को समतुलित करने द्वारा आगे बढ़ती है—अभी एक पक्ष को आश्रय देती हुई, फिर दूसरे को आश्रय देती हुई, और फिर दोनों के बीच समझौता कराती हुई। उसकी विकासोन्मुखी गति मन्द और मपी हुई है और उस में आकस्मिक चमत्कारों का कोई स्थान नहीं। जैसा कि श्रीअरविन्द ने आलोचना करते हुवे कहा था, "संसार के तुरत और आश्चर्यजनकतया पूर्ण रूपान्तर और पुनरुद्धार की आशा" भूल थी।

जो कुछ स्वभाव और लोकाचार के द्वारा कायम हुआ है, और मनुष्य के चरित्र में बद्धमूल है उसे एक ही घोर प्रयास में नहीं उखाड़ा जा सकता। युद्ध आया और उसने पहला धक्का दिया; उसने उस जीवन के, जो प्रकृति के मनुष्यजाति को उन्नत करने और एक करने के निश्चित प्रयोजन को और आगे पूरा नहीं कर रहा था, नैतिक पार्श्व पर घातक प्रहार पहुँचाया। उसने जमीन को नरम किया, घास आदि को उखाड़ डाला और भूमि को नये बोने के लिये तैयार कर दिया। बोने का और फिर फसल काटने का समय आने में बहुत देर लग सकती है किन्तु निःसन्देह वह कार्य आरम्भ कर दिया गया है। प्रथम महायुद्ध का यह आन्तरिक अर्थ और दूरवर्ती परिणाम है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने स्वेच्छाचारी राजतन्त्र, वंशपरम्परागत शिष्ट-शासन और विशेषाधिकार रखने वाले धर्म की मौत की घण्टी बजा दी थी। उसने नयी श्रेणी के, दुकानदारी करने वाले मध्य श्रेणी के व्यक्तियों के, हाथों में शक्ति दे दी जिन्होंने कि तब से लेकर पिछली सारी सदी में, तानाशाह रूस और टर्की को छोड़ कर, यूरोप के लगभग सभी देशों पर शासन किया। सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान को रखते हुए यह वर्ग सुगमतया बुद्धिशाली लोगों का नया शिष्टवर्ग बन गया और उसने पुराने छोटे बड़े सरदारों ( barons and knights ) को, जो समाज के पूर्व नेता थे, अपने अन्दर मिला लिया। इससे भी बढ़कर, व्यावसायिक युगके सभी विशाल व्यापारिक उद्योग-धन्धों का संगठन और नियन्त्रण करते हुए, वे शनैः शनैः अपने अपने देशों में धन के भण्डार बन गये। परन्तु शताब्दी के अन्तिम काल में श्रमिक वर्ग, जो अब तक चुपचाप थे, अपने महत्त्व की भावना के प्रति जाग्रत हो उठे और उन्होंने उच्चस्वर से घोषित करना प्रारम्भ किया कि वे भी धन के उतने ही अधिक उत्पादक हैं जितने कि पूंजीपति और अपने राष्ट्र के कार्यों में बराबर हिस्से के अधिकारी हैं। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र-संस्थान के अन्दर ही अन्दर ये दो वर्ग,—पूंजीपति बुद्धिजीवी लोग और श्रम करने वाले सर्वसाधारण लोग—एक दूसरे के मुकाबले में खड़े हो गये। गत युद्ध के समय; राष्ट्र-राष्ट्र के बीच जीवन-मरण के संघर्ष के मध्य में, उन दोनों के बीच सन्धि हो गई। परन्तु वह केवल सन्धि थी, सङ्गतिकरण नहीं। १६२० में इन दो वर्गों की पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में श्रीअरविन्द ने निरूपण किया था कि "पूंजी और श्रम के बीच में आधुनिक विरोध नये रूप में प्रवेश कर चुका है और दो लाइलाज तौर पर विरोधी सिद्धान्त अन्तिम और निर्णायक युद्ध की ओर स्पष्टतया गति कर रहे हैं........।" रूसको छोड़ कर अन्य सब जगह पूंजीवादी चिरप्रतिष्ठा के दबाव मात्र से प्रभुताशाली रहे। जर्मनी की पराजयके बाद सब जनतन्त्रीय देशों में पुरानी शासन-प्रणालीको कठोर कर दिया गया, जैसा कि नैपोलियन के पतन के पश्चात् हुआ था। परन्तु यह प्रतिक्रिया क्षणिक वस्तु थी। श्रमिक दल की मनोवृत्ति के परिवर्तन ने इस बात को स्पष्टतया द्योतित कर दिया। श्रीअरविन्द की भाषा में, "मजदूर आन्दोलन सब जगह सुधारवादीसे साम्यवादी और अतएव आवश्यक तौर पर......क्रान्तिकारी नमूने में अपने रूपान्तर को पूर्ण कर रहा है।" आगेके लिये उस आन्दोलन का आदर्श मजदूरों के लिये अधिक अच्छी सामाजिक स्थिति प्राप्त करना नहीं रहा, किन्तु "सामाजिक आधार और शासन करने वाली शक्ति के रूप में धन की जगह श्रम को प्रतिष्ठित करना" यह हो गया। यह बात इङ्गलैण्ड जैसे देशके बारे में भी बिलकुल सच थी जो कि परिवर्तनविरोधी अनुदारदल के हितों से ही अधिकतर शासित होता था और अब भी होता है। यह केवल मजदूरदल के नेताओं की हिचकिचाहट के कारण होता है कि

"युद्ध के निर्णीत प्रश्न को जोड़ने में" देर लगती है। एक के बाद एक बड़ा युद्ध इस बात को प्रत्यक्ष करा देता है कि अपने राक्षसी अहङ्कार से युक्त राष्ट्र-अवस्था, विकास के मार्ग में वह चाहे कितनी ही आवश्यक अवस्था रही हो, फिर भी वह कम से कम अपने पूर्ण निरपेक्ष और अन्यवर्जक रूप में अपनी उपयोगिता को नष्ट कर चुकी है। मानवता ने सामूहिक जीवन की विस्तीर्णतर जीवित इकाई की ओर आगे बढ़ना है। और ऐसा होना एक मनोवैज्ञानिक स्थिति की पहले से विद्यमानता की अपेक्षा करता है जो कि स्थिति अभी तक मानव मन में केवल अन्तर्निहित है। इसी प्रकार, साम्यवाद भी किसी रूप में, जो कि राष्ट्र में समानता को प्रतिष्ठित करे यद्यपि वह अपना लक्ष्य व्यक्ति को कुचल कर के ही प्राप्त करे, विकास की अपरिहार्य अवस्था प्रतीत होता है। क्योंकि इसी मध्यवर्ती अवस्था में से गुजर कर ही मानवसमाज, सरकार के बलात्कार के बन्धन से मुक्त, स्वतन्त्र भ्रातृभाव के अपने चरम आदर्शकी ओर अग्रसर हो सकता है। जिन नानाविध रूपों में से मनुष्य को बहुत संभवत: गुज़रना है उनका श्रीअरविन्द ने १६२० के इस निबन्ध में स्पष्टतया निर्देश किया है। प्रथमत:, व्यक्तिवाद-प्रधान जनतन्त्र, जो कि "कानूनके सम्मुख राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता की एक प्रणाली" रूप में काफी ठीक है, किन्तु जो आखिर में "अमानवोचित सामाजिक असमानता और आर्थिक शोषण, अविरत वर्गयुद्ध और धन तथा उत्पादन की मैशीनरी के राक्षसी और बहुत अधिक नीच शासन को" प्रचलित कर देता है। ऐसी दानवीय प्रणाली अवश्यमेव अपने ही बोझ से दब जायगी। मानवजाति द्वारा खोजा गया दूसरा समीकरण है मुख्यतया "श्रम और साझे लाभों में सामूहिक जीवन का समानतापूर्ण संगठन।" बहुत संभवतः इस प्रणाली का भी असफल होना बदा है, चूंकि, जिस समानता को यह लक्ष्य बनाती है वह जीवन के कठोर सैनिकीकरण और, उतने समयके लिये, सम्पूर्ण वैयक्तिक स्वाधीनता के पूर्ण निर्वाण के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। सारी कठिनाई की जड़ यह है कि जीवन की इन सब योजनाओं में, मनुष्य की आत्मा, उस के सच्चे 'स्व', की उपेक्षा की गई है। लक्ष्य बनाई गई स्वाधीनता, भ्रातृभाव और समानता को आन्तरिक रूप में भी स्थापित होना है जैसे कि बाह्य रूप में। मनुष्यों को आत्मा में स्वतन्त्र, समान और एकीभूत करना होगा पूर्व इसके कि मानवसमाज की समस्या हल की जा सके। यह बात कि मनुष्य में आध्यात्मिक परिवर्तन आवश्यक है अब अनुभव की जाने लगी है।

"श्रमी वर्ग की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय नीति अन्त में, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचार के बीच अधिक न्याय्य समीकरण को, राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (अर्थात् दूसरे राष्ट्रों के कानूनों और व्यवहारों को, जहां तक वे व्यवहारयोग्य हों, मित्रभाव से स्वीकार करना) को अपने अन्दर धारण करती है......।" इस में सन्देह नहीं कि यह नीति मनुष्यजाति के श्रेष्ठतर भविष्य का विश्वास दिलाती है अपेक्षा किसी भी ऐसी नीति के जो अल्पजनसत्तात्मक राज्यों ने, जो कि आज मानवीय कार्यों पर अधिकार रखते हैं, अब तक सूत्रबद्ध की है। परन्तु निश्चय ही यह मानवीय प्रयत्न का अन्त नहीं है। जैसे कि हम पहले कह चुके हैं, यह मनुष्य का आन्तरतम 'स्व', उसका आत्मा ही है जिसे कि बाह्य जीवन में भी स्वतन्त्र और समान करना होगा।

रूस के सम्बन्धमें गुरु श्रीअरविन्द ने १६२० में लिखा था कि उस देश में क्रान्ति की सफलता मानवीय इतिहासमें वैसी ही परिवर्तनकारिणी घटना होने की आशा बंधाती है जैसी कि क्रान्तिकारक फ्रांस में जैकोबिन लोगों (पेरिसकी सन् १७८६ की क्रान्तिकारी सभाके सदस्यों) की सफलताएं थीं। इसने ठीक

समय पर उन पुराने और निस्तेज विचारों और संस्थाओं को आवश्यक धक्का दे दिया जो कि पश्चिमीय यूरोपमें पहलेसे ही खण्ड खण्ड होना शुरू हो चुकी थीं। रूस की क्रान्ति निःसंदेह मानवीय शक्ति का चमत्कार था, किन्तु जो इस से भी अधिक महत्त्व की चीज थी वह थी उस विचार की शक्ति जो उस की बाहिरी सफलता के पीछे विद्यमान था। पश्चिमीय शक्तियां उसे राक्षसपन और सभ्य जीवन पर खतरा कह कर पुकारना बन्द न करती हुई भी उस के साथ समझौता करने को विवश हुईं। अगर यह बात १९२० में अर्थपूर्ण थी, तो यह तथ्य उससे भी कितना अधिक अर्थगर्भित है कि वर्तमान युद्धके प्रारम्भ के समय इङ्गलैण्ड और जर्मनी दोनों के दूत स्टालिन के द्वारके इर्दगिर्द लगातार हफ्तों तक उस से परिचय की मुस्कान प्राप्त करने की प्रतीक्षा करते हुए मंडराते रहे। और इस के लिए उचित कारण भी थे, यदि हम उस अदम्य भावना और सर्वतोमुखी कार्यक्षमता का विचार करें जो बाद में रूसी सेनाओं ने वर्तमान लम्बे संघर्ष में अच्छी तरह प्रदर्शित की। अगर रूस की क्रान्ति १९२० में "आने वाली घटनाओं की सुस्पष्ट पूर्वसूचना" थी, तो यह तथ्य आज उस से भी कितना अधिक पूर्वसूचक है! श्रीअरविन्द के शब्द वाग्मितापूर्ण हैं :— "असली महत्व की बात यह है ...... कि मानवजातिके एक भावी नेता के रूप में स्पष्ट निर्धारित एक महान् राष्ट्र ने भविष्यकी गुप्त खाइयों में साहसपूर्ण छलांग लगाई है, समष्टिसत्तावाद के मूलगामी परीक्षण के समय डाली गई और दृढ़तापूर्वक जमाई गई पिछली नींवोंको नष्ट कर डाला है, मध्यश्रेणीकी पार्लियामेण्ट-पद्धति के स्थान पर सरकार के नये रूप को कायम किया है और स्वतन्त्र जीवन की अपनी सब से पहली शक्तिको सर्वथा अद्भुत सामाजिक व्यवस्था का प्रारम्भ करने में प्रयोग किया है। ऐसे श्रद्धायुक्त कार्य और इस पैमाने के साहस ही मानव उन्नति के प्रवाह को बदल देते या वेगयुक्त कर देते हैं।" तो, बोल्शेविक अधिनायकत्व और उसके तरीकोंकी तरफ ध्यान न देते हुए, महान् रूसी परीक्षण में कोई ऐसा तत्त्व है जो काम कर रहे नित्य काल-पुरुष को प्रकट करता है। हम नहीं कह सकते कि रूसियोंकी आर्थिक समाज (स्वशासित जिलाशासन-संस्था) की साहसपूर्ण कल्पना एक दिन आध्यात्मिक समाजकी ऊंचाई तक पहुँच जायगी या नहीं। किन्तु एक चीज निश्चित है कि दो महान् विश्वव्यापी युद्धों से हुई उथलपुथल जमीन को नये बोने के लिये तैयार कर देगी।

महान् साम्राज्यों और राष्ट्रमण्डलों (commonwealths) ने, जो उदित हो चुके हैं या निकट भविष्य में उदित होंगे, मनुष्यजाति के चरम एकता की ओर प्रयाणमें संभवतः बड़ा भाग अदा करना है। ब्रिटिश साम्राज्य, जो मातृभूमि और अधिकांशतः जाति तथा संस्कृति के द्वारा उसके साथ जुड़े हुए उपनिवेशों के मेल से बना है, इस दिशा में सब से अधिक सफल परीक्षण हो सकता है, अगर वह भारत के प्रश्न को हल कर सके। एक समय यह आशङ्का की जाती थी कि आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका साम्राज्य में अधिक देर तक रहने वाले नहीं हैं। किन्तु वह खतरा अब नहीं रहा है। वर्तमान युद्ध ने उस का निर्णय कर दिया है। किन्तु भारतवर्ष, जो जाति, परम्परा और संस्कृति में इङ्गलैण्ड से भिन्न है और मुख्यतया तलवार के जोर से काबू किया हुआ है, एक भिन्न समस्या है। क्रिप्स प्रस्तावित हल को लेकर आया किन्तु भारतवर्ष ने उस पर सूक्ष्मतया विचार करना नहीं चाहा। शायद अब लार्ड वेवेलके प्रयत्नों से वह द्वार फिर खुल जायगा।

यह प्रसङ्ग हमें एशियाके सुदूरविस्तृत पुनरुत्थान के तथ्य की ओर ले आता है। एशिया जो कभी स्वतन्त्र और अपने ही ढंग से अपना जीवन बिताने का आदी रह चुका है, पश्चिमीय प्रभुत्व से तंग आ गया है। वह अब और देर तक संरक्षित राज्यों

और शासनादेशों जैसी अस्थायी योजनाओं को स्वीकार करने के लिए भी इच्छुक नहीं रहा है। शासन करने वाले पश्चिमदेशवासी की दृष्टि में वह चाहे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का दावा करने में न्यायाश्रित हो या न हो, परन्तु यह निश्चित है कि वह जब तक उसे प्राप्त नहीं कर लेता तब तक सन्तुष्ट नहीं होगा। पश्चिम ने उसे सायंस की जो विद्या सिखानी है उस सब का पूरा लाभ उठाने के लिये वह पर्याप्त इच्छुक है, परन्तु राजनीतिक तौर पर अधीनता की स्थिति में रहने की किसी प्रकार की भी इच्छा के बिना। जिस प्रश्न पर हम ने अधिक विस्तृत दृष्टि-बिन्दुसे विचार करना है वह यह है कि क्या एशिया पूरी तरह से मर चुका है, यहां तक कि मानवजाति की सामान्य भलाई में किसी प्रकार का साहाय्य प्रदान करने में अब और देर तक समर्थ नहीं रहा है। श्रीअरविन्द नकार में जोरदार जवाब देते हैं, यद्यपि उस के पुनरुजीवन का आन्दोलन अब तक "भूमिका के रूप में, अपने लिये जीने के अपने स्पष्ट अधिकार को प्रमाणित करने के प्रयत्न के रूप में अधिक व्यक्त हो रहा है, अपेक्षा इसके कि स्वतन्त्र रचनाकारी विचार और कार्य के किसी अर्थपूर्ण प्रयत्न के रूपमें" तो भी उसमें "आध्यात्मिक और नैतिक स्वतन्त्रताका आदर्श" और एशियाई संस्कृति के सूक्ष्म तत्त्व को सुरक्षित रखने की इच्छा, बहुत संभवतः अब तक भी अवचेतन रूप में, अन्तर्निहित है। वर्तमान युद्ध के बाद एशिया का अहंप्रतिपादन संभवतः अधिक स्पष्टघोषित, और अधिक निर्धारित होना है। श्रीअरविन्द के शब्दों में, यह मानवीय सामूहिक जीवन के विकास में "नये और अब तक अपूर्वदृष्ट तत्त्व" के उदय के लिये कुछ विस्तृत क्षेत्र को खोल देगा। १९२० में गत महायुद्ध की समाप्ति पर, साम्यवाद, या कम से कम, श्रमिक उद्योगवाद, और एशियाई अशान्ति इस के दो प्रधान विशेष रूप थे। वर्तमान युद्ध के बाद इन दोनों ने संभवतः पहले से कहीं बहुत अधिक दृढ़ाग्रही और तीव्र हो जाना है। परन्तु दोनों ही, स्वभावतया, विकास को आवश्यक रुख की ओर फेर देने में असफल हो सकते हैं। उदीयमान एशिया पूंजीवादी यूरोप का निःसार अनुकरण मात्र बन सकता है, और सत्तारूढ़ मजदूरदल विरोधी मजदूरदल के विचार की विशालता को भुला सकता है। क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, केवलमात्र आत्मा में परिवर्तन ही मानवता को सुरक्षित तौर पर उन गुप्त खतरों के पार पहुँचा सकता है जिन में यह अपनेको पड़ा हुआ देखती है। सचमुच, सम्पूर्ण वायुमण्डल सङ्करयुक्त है, परन्तु इस संकरमें से कोई चीज उदित हो सकती है, कोई चीज "जो काल की परीक्षणात्मक प्रयोगशालामें अभी तक निर्मित नहीं हुई है, प्रकृति की योजनामें अभी तक उद्घाटित नहीं हुई है।"

—चारुचन्द्रदत्त

—:०:—

# आध्यात्मिक रेडियो

आज से कुछ वर्ष पूर्व अगर हम किसी से यह कहते कि 'आप चाहें तो आपकी चिट्ठी का फोटो फौरन ही लन्दन या संसार के किसी भी दूरस्थ कोने में पहुंचाया जा सकता है' तो वह हम पर किसी तरह भी विश्वास न करता। और यदि हम किसी को यह कह देते कि 'आप दूरसे दूर जिस भी देशसे समाचार, सङ्गीत, भाषण आदि सुनना चाहते हैं वह हम आपको अभी इस यन्त्र से सुनाये देते हैं, या, तार आदि किसी भी माध्यमकी सहायताके बिना हम देश विदेश में कहीं भी आप का संवाद भेज सकते हैं' तो वह हमारी बातको प्रलाप समझ कर उस पर कान भी न देता। इसी प्रकार यदि हम किसीसे यह कहते कि 'हम आप के शरीर के भीतरी अङ्गों का फोटो उतार कर आपके रोग का निश्चय कर आप की चिकित्सा कर सकते हैं' तो वह हमें पागल कह कर अपनी राह चल देता। किन्तु आज सम्पूर्ण सभ्य संसार चित्र-प्रेषणयन्त्र (Televisor), बेतार वार्ता (Wireless Telephony) तथा उस का अत्यन्त प्रचलित आधुनिक रूप ब्राडकास्टिंग, बेतार की तार (Wireless Telegraphy), अज्ञातरश्मिचित्रण (Radiography) और अज्ञातरश्मि-चिकित्सा (Radiotherapy) से भलीभान्ति परिचित है और ये वस्तुएं इतनी आम हो गई हैं कि अशिक्षित जनता से भी छिपी हुई नहीं हैं।

हमारा यह शरीर—सम्पूर्ण आधार—भी, आज हम इसे पहिचानें या न पहिचानें, एक पूर्णतया निर्दोष रेडियो यन्त्र है जिसे हमने लेख के शीर्षक में आध्यात्मिक रेडियो के नाम से पुकारा है। जिस प्रकार एक रेडियो यन्त्र से हम जिस स्टेशन को सुनना चाहें उसी की तरङ्ग-लम्बाई (wave-length) पर रेडियो यन्त्रको मिलाते हैं उसी प्रकार हम इस आध्यात्मिक रेडियो की सुईको भी जिस व्यष्टि की आत्मा, समष्टि की आत्मा या विश्व की आत्मा अथवा परात्पर परम-आत्माके साथ सम्बद्ध कर देंगे उसीके सन्देशों, समाचारों, विचारों और भावों से हम भरपूर हो जायेंगे। अपनी सुईको हम जब तक उधर ही लगाये रखेंगे तब तक हम उसी के साथ एक या तन्मय हुए रहेंगे। किसी महापुरुष या देव के साथ अपनी सुई या सुर मिलाये रखने से हम भी वैसे ही हो जायेंगे और किसी असुर के साथ मिला देने से हम असुर-सदृश हो जाने से बच नहीं सकते। विश्व-आत्मा या परमात्मा के साथ एकस्वर हो कर रहने से हम सदा उन्हीं के सङ्गीत व सङ्कल्प को सुनने वाले यन्त्र हो जायेंगे, तद्रूप, तदाकार और तन्मय हो जायेंगे। इस में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं दीखता कि हमारे प्राचीन ऋषिमुनियों की इस प्रकार की आध्यात्मिक बातों पर भले ही आज का प्रकृतिवादी संसार विश्वास न करे, जैसे कि कुछ वर्ष पूर्व प्रकृतिवादकी ही खोजोंको हास्यास्पद, अविश्वसनीय एवं असम्भव कहा जा सकता था किन्तु यह आध्यात्मिक सत्य भी उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक व्यापक रूप में सच्चा है जितना कि स्थूल भौतिक विज्ञान का सत्य। हमारा यह विश्वास है कि वह युग निकट है जब आम लोग इस सत्य को पहिचानेंगे और इसी के अनुसार अपने जीवन को सञ्चालित करेंगे।

परन्तु सब बात इस पर निर्भर करती है कि हम अपने आध्यात्मिक रेडियो की सुई को कहाँ लगाये रखते हैं।

—सुरेन्द्रनाथ

# सिद्धि

पहले रोज आज ही वर्षों की साधना के बाद उसे यह विचित्र बात होने लगी थी। उसे भान होने लगा था कि वह अपने अन्दर से बाहर निकल सकता है। शुरू में तो उसे भ्रम सा ही मालूम देता था। परन्तु फिर तो यह सचमुच ही होने लगा। वह अपने आसन पर बैठा, ध्यानावस्थित हुवा कि मानो धीमे धीमे एक शक्ति सी शायद कुछ पुष्प जैसे हलके शरीर सी बाहर निकल कर आकाश में खड़ी हो गई। उसे मालूम हुआ कि वह अब चाहे जहां जा सकता है, उसकी शक्ति उस समय की निस्वत जब कि वह सामने वाले शरीर में था बहुत अधिक है।

उसे इच्छा हुई कि चलो आकाश में ऊपर आनन्द की निर्मल वायु में घूमें—विचार मात्र से वह पृथ्वी से बहुत दूर था—उसे महसूस हुवा कि उसकी गमनशक्ति ही नहीं बल्कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की शक्ति भी अपार है।

इस जगह उसने देखा कि इस प्रकार सूक्ष्म-शरीरधारी ही नहीं बिनदेहीके देव भी इस अनन्त में अनन्त घूम रहे हैं। उनकी शक्ति के सामने उसकी शक्ति बहुत अल्प है। काफी घूमने के बाद उसकी इच्छा हुई कि वह उन में से किसीसे बातचीत करे। एक सूक्ष्मशरीरधारी से उसने कहा, मैं कहां हूँ? इस स्थानका क्या नाम है? आप सब कहां रहते हैं? उत्तर मिला—यह एक ऊंचा आनन्ददायक लोक

> है-इस से भी अधिक उच्च व आनन्द के एक के बाद और भी अनेक लोक हैं। इस स्थान का नाम..........लोक है।
>
> इस में से कुछ तो अभ्यास द्वारा "साधारण" शक्ति प्राप्त हुवे पुरुष हैं—कुछ यहां के निवासी तथा कुछ अन्य लोकों के दैवी व आसुरी शक्तिशाली पुरुष। तथा कुछ महान् शक्तिसम्पन्न ये बिनदेही के देव हैं जो कि जगत् के कल्याण के लिये विचरण कर रहे हैं।

आज वह वापिस लौट आया—अपने शरीर में प्रवेश करके वह आज की घटना को सोचने लगा—उसकी कुछ समझ में नहीं आया—

( २ )

दूसरे रोज वह पुनः उड़ा। आज उसकी इच्छा अपने एक दूरस्थ मित्र से मिलने की हुई—वह फौरन वहां था—मन की गति से भी तीव्र गति से गमन करने की उस की शक्ति थी—उसने वहां सब को अपने अपने काम में लगे देखा, मित्र महाशय कुछ लिख रहे थे।

वह वहां पहुँच गया परन्तु अपने आने का सन्देश नहीं दे सका, वह बोलता था परन्तु उसकी आवाज सुनने की शक्ति वहाँ वालों में न थी वह बहुत हैरान हुवा, उसे अचानक सूझा—उसने अपने मित्र की कलम को पकड़ कर लिखना शुरू किया।

"मैं सोमदत्त आया हूँ, तुम्हारे पास खड़ा हूं, तुमसे बोल रहा हूं, परन्तु तुम्हें सुनाई नहीं पड़ता।"

मित्र महाशय बड़े अचम्भे में पड़े, लिखना कुछ चाहते हैं लिखा कुछ जाता है—सोमदत्त आये हैं, खड़े हैं, दिखाई नहीं देते, बोल रहे हैं, सुनाई नहीं पड़ती, क्या मामला है, उन्हें ख्याल हुवा कि क्या सोमदत्त मर गया अवश्य वह भूत बन कर आया है, उन्हें जरा डर सा मालूम दिया, परन्तु हिम्मत करके बोले—तुम कब मर गये तुम्हें क्या हुवा था।

मैं मरा नहीं मैं तो जिन्दा हूं। अच्छा जा रहा हूँ।

मित्र महाशय का हाथ फिर पूर्ववत् हलका हो गया। उनकी कुछ समझ में न आया।

सोमदत्तको आज अपने शरीर में प्रवेश करने पर इस शक्ति पर बड़ी ग्लानि हुई, भला यह भी कोई शक्ति हुई कि चाहे जहां क्षणभर में चले जावो चाहे कुछ देखो सुनो, परन्तु गूंगे की तरह खड़े रहो।

( ३ )

तीसरे रोज उसे अपने मृत पिता के दर्शन की सूझी, उसने देखा कि वह अपने पिता के सामने है, यहां वह बोल सकता था और सुन भी, उसने कहा—पिता जी आप प्रसन्न तो हैं।

बहुत प्रसन्न, परन्तु, तुम्हारी असमय मृत्यु होकर यहां आने से दुःख है, लेकिन यह किसी के हाथ नहीं भगवान् जैसा जैसा चाहे वही होता है।

उसने कहा—मैं मरा नहीं मैं तो जिन्दा हूं। अपने अभ्यास द्वारा मुझे यह शक्ति प्राप्त हुई है कि मैं जहाँ चाहूं वहां ही जा सकता हूं।

उसने वह लोक देखा, अपने कितने ही मृत परिचितों से मिला और वापिस आ गया। आज फिर उसे अपने पर गर्व था, मैं चाहे जहाँ जा सकता हूँ, चाहे जो कर सकता हूँ, यहां बोलने सुनने की सामर्थ्य नहीं है तो क्या हुआ और तो सब लोकों में मुझे सब सामर्थ्य प्राप्त है।

( ४ )

चौथे रोज वह बहुत उत्साह के साथ चला, आज उसका अपना कोई प्रोग्राम न था।

उससे एक सूक्ष्मशरीरधारी ने कहा—आपका क्या नाम है? आप कहां रहते हैं?

सोमदत्त—मुझे सोमदत्त कहते हैं मैं पूना रहता हूं। आप?

—मैं हरिदत्त देहली रहता हूं।

सोमदत्त और हरिदत्त कई जगह भ्रमण करके वापिस आ गये, दोनों में साथ रहने से प्रेमभाव सा हो गया। हरिदत्त ने अपना शरीर दिखा कर कहा यह मैं हूँ। दोनों सोमदत्त के स्थान पर आये, हरिदत्त ने कहा आवो नया परीक्षण करके देखें, मैं इस में घुस जाता हूं और तुम उस में, क्या यह सम्भव है? सोमदत्त को भी यह विचित्रता देखने का कौतूहल हुआ और देखते देखते हरिदत्त सोमदत्त बन गया और फिर सोमदत्त जाकर हरिदत्त। परन्तु अब तो दोनों कोसों दूर हो गये, हरिदत्त पूना और सोमदत्त देहली।

सोमदत्त ने सोचा यह शक्ति ठीक नहीं, मैं यहां आ फँसा अब वहां कैसे जाऊं, रेल से पहुँचने में काफी समय लगेगा। यहां मुझे कोई नहीं जानता किस से खाना मांगू, क्या कह कर बोलूं। उसका मन बहुत बुरासा महसूस करने लगा, उसका जी घबरा गया, वह वापिस होने के लिये बैठा तो उसे मालूम हुआ कि इस शरीर से निकलना उतना आसान नहीं जितना अपने वाले से था, यह शरीर साधन द्वारा उतना सुन्दर यन्त्र नहीं बना है जिस में से कि आसानी से निकला जा सके।

सोमदत्त की जान आफत में पड़ गई, उसे बहुत भूख लगी थी। इधर उधर देखा आवाज दी, कोई नहीं बोला, सामान टटोला २ रुपये मिले, बाजार जाकर कुछ खाया।

वह आकर सोचने लगा वाह, अच्छा साधन किया, बिना बात के लेने के देने पड़ गये, भला यह भी कोई शक्ति हुई, जहां जावो वहीं मुर्दा समझा जाता है, ४ रोज में २ जगह तो मरा हुआ समझा गया, चौथे रोज आकर यहां कैद हो गया, बिना बात की आफत, मुझे ऐसी शक्ति नहीं चाहिये, बाज आया मैं ऐसी सिद्धि से, लेकिन इस में किसी को क्या दोष दूं, मैं भी तो नित्य शक्ति, सिद्धि व चमत्कार ही देखना चाहता था, साधनमें नित्य सिद्धि की ही तो इच्छा रहती थी 'अब खूब ले सिद्धि—देख चमत्कार—फंसा रह यहीं'।

वह रात उसे भारी हो गई, वह साधन में बैठा परन्तु निकलने की तरकीब न बनी।

( ५ )

उसी रोज उधर हरिदत्त ने सोमदत्त के शरीर

में प्रवेश करने पर सोचा बड़ी गड़बड़ हुई, अपने शरीरसे तो मैं एक सप्ताहके अभ्याससे बाहर निकल सकता था अब एक सप्ताह तक मैं यहाँ कैसे रहूँगा। —उसने फौरन बाहर निकलनेकी कोशिश की, उसे मालूम हुवा कि वह अभ्यास 'जिसके द्वारा वह अपने शरीरसे एक सप्ताह की मेहनत के बाद निकल सकता था, इस शरीर के अनुकूल नहीं। उससे इस शरीर पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। शायद उस साधन से वह इस शरीरसे कभी भी न निकल सके।

उसे अपनी ग़लती पर बड़ा पछतावा हुवा, हरिदत्त ने घर को देखा सोमदत्त की मेज पर कैश बॉक्स में उसे ३००) मिले। वह फौरन पहली गाड़ीसे देहली के लिये चल दिया, सोमदत्त को अपने से भी अधिक चिन्तित पाकर हरिदत्त ने कहा :—

"यह परीक्षण बहुत भयानक रहा, मैं तो यहां कैद हो गया"—सोमदत्त ने हरिदत्त को साथ बिठलाकर अपना साधन बतलाया परन्तु हरिदत्त उसे नहीं कर सका, उसका मन प्राण इस साधनाका अभ्यस्त न था, वह उसे बिलकुल न कर सका—

(६)

दूसरे ही रोज दोनों ने हरिदत्त के गुरु के पास जाने का निश्चय किया। सोमदत्त को रुपये की कमी न थी। उसने देश भर में घूम कर इस जञ्जाल से निकलने की कहीं से किसी महापुरुष की कृपा पानेकी ठानी—शुरू में वे हरिदत्त के गुरुजी के पास गये —हरिदत्त ने तमाम बातें सोमदत्त वाले शरीर से उन्हें बता कर कहा—"गुरुजी, ये मैं और मैं ये हूँ"—आप हम पर कृपा कर हमें ठीक कर दें।

उन्होंने कहा—तुम दोनों पागल हो गये हो—मैं शुरू से ही कहा करता था कि इस तरह योगसाधन करने पर अच्छा व पौष्टिक भोजन न मिलने पर दिमाग़ में गर्मी चढ़ जाती है, यही सब गड़बड़ है। जाकर शान्ति से बैठो वरना बिलकुल दिमाग़ खराब हो जायगा। हमारे गुरुजी कहा करते थे कि

"देखा देखी साधे जोग (योग)
छीजे काया बाढ़े रोग"

क्या पागलों की सी बातें करते हो—"ये मैं हूँ और मैं ये हैं"—कोई सुनेगा तो क्या कहेगा। तुम्हारा क्या ठीक करदूं—तुम्हें वहम है। —

दोनों लौट आये, बड़ी चिन्ता में पड़े कि क्या करें, किसी से कहें भी तो कैसे कहें, जबकि गुरुजी ने ही विश्वास नहीं किया तो और कोई कैसे करेगा। दोनों पूना आये। सोमदत्तने अपने गुरुजी से हरिदत्त वाले शरीर द्वारा तमाम बातें विस्तारपूर्वक कहीं—हरिदत्तके गुरुजी से जो बातें हुई थीं वे भी कहीं और अपने निस्तारेके लिये प्रार्थना की। गुरुजीने कहा—जैसा तुम्हारे साथ हुवा है यह सब साधन द्वारा होना सम्भव है तभी हुवा है। हरिदत्त के गुरु इस से अनभिज्ञ थे अतः उन्होंने इसे उपहास में टाल दिया। मनुष्य का जितना ज्ञान है वह उतने से ही बड़ी से बड़ी चीज को नापने की कोशिश करता है। तुम इस जंजालसे भागदौड़ करके निस्तारा न पा सकोगे, शान्ति से बैठकर साधना में लग जावो, यथासमय भगवत्कृपा प्राप्त होकर ठीक हो सकोगे। मुझे स्वयं इसका अनुभव नहीं है, यह वाचिक ज्ञान द्वारा ठीक नहीं किया जा सकता, इसके लिये अनुभवज्ञान की आवश्यकता है। अथवा कोई समर्थ महापुरुष यदि कृपा करे तो फिर क्षणभर में सब ठीक हो सकता है।

सोमदत्त और हरिदत्त वापिस आ गये, साधना करने की कोशिश की परन्तु चञ्चल मन के कारण साधन होता ही न था, आखिर पर्यटन की ठानी, जहां भी कोई महात्मा, योगी अथवा सिद्ध पुरुष है ऐसा मालूम हुआ वहां ही जा धमके, मगर सब जगह से निराश ही रहे।

(७)

शिवरात्रि के रोज सोमदत्त और हरिदत्त विश्वनाथ भगवान् के दर्शनार्थ काशी पहुंचे,—

भगवान् शङ्कर की शरण द्वारा अपने निस्तारे की आशा लगा कर वे यहां आये थे। अन्यथा उनकी आशा निराशा में परिणत होने लगी थी।

कृष्णशङ्कर बनारस में डाक्टरी करते थे। शुरू से ही उनकी योग की तरफ अभिरुचि थी, परन्तु साधन प्राप्त न होने के कारण वह काफी समय तक कुछ कर न सके, इसके बाद उन्हें 'पूर्णयोग' का प्रकाश मिला और शनैः शनैः उन्होंने अपना जीवन उस तरफ लगा दिया—सोमदत्त और हरिदत्त को भी मालूम हुआ कि डाक्टर साहब भी योगसाधना करते हैं। उन्होंने अपना हाल बतलाया। डाक्टर साहब ने उन्हें शाम को मेडीटेशन में बिठलाया।

सोमदत्त और हरिदत्त को ऐसा मालूम हुवा कि शायद हम आसानी से बाहर हो सकें।

डाक्टर साहब ने कहा कि आप दोनों भगवती जगत्जननी माँ की शरण जायें। आपने इसे खेल बनाया था अतः खेल देखा। योग तमाशा या खिलवाड़ की वस्तु नहीं। इससे तो मनुष्य अपना ही नहीं तमाम जगत् का कल्याण कर सकता है। आपका ध्येय था भगवान् की प्राप्ति व सत्यका दर्शन करना, आपने इसे बीच में ही छोड़कर खेल तमाशा व चमत्कार देखना बना लिया। मातृ-शक्ति के साथ खिलवाड़ करना खेल नहीं। तथा जो भी प्रकाश व शक्ति आये उस सब के चक्करमें पड़ जाना भी ठीक नहीं। इसी लिये तो गुरुदेव कहते हैं:—

"चीजों को देखना यह एक बात है पर उनको अपनेमें प्रवेश करने देना यह बिल्कुल दूसरी बात है। साधक को बहुत सी चीजों का अनुभव प्राप्त करना है, उन्हें देखना और उनका निरीक्षण करना है, उनको चेतना के क्षेत्र में लाना और यह जानना है कि ये क्या हैं। परन्तु इसका कोई कारण नहीं है कि तुम उन्हें अपने आप में प्रवेश करने दो और अपने ऊपर अधिकार जमाने दो। केवल भगवान् को ही अथवा जो कुछ उनके यहां से आता हो उसे ही तुम अपने आप में प्रवेश करने दे सकते हो।

"यह कहना कि सभी प्रकाश अच्छा है, वह यह कहने के बराबर है कि सभी जल अच्छा है—अथवा सभी निर्मल और स्वच्छ जल अच्छा है; परन्तु यह बात ठीक नहीं ठहरेगी। इससे पहले कि कोई यह कह सके कि यही सत्य प्रकाश है, उसको यह देखना होगा कि यह प्रकाश किस प्रकार का है, अथवा यह कहां से आ रहा है या इसके अन्दर क्या है। **मिथ्या प्रकाश होते हैं और भटका देने वाली चमक भी**, तथा सत्ता के हीनतर स्थानों से सम्बन्ध रखने वाले निम्न कोटि के प्रकाश भी हैं। इसलिये साधक को पूरी सावधानी रखनी चाहिये, और उपरोक्त भेदको समझना चाहिये, ऐसा सच्चा विवेक अन्तरात्मा की अनुभवशक्ति के विकसित होने से तथा पवित्र हुवे हुवे मन से और अनुभव से प्राप्त होगा।"

योग के आधार पृ. १२६-१३०

अब आपको भगवान् पर पूर्ण समर्पण करके भगवती शक्ति जगत्जननी माँ की शरण जाने मात्र से सब दुर्गम सुगम हो जायगा, आपको तो सिर्फ यही करना है जो कि गुरुदेव कहते हैं कि :—

"तुम्हें केवल अभीप्सा करनी है, माता के प्रति अपने आपको खोले रखना है, उनके सङ्कल्प के जो कुछ विरुद्ध है उसका त्याग करना और उन्हें अपने अन्दर कार्य करने देना है, साथ ही साथ तुम्हारा अपना समस्त काम भी उन्हीं के लिये होना चाहिये और इस श्रद्धा के साथ होना चाहिये कि वह काम तुम उन्हीं की शक्ति द्वारा करने में समर्थ हो रहे हो। यदि तुम इस तरह से अपने आपको खोलकर रख सको तो ज्ञान और साक्षात्कार तुम्हें यथासमय अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।"

योग के आधार पृ. ५६

सोमदत्त और हरिदत्त को बड़ी शान्ति मिली, वे वापिस आ गये, भगवत् समर्पण करके अपनी गल्ती पर पश्चात्ताप करके भगवान् के चरण में

सच्चे अनुराग के साथ साधना में लग गये। उन्हें ऐसा मालूम देने लगा मानो कोई शक्ति उन्हें सहायता दे रही है।

(८)

उस रोज उन्हें अचानक ऐसा लगा मानो कोई दैवी शक्ति उन्हें बाहर निकाल रही है और वे बाहर हो गये, उनके सामने वही 'बिनदेही के देव' थे।

उन्होंने कहा लोकों में गमन मन द्वारा ही हो जाता है शरीर छोड़ कर बाहर भटकने की जरूरत नहीं होती, परन्तु इस सबसे तुम को क्या मतलब कि तुम लोक परलोक में घूमते फिरो। तुम को तो यन्त्रवत् रहना है, मातृशक्ति तुम से जो काम लेना चाहती हैं वह लेने दो फिर उस काम के लिये जिस गुण की तुम्हें जरूरत होगी वह वे स्वयं देंगी। उनके शरण जाओ।

सोमदत्त और हरिदत्त अब अपने अपने शरीर में थे। उन्हें शान्ति और आनन्द था। अब वे भगवत्-मार्ग पर उनकी शरण लेकर परम सन्तुष्ट थे।

—मोहन स्वामी

—:o:—

# यूरोपीय युद्ध का अन्त

## सिंहावलोकन

दिन के अन्त में मनुष्य सारे दिन के विचारों और कर्मों को एक बार फिर मनके सामने लाता है। उनकी प्रेरक-वृत्तियों को योग्य-अयोग्य के रूप में जाँचता है। योग्य वृत्तियों को अधिक दृढ़ और व्यापक बनाने की अभीप्सा तथा चाहना करता है और अयोग्य वृत्तियों को गम्भीर आन्तरिक त्याग द्वारा छोड़ने का यत्न करता है। यह अपने आपको जाँचते रहने की भावना धीरे धीरे जिज्ञासु में सतत रहने लगती है और जैसे कोई विचार तथा कर्म गतिशील होते हैं साथ ही साथ उनकी जांच होती जाती है। मनुष्य की वह तटस्थ साक्षी-स्थिति अत्यन्त सुन्दर है। परन्तु यह स्थिति रजोगुण के प्रवाह में जब जब खण्डित हो जाती है तब तब पुनश्चिन्तन दोष को दूर करने में सहायक होता है। मनोवैज्ञानिक लोग दिन के कर्मों को सोने से पहले मन में दोहराना स्मरणशक्ति को उन्नत करने का उपाय बतलाते हैं परन्तु उस से अधिक वह जीवन मात्र को उन्नत करने का उपाय है। पर यदि किसी को सोने से पहले पुनश्चिन्तन से निद्रा में विघ्न पड़ता हो तो प्रातः उठते ही यह क्रिया की जा सकती है। वास्तव में यह पीछे लौटकर देखना जब अवकाश मिले किसी समय भी किया जा सकता है। यह मन को झाड़-फूंक कर साफ कर देने का साधन है, इसमें समय की बाधा कुछ नहीं। किसी विशेष अनुभवको पचाने तथा उस से पूरा उपयोग उठाने का भी यह साधन है। हम उस अनुभवका ध्यान करते हैं, उसे विचार में लाते हैं, ताकि उसके पूरे तथ्य को प्राप्त कर लें। वेदके 'कृतं स्मर' का सम्भवतः यही मार्मिक अर्थ है।

यूरोपीय युद्ध जो अभी २ मई को समाप्त हुआ निश्चय ही एक महान् विश्व-घटना थी। पिछले लगभग ६ वर्षों में हम प्रतिदिन ही युद्ध के समाचार जानते रहे। 'आज यह हुआ', 'अब यह हो गया' आदि वाक्य नित्य ही हमारे मुख पर रहते थे। परन्तु पता नहीं युद्ध समूचे पर भी हमने कभी विचार किया या नहीं। साधारणतया हम तत्क्षण की बात को देखते व अनुभव करते हैं। परन्तु सम्यक् ज्ञान के लिये हमें किसी घटना को भूत और भविष्य के व्यापक भावमें विचार करने की आवश्यकता होती है। फिर किसी घटना को ठीक देखने के लिये उससे थोड़ा हटकर भी देखने की जरूरत होती है। यदि हम

उससे लिप्त हैं तो हम उस के सम्बन्ध में शुद्ध और यथार्थ भाव बनाने में सफल नहीं हो पायेंगे।

यूरोपीय युद्ध को अभी भी हम ठीक तटस्थ भाव में नहीं जाँच सकेंगे। उसके लिये कुछ और समय बीतना चाहिये। परन्तु यह घटना इतनी बड़ी हुई है, इसने संसार को ऐसा औंधा सीधा किया है कि जैसे ही यह समाप्त हो हम इस पर बलात् विचार करने में प्रवृत्त होते हैं। यह युद्ध कैसे शुरू हुआ था? इस की क्या प्रगति रही? अब इसका अन्त कैसे हुआ तथा भविष्य के लिये इसके क्या परिणाम होंगे? कैसे हो सकता है कि मनुष्य, जब तक कि वह अपने खाने-पीने मात्र में ही सीमित न हो, इन प्रश्नों से प्रचालित न हो।

सितम्बर की पहली तारीख, सन् १६३६, के दिन जर्मनी ने एकदम पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। पोल बड़ी वीरता से लड़े परन्तु जर्मनी के सैन्यबल ने कुछ दिनों में ही पोलैण्ड को हथिया लिया। शीघ्र ही फ्रांस और इङ्गलैण्ड लड़ाई में आ गये। मई, '४० में डनकर्क की घटना हुई। अंग्रेजी और फ्रांसीसी फौज बड़ी कठिनाई से बचा कर वापिस इङ्गलैण्ड पहुँचाई जा सकी। उस के बाद शीघ्र ही फ्रांस की हार हो गई और २२ जून, '४० को मार्शल पैतें की प्रार्थना पर फ्रांस में लड़ाई बन्द हुई। अब इङ्गलैण्ड अकेला था। हिटलर ने तब पेरिस से अपने आप को योरुप का विजेता घोषित किया। तभी उसने यह कहा कि १५ अगस्त, '४० को वह लण्डन के बकिंघम पैलेस से अपना संवाद संसार को सुनायगा। वह समय था जब कि जर्मन सेना अपराजेय अनुभवकी जाती थी। इङ्गलैण्ड उस समय अकेला था। अंग्रेज आशङ्का कर रहे थे कि उन के देश पर आज आक्रमण हुआ अथवा कल। परन्तु वह किसी रूप में भी हिटलर के साथ सुलह करने को तैयार न थे। वह समय अंग्रेजी इतिहास में हमेशा के लिये अत्यन्त उज्ज्वल और प्रकाशमान रहेगा। वास्तवमें उस समय की दृढ़ता ने ही युद्धका परिणाम बदल दिया। २२ जून, १६४१ को हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया और युद्ध पश्चिम से पूर्व की ओर आ गया। हिटलर ने रूस को ६ सप्ताह में समाप्त कर देने की आशा की थी। परन्तु रूसी अमर बहादुरी से लड़े। सन् ४३ में स्टालिनग्राड में युद्ध का पासा पलट गया। रूसी बढ़ने लगे और जर्मन पीछे हटने लगे। बस यह गति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अन्त में गत २ मई को रूसियों ने बर्लिन को ही ले लिया। इधर पश्चिम में अमरीकन और अंग्रेजी फौज फ्रांस में उतर कर बढ़ते बढ़ते राइनको पार कर चुकी थी। जर्मनी ने पूर्ण समर्पण कर दिया। हिटलर कुछ दिन पहले मर चुका था। उस के कुछ साथियोंने आत्मघात कर लिया, कुछ पकड़े गये। इस प्रकार यूरोपीय युद्धका विकट नाटक समाप्त हुआ।

ये वास्तव में युद्ध की मोटी मोटी घटनायें हैं। इन के अलावा कितने राज बदले, कितने सिंहासन टूटे, इन का कुछ हिसाब ही नहीं है। मनुष्य राज-पाट धन-दौलत घर-बार आदि को स्थायी ध्येय मानता है। यह रोज़ रोज़ बदलते भी नहीं। युद्ध ने इन सब हमारे ध्येयों को खूब ही ठेस पहुँचाई है। हम क्या देखते हैं कि राजे जान बचा कर भाग रहे हैं। धनवान् रोटी के लिये मोहताज हो रहे हैं। कुटुम्ब खण्डित हो रहे हैं। कैसी उथल-पुथल, कितनी व्यापक उथल-पुथल! पूरा प्रलय का स्वरूप था। निश्चय ही यह भाव हमें अपने सामान्य मोहों में शिथिल करने वाला है। परन्तु जहां यह स्थिति वैराग्य पैदा करती है वहां यह भी देखने में आता है कि ठीक उसी भयङ्कर परिस्थिति में जहां कुछ भी सुरक्षित नहीं, मृत्यु हर घड़ी सिर पर नाच रही है, मनुष्य धन जोड़ने का विशेष सुयोग देख रहा है। वैचित्र्यमय जगत्!

युद्ध की उथलपुथल शायद हमारे अन्दर संसार की असारता के भाव जाग्रत करती है। परन्तु संसार

मात्र ही क्या असार है ? कहीं कुछ सारवस्तु भी है या नहीं ? क्या यह स्थिति उस सारवस्तु की खोज के लिये भी कुछ प्रेरणा देती है या नहीं ? सर यङ्ग हस्बैण्ड ( Sir Younghusband ) लण्डन की घोर बम्बवर्षा के दिनों गृहरक्षक के रूपमें सेवा करते थे। उन्होंने किसी प्रसङ्ग में कहा कि युद्ध में लोगों के मन अधिकाधिक परमात्मा की ओर मुड़ रहे हैं। स्वाभाविक भी है कि सांसारिक सत्ताओं को खण्डित होते देख मनुष्य किसी गम्भीरतर अखण्डनीय सत्ता को खोजे, क्योंकि मनुष्य अज्ञात रूप से सदा ही एक गम्भीर अटूट सहारे को ढूंढ़ता रहता है। अपनी सत्ता के आधार को पकड़ना चाहता है। जब इन्द्रियगोचर आधार जो वास्तव में अस्थिर हैं, खण्ड खण्ड होते हैं तो वह किसी गम्भीर आधारकी तलाश करता है। और उसी सच्चे आधार को पा कर ही वह स्वस्थ होता है।

हम साधारणतया रागद्वेष से प्रेरित होते हैं इसलिये हम अलिप्त भाव में किसी विषय के प्रति अपनी स्थिति ठीक नहीं बना पाते। अर्जुन युद्धक्षेत्र में आ मोहग्रस्त हो गया था। फिर भी उसके ये शब्द

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता:।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ गीता २-७

एक हद की तटस्थता को प्रकट करते हैं। यूरोपीय युद्धके सम्बन्धमें हम भारतवासी, यह स्वीकार करना होगा, निष्पक्षपात भाव से विचार करने में सहज ही सफल नहीं हो पाते थे। पं० जवाहरलाल ने सन् ४०-४१ में एक वक्तव्य में कहा था कि इस युद्ध में संसार की प्रगतिशील शक्तियां मित्रपक्ष की ओर हैं और गतिविरोधी शक्तियां जर्मनी और जापान की ओर। परन्तु युद्ध के सम्बन्ध में विचार करते हुए सामान्य रूप से हम कम ही अपनी सहानुभूति को संसारके हित वाले पक्ष में रख पाते थे। कारण, हमारे रागद्वेष। श्रीअरविन्द ने वास्तव में शुरू में ही जब कि युद्ध अपने विकट रूप में था और जर्मन सेना अपराजेय समझी जाती थी स्पष्ट कहा था कि हिटलर उत्कट अहङ्कारी असुर रूप है, वह निज बल और साम्राज्य के लिये युद्ध लड़ रहा है, इसमें मानव सभ्यता और अधिकारों को भारी खतरा है, उसका निश्चित नाश होना चाहिए। आज श्रीअरबिन्द के इन विचारों और माता जी की गत ४-५ नववर्ष की प्रार्थनाओं के अर्थ और सङ्केतों की सत्यता हम स्पष्ट देख सकते हैं। परन्तु उन दिनों जब कि वह विचार प्रकट किये गये थे अनेक लोग उन विचारोंको समझने में आपत्ति अनुभव करते थे। बेशक अब पिछले ही वर्ष अनेक बार लोग यह कहते सुने जाते रहे हैं कि श्रीअरविन्द की बात जो शुरू में ही कही गयी थी सच होती दीखती है। यह हिटलर असुर ही है, इसका जरूर नाश होगा।

उसी युद्ध की परिस्थिति में क्रिप्स प्रस्तावों पर भी श्रीअरविन्द ने अपने विचार प्रकट किये थे। वास्तव में राजनीति से योग में प्रवृत्त होने के लगभग ३० वर्ष बाद पहली बार राजनीतिक विषय पर उन्होंने कुछ कहा था। उन्होंने वह अवसर देश के लिये अत्यन्त महत्त्व का अनुभव किया था। इसी कारण अपने विशेष दूत के हाथ अपना सन्देश नेताओं के पास देहली भेजा था। जो हुआ, क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार न हुए। परन्तु आज अधिकाँश यह अनुभव करते हैं और आपस की बातचीत में इसे स्वीकार भी करते हैं, यद्यपि सार्वजनिक रूप से इसे कहने में बहुतों को आपत्ति है, कि क्रिप्स प्रस्तावों का अस्वीकार करना ठीक न था। अस्तु जो भी हुआ सन् ४२ का आन्दोलन दब जाने के बाद भारतीय राजनीतिक वायुमण्डल विशेष निराशापूर्ण हो गया था। अच्छे कई नेता आशङ्का करते थे कि अब अंग्रेज़ भारत पर तथा विशेष रूपसे हिन्दुओं पर पूरा बदला लेंगे। परन्तु श्रीअरविन्द को उस समय

भी निराशा न थी। भारत के उज्ज्वल भविष्य की उन्हें पूरी आशा थी। आज संसार की परिस्थितियों के बल से हमारे देश की परिस्थिति सुधर रही है और देश नई आशा को अनुभव कर रहा है।

क्रिप्स प्रस्ताव के समयमें श्रीअरविन्द के विचार के सम्बन्ध में कुछ लोगों में एक आश्चर्यजनक भाव देखने में आया था। वह यह कि श्रीअरविन्द अलग थलग रहते हैं उन्हें देश का क्या पता, उन्होंने क्रिप्स प्रस्तावों को स्वीकार करने की सम्मति क्यों दी? वास्तव में वे सज्जन उस समय भूल रहे थे कि किसी विषय में योग्य सम्मति बनाने के लिये मन, बुद्धि और अनुभव की शक्ति तथा तटस्थता विशेष साधन हैं। विषय में संलग्नता ही बहुत बार ठीक राय बनानेमें बाधा बन जाती है। जहाँ कार्यकर्त्ताओं को परिस्थिति का ज्ञान विशेष होता है वहाँ स्वतन्त्र व्यक्तिकी तटस्थता उसका विशेष बल होती है। भारत में तो ऋषि मुनि जो प्राय: एकान्तवासी होते थे सदा ही राजाओं को सब प्रकार के विषयों पर परामर्श देते रहे हैं।

भयङ्कर युद्ध समाप्त हुआ। पृथिवीका भार टला। हम निश्चिन्त प्रसन्न हैं। विजय सारे संसार का सौभाग्य है। आज सानफ्रांसिस्को में हुई नई विश्व-आयोजना पर भी हमारी दृष्टि जाती ही है। गत महायुद्ध के बाद की राष्ट्र-संघ (League of Nations) की आयोजना भी हमें याद आयगी ही। हम इस विचारशृङ्खला में शायद यह भी पूछना चाहेंगे कि आखिर यह यूरोपीय युद्ध हुआ ही क्यों था? यह प्रश्न बड़ा विकट है। आज के बहुतेरे अन्तर्राष्ट्रीय नेता इस प्रश्न पर सोचने का साहस नहीं रखते हैं। वास्तव में पिछले महायुद्ध के बाद की कुछ मौलिक भूलें ही इस युद्ध का कारण बनीं। यह प्रत्यक्ष ही है। यदि उस समय गम्भीरतर न्याय के आधार पर मानवसमाज सङ्गठित किया जाता तो यह विद्रोह और युद्ध न हो पाते। प्रेजिडेन्ट विलसन का स्वभाग्यनिर्णय (Self-determination) का सिद्धान्त बड़ा उत्तम था। परन्तु साधिकार राज्यों ने शोषित जातियोंको स्वराज्य देना नहीं चाहा। सौभाग्य से इस बार परिस्थिति अधिक अच्छी है। साधिकार राष्ट्र कुछ अधिक सुबुद्ध हैं अथवा परिस्थिति उन्हें सन्मार्ग के लिये बाधित कर रही है।

वास्तव में जैसे मानवशरीर में एक एक अङ्ग अपने अपने स्थान पर साधिकार है, साधिकार ही नहीं अपने स्थान पर अनिवार्य है। उसी प्रकार सारे संसार में हर जाति का स्थान है। हर अङ्ग समष्टिके साथ सहयोग करते हुए ही अपना हित सिद्ध कर सकता है। यदि एक अङ्ग दूसरे अङ्ग पर बलात्कार से अधिकार जमाना चाहे तो उसका परिणाम अनर्थ होगा। एक जाति बलात्कार से दूसरी कमज़ोर जाति को दबाकर कुछ दिन सामान्य सुखभोग उठा सकती है। परन्तु इतिहास बतलाता है कि ऐसी क्रिया की सदा प्रतिक्रिया हुआ करती है और दलित मौका पा अपना बदला लिया करते हैं।

हिन्दू धर्म एक सुन्दर समन्वय रूप है। आत्मदृष्टि ने प्राचीन आर्यों को सच्चा विशाल सत्य दिखलाया था। मानसिक मत-मतान्तरों की वह एक पाक्षिक सत्यता मानते थे जिससे वह उन्हें परस्पर विरोधी होते हुए भी आत्मसत्य में सार्थक अनुभव करते थे। हिन्दूधर्म के विशाल स्वरूप में अनेकों विश्वास और विचार, विरोधी तथा अनुकूल, किस आनन्दसे रहते हैं—वास्तव में वे हज़ारों वर्षोंसे रहते आये हैं। ठीक यथार्थ प्रजातन्त्रका भी यही स्वरूप है।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना वही सफल होगी जो हर जाति को अपने स्वभाव के अनुसार जीवन-विकास का अवसर दिला सकेगी। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि आज हम यह स्पष्ट अनुभव कर पावें कि हर जाति अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने की जहां इच्छुक हो वहां दूसरों की स्वाधीनता छीनने में भी वह अपना पतन समझे। परन्तु वह समय अभी दूर है, यद्यपि शायद हम उसी दिशा में जा रहे हैं।

# सामान्य चर्चा

एक सज्जन कई एक आश्रम और धार्मिक संस्थाओं तथा मठादि देखनेके बाद श्रीअरविन्दाश्रम पांडिचेरी पहुँचे और स्वभावतः उन सब की आपस में तुलना करने लगे। वास्तव में किसी विषय को समझने का तरीका भी यही होता है। उसी मनोवृत्तिमें वे बातचीतके लिये मुझसे मिले।

जहां जहां वे गये थे वहां वहां के उनके संस्कार सुनने में मुझे रुचि पैदा हो गई। उनका निरीक्षण बहुत अच्छा मालूम दिया था। मैंने उत्सुकता से उन से पूछा 'आप पहले अन्य स्थानों के अपने अनुभव सुनाइये ?'

उन्होंने कहा, सभी जगह अपने अपने नियम बने हुए हैं, कहीं कुछ, कहीं कुछ। जैसे, प्रातःकाल नियत समय उठना, फिर प्रार्थना के लिये एकत्रित होना। अथवा कहीं शाम को आरती करना। दिन में कहीं कुछ सेवा का नियम और प्रोग्राम है तो कहीं विशेष रूप से स्वाध्याय तथा पठन पाठन का। इस प्रकार हर जगह ही कुछ नियम होते हैं जो सभी को पालन करने होते हैं।

इतना कह कर उन्होंने कहा, 'मैं जानना चाहता हूं यहां के नियम क्या हैं ? किसी ने मुझ से कहा कि यहां कोई बंधे नियम नहीं हैं। भला यह कैसे हो सकता है ?' अपने आप ही अधिक विस्तार से वह इसी बात को कहने लगे। उन्होंने कहा, 'एक जगह उन्होंने रसनेन्द्रिय को वश करने के लिये विशेष प्रयत्न देखा। लोग कभी नमक छोड़ देते हैं तो लगातार कई कई महीने तक नहीं खाते। अथवा वह दही, साग, दाल रोटी को भी मिला कर खाते हैं जिससे भिन्न भिन्न पदार्थों के लिये स्वादका मोह न पैदा हो। अथवा उपवास करते हैं। अनपका भोजन पाते हैं। इत्यादि इत्यादि घोर पुरुषार्थ करते हैं। वास्तव में उनकी तपस्या पर आश्चर्य होता था, इसी प्रकार कहीं लोगों ने गरमी सरदी के लिये आश्चर्यजनक सहनशीलता प्राप्त की हुई है। फिर जिन्होंने निर्धनता का व्रत लिया हुआ है वह कितना थोड़ा सामान रखते हैं ? जो पहना हुआ है वही उनके वस्त्र हैं। बिस्तरा ? एक दरी या चटाई ! खाने का मासिक व्यय इतना कम कि किसी को विश्वास नहीं होगा। उन लोगों को आप कुछ भेंट रूपमें देना चाहें तो वह बड़े गर्वसे कहते 'हमें इसकी आवश्यकता नहीं, और आवश्यकता से अधिक रखना हम पाप समझते हैं'। स्वयं देने वाला लज्जित हो जाता।

वह सज्जन इन अनुभवों को सुनाते सुनाते आह्लादित हो रहे थे। वह भारत देश पर गर्वित हो रहे थे कि आज भी अध्यात्मप्रधान देश में सच्चे साधकों की कुछ कमी नहीं है।

यहां वे अपने वृत्तान्त के प्रवाह में ज़रा रुक कर मेरी ओर अभिमुख हुए और बोले, 'श्रीअरविन्दका बहुत नाम है, श्रीअरविन्द आश्रम बड़ा प्रसिद्ध योग आश्रम है, बतलाइये, यहां की जीवन-व्यवस्था कैसी है।'

मैंने कहा, 'यहां क्या नियम हैं यह तो मैं भी नहीं जानता। यहां आनेके बहुत दिनों बाद यह पता चला था कि आश्रम में सिगरेट नहीं पिया जाता। कोई पीने वाला हो तो उसे कह दिया जाता है कि आश्रम के मकानों में सिगरेट न पीजियेगा। दूसरे शराब, मांसादि का उपयोग नहीं किया जाता। वैसे सभ्य सदाचारी व्यवहार की आशा की जाती है जैसे सभी जगह होता है। इस के अतिरिक्त यहां विशेष नियम अथवा मर्यादा नहीं। वह सज्जन चौंके और बोले, 'बड़े आश्चर्य की बात है। बिना नियमों के

भला जीवन की उन्नति कैसे हो सकती है' ? मैंने कहा, 'यह तो अब आप देखिये। वास्तव में, बाह्य घोषित और निर्धारित नियम तथा मर्यादा चाहे कुछ भी हों, अन्त में जीवन अथवा मनुष्य की अन्तःप्रकृति और स्वभाव उन्नत होने चाहियें। मनुष्यप्रकृति के सामान्य काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अन्धावेगों के स्थान पर हृदय की सरलता और सचाई, सहज संयम और सामान्य समता और अलिप्तभाव पैदा होने चाहियें।'

वह सज्जन मेरे अन्तिम वाक्यों से कुछ सोच में पड़ गये। मानो उन्हें कुछ नई बात सूझ रही थी।

वह सोचते समझते से बोले, 'आपके ये शब्द अन्तःप्रकृति, हृदय की सरलता और सचाई, सहज संयम आदि मेरे अन्दर एक नई दृष्टि को पैदा करते हैं। मैं अपने अनुभवों में विशेष रूपसे बाह्य नियम, मर्यादाओं और व्यवहार का सङ्गठन ही देखने का यत्न करता रहा हूं। व्यक्तियोंके स्वभावके आन्तरिक गुणों का प्रकाश तो देखने का मैंने यत्न भी नहीं किया। मैंने वेष की सरलता देखी है और उसका मान किया है। स्वाद, खाद्य पदार्थों का त्याग देखा है और उसका आदर किया है। धन का त्याग देखा है और आश्चर्यान्वित हुआ हूँ। लोगों को इकट्ठे उठते बैठते, सन्ध्या ध्यान, भजन कीर्तन, हाथ का काम और सेवा आदि करते देखा है और आनन्द माना है।'

वह सज्जन निश्चय ही बाह्य व्यवहार और आन्तरिक अवस्था का भेद किसी अंश में पहले से अनुभव करते थे। मुझे उनके यह विचार सुन ज़रूर ही आश्चर्य हुआ और मैंने उनके विचारप्रवाह को शायद काटकर ही कहा, 'तो आपके लिये, वास्तव में, यहां की जीवनशैली को समझना और अनुभव करना कठिन नहीं हो सकता। देखिये, जैसे कोई यहाँ आता है—वह कुछ जिज्ञासुभाव में तो आता ही है—श्रीअरविन्द की पुस्तकों को पढ़ने लगता है अथवा यहां के वायुमण्डल में उठने बैठने लगता है। पहले वह बहिर्मुख भाव में दूसरों से पूछता है अब क्या करना और फिर इसके बाद क्या करना होगा। लोग उसे आश्रम जीवन में जो २-४ समय की स्थिर दैनिक चर्य्यायें हैं, वह बतला देते हैं, जैसे भोजन तीन समय तथा ध्यान का सायङ्काल का समय आदि। इनके अतिरिक्त जब वह पूछता है कि बाकी समय में क्या करना है तो साधक लोग साधारणतया यह बतलाते हैं कि शेष समय में आप अपनी इच्छा से जो चाहें करें। यह अवस्था उस में कुछ घबराहट पैदा करती है। वास्तव में वह चाहता यह होता है कि किसी अच्छी जगह के मानो लोग ही अथवा नियम ही उसे अच्छा बना दें, उसके जीवन में नियम ला दें तथा सदाचारी बना दें। घर में स्वाधीनता से रहते सहते तो वह देख चुका है कि वह स्वयं अपने जीवन को सुधारने, उसे प्रसन्न तथा उज्ज्वल बनाने में सफल नहीं हो पाया। यहां श्रीअरविन्दाश्रम की परिस्थिति जब उसी पर ही अपने दिन की व्यवस्था बनाने के लिये आग्रह करती है तो यह स्वाभाविक ही उसे अच्छा नहीं लगता। इसलिये काफी लोग इस आत्मनिर्भरता की स्थिति में पड़कर फड़फड़ाते हैं।

'परन्तु धीरज वाला जिज्ञासु कुछ समयमें जरूर ही लाभ उठाता है। कुछ पढ़ सुनकर आध्यात्मिक जीवन के आधारभूत सत्यों के लिये भावना पैदा करता है अथवा कभी सहज रूपसे उसकी आन्तरिक प्रेरणा उसे उसका जीवन-पथ दिखलाने लगती है। इसी में वह नये वायुमण्डल में अपनी स्थिति अनुभव करने लगता है। तब उसे अपनी साधना का क्रम दिखाई देने लगता है और वह जान जाता है कि वास्तव में जिस जिस समय में स्थूल कर्म जो जो भी हो उसे अपनी वृत्ति को हर समय ही कैसे हर प्रकारकी अशुद्ध भावनाओं का त्याग कर शुद्ध सम सजग समर्पण तथा प्रेमभाव

में स्थित रखना है। वह अपना ध्रुवतारा पहचानकर सदा उसी पर निशान रखने का यत्न करता है।'

मैं इस लम्बी व्याख्या को समाप्त करते हुए बोला, 'आप के मूल प्रश्न का उत्तर अब लगभग पूरा ही आ गया। रसनेन्द्रिय तथा अन्य लोभादि वृत्तियों के जीतने के लिये उनका आन्तरिक त्याग होना चाहिये। गीता का तो प्रधान आग्रह ही यही है कि कर्म और संसार का त्याग नहीं बल्कि वृत्ति का अन्दर से त्याग। श्रीकृष्ण ने कहा ही है कर्म का त्याग संन्यास नहीं। वह तो सम्भव भी नहीं। फलेच्छा का त्याग ही सच्चा संन्यास है।'

वह सज्जन बड़े गम्भीर भाव में रहने लगे। यहां की जीवन-दृष्टि बहुत भिन्न है। कोई व्यक्ति यहां आकर मानो धीरे धीरे अपनी स्थिति वह स्वयं पैदा करता है। वह अपनी अन्तःप्रेरणा को अनुभव करे और उसके अनुसार कर्म करना सीखे। बाह्य आदेशों और पाबन्दियों से काम करने की आदत छोड़े। फिर गम्भीर शङ्काभाव में उन्होंने पूछा, "परन्तु क्या नियम फिर होने ही नहीं चाहियें अथवा बाह्य मर्यादाएं सब बुरी हैं?"

मैंने उत्तर दिया, 'बिल्कुल भी नहीं। जो मौलिक सत्य हमें ग्रहण करने की आवश्यकता है वह यह है कि अन्त में हमें वृत्ति को शुद्ध करना है। हमें उसे ही अन्तर्मुख भाव में सदा देखना भालना चाहिये। बहिर्मुख भाव में केवल व्यवहार को बांधने का यत्न नहीं करना चाहिये। वास्तव में व्यवहार को बांधना-रोकना भी अनेक बार आवश्यक होता है, परन्तु उसके साथ यह भाव ज़रूर रहना चाहिये कि अन्त में हमें वृत्ति को शुद्ध करना है। जहां मनुष्य मन से दोष का रस लेता है और इन्द्रियों को रोकता है वहाँ निग्रह ( suppression ) होता है और उससे दोष दूर नहीं होता। अतः नियम और मर्यादाओं का सहारा मनुष्य बराबर ले सकता है। परन्तु धीरे धीरे वे सहारे हटते जाने चाहियें और जिज्ञासु सदा आत्मप्रेरणा से चलने के योग्य होता जाना चाहिये।

'श्रीअरविन्द का प्रयास उसी आत्म-भाव और प्रेरणा को पूर्ण रूप से विकसित करने का है। यहां आश्रम में बाह्य नियन्त्रण न होने के बराबर हैं। श्रीअरविन्द के अनुसार गुरु शिष्य की निजी प्रेरणा को दबायगा नहीं बल्कि उन्नत करेगा।

'अनेक प्रकार की बाह्य तपस्याओं आदि के प्रयास भी यहां आपको नहीं दिखाई देंगे। कारण यह कि यहाँ बल है वृत्ति की समता पर। बिना उद्विग्न तथा विचलित हुए हर प्रकार की परिस्थिति में सम ईश्वरीय अन्तःप्रेरणा से व्यवहार करना। आप जैसे यहां रहेंगे और साधकों के जीवन को अनुभव करने लगेंगे आप स्वयं उनके जीवन के बल को महसूस करेंगे।'

वे सज्जन बीच में ही यहाँ रोक कर कहने लगे 'मैंने साधकों को प्रसन्न और अपेक्षाकृत समभाव वाला तो इन दो चार दिनों में अनुभव किया भी है। परन्तु मेरे लिये एक और बड़ा प्रश्न पैदा हो जाता है। वह यह कि यहाँ कुछ जरूरी जप तप ध्यान करने को तो है नहीं। शाम के ध्यान में भी, मैंने सुना है, बन्धन नहीं, कोई आवे चाहे न आवे। फिर भी लोगों में आन्तरिक सौम्य-समभाव मौजूद है। यह कैसे विकसित होता है?'

मैंने कहा, 'यह आपका प्रश्न बहुत विकट है। इसके उत्तर में आश्रम की आधारभूत बात कहने की आवश्यकता है, परन्तु वह बुद्धिवाद से परे की चीज है। सामान्यतया हम यह कह सकते हैं कि यहाँ के वायुमण्डल का बल है जो व्यक्तियों को आन्तरिक विकास में इस हद तक सहायक होता है। यह काफी सामान्य अनुभव है कि लोग यहां रहकर, यहां के वायुमण्डल में रमते हुए, अपनी वृत्तियों में अपूर्व सरलता महसूस करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी जिज्ञासा और प्रेरणा के अनुसार कोई इस

सरलता को अधिक अनुभव करता है कोई कम।'

अन्त में मैंने श्रीअरविन्द के 'योग के आधार' में से बातचीत के विषय से सङ्गत कुछ प्रकरण बतलाये और कहा कि उन से उन्हें आश्रम के सम्बन्ध की धारणा बनाने में सहायता मिलेगी। परन्तु सब से अधिक सहायता, मैंने कहा, उन्हें मिलेगी अपने अन्दरकी गम्भीर अभीप्सासे, जिज्ञासा से—'कि उपस्थित विषय तथा प्रश्न मुझे स्पष्ट हो जावें'। परन्तु यह जिज्ञासा यथासम्भव शुद्ध शान्त और स्थिर होनी चाहिये। इस आन्तरिक प्रश्न का उत्तर जब अपने अन्दर से ही प्राप्त होगा तो उस में सन्देह की गुञ्जाइश न होगी।

—इन्द्रसे

श्री हरिवंश प्रसाद उपाध्याय
पढ़ा
23 August 1913
वि. सं. १९७० भाद्र शुक्ल ३ बुधवार

## लेखक-परिचय

**स्वामी निखिलानन्द—**

आप अमेरिका में रामकृष्ण मिशन के एक संन्यासी हैं। आपका जो लेख 'एकान्तसेवी योगी श्रीअरविन्द' इस अङ्क में छपा है वह अंग्रेज़ी में 'एशिया' नामक पत्रिका में छपा था और फिर 'एशियाटिक डाइजेस्ट' में उद्धृत हुआ था। उसी का भावानुवाद यह लेख है।

**स्वामी ब्रह्मानन्द—**

बी० ए० हो कर और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में कुछ काल सेवा करके तीव्र वैराग्य होने पर आप संन्यासी हो गये। आप युक्त-प्रान्त के कुमायुं प्रदेश के पहाड़ के रहने वाले हैं। आप बड़े सज्जन, प्रेमल, प्रभुपरायण भक्त हैं। आपकी कुछ पंक्तियां 'मेरे स्वामी!' करके इस अङ्क में छपी हैं। आप दो बार श्रीअरविन्दाश्रम में दर्शन कर चुके हैं और वहीं रहने के इच्छुक हैं।

**श्री चारुचन्द्र दत्त—**

रिटायर्ड आई. सी. एस., जब श्रीअरविन्द इङ्गलैण्ड में आई. सी. एस. की तैयारीके लिये रहते थे तब के उनके सहपाठी साथी। फ्रेंच और अंग्रेज़ी भाषा के आप माहिर हैं, विद्वान्, गम्भीर विचारशील, निष्ठावान् महानुभाव हैं। कलकत्ते में या बङ्गाल में जो श्रीअरविन्द पाठमन्दिर नाम की संस्था है, जिस के कि द्वारा बङ्गाल में 'वर्त्तिका' नाम की त्रैमासिक पत्रिका निकलती है तथा अंग्रेज़ी में एक वार्षिक अङ्क निकलता है एवं श्रीअरविन्द की योग सम्बन्धी अन्य प्रवृत्तियां होती हैं, उस संस्था के वास्तव में आप ही प्राण या आत्मा हैं। यद्यपि आपका शरीर वृद्ध है तो भी आप के विचारों और क्रियाशीलता में बुढ़ापे का कोई लक्षण नहीं है। श्रीअरविन्दाश्रम पांडिचेरी से सम्बन्ध रखने वाले शायद ही कोई व्यक्ति उनसे अपरिचित हों।

**श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर—**

नई दिल्ली के एक प्रमुख व्यापारी और एस० एन० सण्डरसन कम्पनी के आप मालिक हैं। अपने परिश्रम, बुद्धि, प्रतिभा और कुशलता के कारण आप ग़रीबी की अवस्था से इस समृद्धि की अवस्था को पहुंचे हैं। आप ५, ६ वर्षों से श्रीअरविन्द की तरफ विशेषतया आकृष्ट हो चुके हैं। यहां तक कि देहली में श्रीअरविन्द निकेतन की तरफ से जो कुछ भी प्रवृत्तियां शुरू हुई हैं उनके आप एक प्रवर्तक हैं और उनको सब आवश्यक आर्थिक पोषण आप की ही प्रेममय सहायता द्वारा प्राप्त होता है। आपकी निर्भीकता, विचारशीलता, देशप्रेम और सौजन्यके गुण इतने स्पष्ट हैं कि आप से मिलने वाले किसी भी व्यक्ति पर उनकी छाप पड़े बिना नहीं रहती। आप अपनी कम्पनी को भी यथासम्भव आध्यात्मिकता की ओर ले जाने की अभीप्सा रखते हैं।

श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर द्वारा अदिति मुद्रणालय देहली में मुद्रित तथा प्रकाशित ।

वर्ष ३ अङ्क ४ नवम्बर १९४५

# अदिति

श्रीअरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित

त्रैमासिक पत्रिका

अनागसो अदितये स्याम

**अनागसो अदितये स्याम**

दिव्य ज्ञान में, दिव्य कर्म में,
दिव्य छन्द अनुरूप बनें ।
पूर्ण अखण्डित, अदिति मात हे !
तेरे हित निष्पाप बनें ॥

अनागसो अदितये स्याम

'May we be sinless and faultless in the presence of Aditi' — *Sri Aurobindo*

# अदिति

बारहवीं कला

नूतन वर्ष सन् १९४६ के उपलक्ष में


सम्पादक—

डा० इन्द्रसेन एम० ए०, पीएच० डी०



प्रकाशक—

एस० एन० संडर्सन एण्ड को०

एक अङ्क १)

वर्ष भर के चारों अङ्क ४)

श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस

नई देहली।

# विषय-सूची


| | | | |
|---|---|---|---|
| **मातृवचनामृत —** | | | |
| १. नये वर्ष की प्रार्थना | .... | .... | ५ |
| २. १६ अगस्त, १९४५ की प्रार्थना | .... | .... | ६ |
| **श्रीअरविन्द-वाणी —** | | | |
| १. वास्तविक एकता का आधार .. | .... | .... | ७ |
| २. पूर्णता का आदर्श | .... | .... | ८ |
| ३. वैदिक सूक्त-सुधा | | | |
| (९) बृहस्पति, आत्मा की शक्ति | .... | .... | ९ |
| ४. कर्मयोगी | | | |
| (८) तीन पुरुष | .... | .... | १९ |
| ५. श्रीअरविन्द के पत्र | | | |
| भगवान् के प्रति प्रेम.... | .... | .... | २५ |
| ६. अगोचर शक्ति | .... | .... | २९ |
| माधव से (कविता) | .... | श्री जगन्नाथ प्रसाद | .... ३९ |
| पूर्णयोग — | | | |
| (६) कर्मयोग | .... | श्री नलिनीकान्त गुप्त | .... ४० |
| मानवसमाज का यथार्थ लक्ष्य | .... | श्री चारुचन्द्र दत्त | .... ४३ |
| आज नूतन जन्म हो | .... | श्री विद्याव्रत | .... ५१ |
| ओ आगामी (कविता) | .... | .... | .... ५२ |
| सामान्य चर्चा— | | | |
| जिज्ञासुओं की सेवामें | .... | श्री अभयदेव | .... ५३ |
| अपने विषय में | .... | डा. इन्द्रसेन | .... ५६ |
| पुस्तक-परिचय | .... | ,, | .... ५९ |
| लेखक-परिचय | .... | ,, | .... ६० |

मातृवचनामृत—

# नये वर्ष की प्रार्थना

## 1946

Lord, it is Thy Peace we would have and not a vain simulacrum of peace, Thy Freedom and not a simulacrum of freedom, Thy Unity and not a simulacrum of unity. For it is only Thy Peace, Thy Freedom and Thy Unity that can triumph over the blind violence and the hypocrisy and falsehood that still reign upon earth.

Grant that those who so valiantly struggled and suffered for Thy Victory, may see the true and genuine results of that victory realised in the world.

—The Mother

## १९४६

हे प्रभो ! हमें तेरी ही शान्ति चाहिये न कि झूठी स्वांग-रूप शान्ति ; तेरी ही स्वतंत्रता चाहिये न कि झूठी स्वांग-रूप स्वतंत्रता ; तेरी ही एकता चाहिये न कि झूठी स्वांग-रूप एकता । वास्तव में केवल तेरी शान्ति, तेरी स्वतंत्रता, तेरी एकता ही अन्धे उग्र-बल, ढोंग तथा असत्य पर–जिन का सिक्का अभी पृथ्वी पर जमा हुआ है–सफल हो सकती है ।

प्रभु ! ऐसी कृपा कर कि जिन्होंने तेरी विजय के लिये इतने साहस से युद्ध किया है और कष्ट उठाये हैं वे इस विजय के शुद्ध तथा सच्चे परिणामों को जगत् में चरितार्थ होते देख पायें ।

—श्री माताजी

# August 16, 1945

The Victory has come, Thy Victory O Lord, for which we render to Thee infinite thanksgiving.

But now our ardent prayer rises towards Thee. It is with Thy force and by Thy force that the victors have conquered. Grant that they do not forget it in their success and that they keep the promises which they have made to Thee in the hours of danger and anguish. They have taken Thy name to make war, may they not forget Thy grace when they have to make the peace.

— The Mother

## १६ अगस्त, १९४५

हो गयी विजय, तेरी विजय, हे प्रभु, जिस के लिये हम तुझें अपनी अनन्त हार्दिक कृतज्ञता निवेदन कर रहे हैं।

परन्तु अब हमारी तीव्र प्रार्थना तेरी ओर उठ रही है। वास्तव में तेरी ही शक्ति से, तेरी ही शक्ति के द्वारा विजेताओं ने विजय पायी है। ऐसी कृपा कर कि वे अपनी सफलता की अवस्था में इस बात को भूल न जायें और उन्होंने दुःख, कष्ट तथा संकट के समय में तेरे सामने जो प्रतिज्ञायें की हैं उन का वे पालन करें। उन्होंने युद्ध करने के लिये तेरे नाम की दुहाई दी थी, अब वे शान्ति स्थापित करते समय तेरी कृपा को भूल न जायें।

— श्री माताजी

(गत १६ अगस्त को नित्य की तरह आश्रम का विस्तृत आंगन दैनिक ध्यान के लिये उपस्थित साधक-साधिकाओं से भरा हुआ था। अचानक श्री माताजी का ओजस्वी स्वर सुनाई देने लगा। माता जी विजय के लिये प्रभुको कृतज्ञता अर्पण कर रही थीं। आश्रम के मौन इतिहास में वह स्थिति विशेष महत्त्व की द्योतक थी। और सब ने वहां बैठे हुए एक बार फिर बड़ी गम्भीरता से अनुभव किया कि गत युद्ध कितना भयङ्कर था, उस में मानव-भविष्य किस आशङ्का में पड़ गया था और कल्याणकारी शक्तिओंकी विजयके लिये हमें प्रभुके प्रति कितना कृतज्ञ होना चाहिये। सं.)

श्रीअरविन्दवाणी—

## वास्तविक एकता का आधार

'अहं' (अहंकारमयी 'मैं') आत्मतत्त्व का सच्चा स्वरूप नहीं है; पारस्परिक सम्बन्ध का नियम (the law of mutuality), जो प्रत्येक अवसर पर आकर इस से मिलता है और जिस का यह दुरुपयोग करता है, इस सत्य से उदित होता है कि हमारे आत्म-तत्त्व और दूसरों के आत्मतत्त्व के बीच तथा हमारे अपने जीवन और दूसरों के जीवनों के बीच एक प्रच्छन्न 'एकता' है, हमारे स्वभाग्यनिर्णय के नियम (the law of self-determination) को दूसरों के स्वभाग्यनिर्णय के साथ अपना गठबन्धन करना और इस परस्परभाव के द्वारा वास्तविक एकता को संपादित करने का मार्ग निकालना है। परन्तु उस का आधार केवल अन्दर ही पाया जा सकता है न कि किसी यान्त्रिक व्यवस्था-स्थापन द्वारा। अपने आत्मविस्तार तथा आत्मपरिपूर्णता के मार्ग में व्यक्ति द्वारा अपने भीतर की गई खोज में ही वह आधार मिलता है, जिस से पता चलता है कि यह विस्तार और परिपूर्णता प्रत्येक अवसर पर हमारे चारों ओर के व्यक्तियों के आत्म-विस्तार तथा आत्म-परिपूर्णता पर आश्रित हैं, क्योंकि निगूढ़ रूप से हमारी सत्ता और उन की सत्ता एक ही है और हमारा तथा उनका जीवन भी एक ही है। दार्शनिक भाषा में, वह आधार है सब में उस एक आत्मा का बोध प्राप्त कर लेना जो प्रत्येक में अपने आप को विविधतया पूर्ण करता है; वह है प्रत्येक में विद्यमान दिव्य सत्ता के नियम को उपलब्ध कर लेना जो सत्ता कि सब में विद्यमान दिव्य सत्ता के नियम के साथ अपने आप को एकीभूत करती है। एकदम समस्या का समाधान बाहर से भीतर की ओर चला जाता है, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रत्यक्ष बाह्य स्वरूपों से आध्यात्मिक जीवन और सत्य की ओर जा पहुंचता है। और वह जीवन और सत्य ही उस समस्या का हल कर सकते हैं।

वार एण्ड सेल्फ डिटरमिनेशन, ५१-५२

## पूर्णता का आदर्श

वैयक्तिक और सामाजिक पूर्णता की शर्तें निःसन्देह समान ही हैं, स्वतन्त्रता और एकता; ये दोनों ही परस्परपूरक हैं और एक को छोड़कर दूसरी का अनुसरण करना मिथ्या धारणा है। परन्तु वास्तविक एकता मानवजाति को तब तक उपलब्ध नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य अपनी अहङ्कारमयी प्रकृति को लांघ कर मनुष्यमात्र के साथ हृदय और आत्मा में एक न हो जाय, और वास्तविक स्वतन्त्रता भी तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह अपनी निम्नतर प्रकृति से मुक्त न हो जाय और ऋषि-मुनियों द्वारा अब तक निष्फलप्राय रूप में प्रतिपादित इस सत्य की शक्ति को अनुभव न कर ले कि उसकी कृतार्थ व्यष्टि-सत्ता की परिपूर्णता उस विश्वमयता के साथ एक ही है जिस विश्वमयता द्वारा कि वह सारी मनुष्यजाति को अपने हृदय, मन और आत्मा में आलिङ्गन कर सकता है। परन्तु इस समय व्यक्ति और राष्ट्र, एक समान ही, एकता के किसी ऐसे आन्तरिक मन्त्र को स्वीकार करने से बहुत दूर हैं और हम अधिक से अधिक केवल यही आशा कर सकते हैं कि सद्भावनाएं उन के मनों को उत्तरोत्तर उस दिशा में ले जायेंगी और मानवीय अभीप्सा के उच्चतर आदर्शमान को हर वार नवीनतर और स्पष्ट-तर निश्चयात्मक स्थिति के साथ जन्म देंगी। तब तक कलह-करते-हुए राष्ट्रसङ्घों तथा मानवजाति के अन्य किसी यान्त्रिक व नैतिकताविहीन सङ्घ को, पूर्वाभ्यास कराने तथा सुदूरवर्ती आशा बंधाने का हमारा प्रयोजन पूरा करना ही चाहिये। परन्तु सच्चे समष्टि-जीवन के स्वर्णयुग का स्वप्न केवल तभी सत्य सिद्ध हो सकता है और स्वतन्त्रता तथा एकता के आध्यात्मिक व वास्तविक शासन पर प्रतिष्ठित हो सकता है जब कि मनुष्य-जाति अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करना सीख जाय और आगे के लिये ये सङ्घ आदि नहीं, बल्कि ईश्वर की प्रजारूप मनुष्यजाति और भगवान् की आत्मा तथा शरीर हमारी पूर्णता का आदर्श बन जांय।

वार एण्ड सेल्फ डिटरमिनेशन, ११०-१११

# वैदिक सूक्त-सुधा

(९)

## बृहस्पति, आत्मा की शक्ति

ऋग्वेद ४.५०

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्
बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः
पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥१॥

(यः बृहस्पतिः) जिस बृहस्पति ने (त्रिषधस्थः) हमारी परिपूर्णता के त्रिविध लोक में स्थित होकर (रवेण) आवाज द्वारा (सहसा) अपनी शक्ति से (ज्मः अन्तान्) पृथिवी के अन्तों को (वि तस्तम्भ) थाम दिया है (तम्) उस पर (प्रत्नासः ऋषयः) प्राचीन ऋषियों ने (दीध्यानाः) ध्यान लगाया था और (विप्राः) प्रकाशपूर्ण होकर (मन्द्रजिह्वम्) आनन्दमयी जिह्वा वाले उस को (पुरः दधिरे) उन्होंने अपने आगे निहित किया था ॥१॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो
बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं
बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥२॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! (धुनेतयः) अपनी गति की अन्तःप्रेरणा के कम्पनों से कम्पित होते हुए (सुप्रकेतं मदन्तः) पूर्णताप्राप्त चेतना में आनन्द लेते हुए (ये) जिन्होंने अर्थात् उन ऋषियों ने (पृषन्तम्) प्रचुर (सृप्रम्) तीव्र (अदब्धम्) अजय्य (ऊर्वं) विशाल (योनिम्) उस लोक को जिस में से कि यह सत्ता पैदा हुई थी (नः अभि ततस्रे) हमारे लिये बुन दिया है । (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! (अस्य रक्षतात्) उसकी तू रक्षा कर ॥२॥

बृहस्पते या परमा परावदत
आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः ।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा
मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥३॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! (या परमा परावत्) जो सर्वोच्च परम सत्ता है उसे (अतः) यहां से, इस लोक से (ते ऋतस्पृशः) वे जो सत्यस्पर्शी हैं (आ) प्राप्त करते हैं और (निषेदुः) उस में निषण्ण हो जाते हैं । (तुभ्यं अवताः खाताः) तेरे लिये [शहदके] कुएं खुदे हुए हैं (अद्रि-दुग्धाः) जो इस पहाड़ी में से रिस रहे हैं, और (मध्वः) उन के मधुर रस (अभितः विरप्शं श्चोतन्ति) निकल कर चारों तरफ उमड़-उमड़ कर बह रहे हैं ॥३॥

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो
महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण
वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥४॥

(बृहस्पतिः) बृहस्पति (महो ज्योतिषः) विपुल ज्योति में से, (परमे व्योमन्) सर्वोच्च द्यौ लोक में, (प्रथमं जायमानः) सर्वप्रथम प्रादुर्भूत होता हुआ, (सप्तास्यः) जो सात मुखों वाला है (सप्तरश्मिः) सात किरणों वाला है (तुविजातः) बहुत से जन्मों वाला है, (रवेण) अपनी आवाज से (तमांसि) उन अन्धकारों को जो हमें घेरे हुए हैं (वि अधमत्) पूर्णतया दूर कर देता है ॥४॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन
वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः
कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥५॥

(सः) उस बृहस्पति ने (सुष्टुभा गणेन) स्तुति करने वाले स्वरताल के गण से, (ऋक्वता गणेन) प्रकाशमान गीतों के गण से (रवेण) आवाज के साथ (वलं फलिगं रुरोज) 'वल' के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। (बृहस्पतिः हव्यसूदः उस्रियाः उदाजत्) बृहस्पति उन प्रकाशवती [गौओं] को जो कि हमारी हवियों को प्रेरणा देती हैं ऊपर हांक ले जाता है, (कनिक्रदत्) जब वह उन को ले जा रहा होता है तब वह जोर से गर्जता है, (वावशतीः) उन गौओं को जो रंभा कर उस का प्रत्युत्तर देती हैं ॥५॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे
यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

(एव) इस प्रकार (पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे) उस पिता, सार्वभौम देव, वृषा [वृषभ] के लिये, (यज्ञैः नमसा हविर्भिः) यज्ञों से, नमन से, हवियों से (विधेम) आओ, हम समर्पण करें। (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! (वीरवन्तः) वीरता से अनुप्राणित, और (सुप्रजाः) सन्ततियों से समृद्ध होते हुए (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम आनन्दों के अधिपति हो जावें ॥६॥

स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा
शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण ।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति
वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम् ॥७॥

(स इद् राजा) निश्चय ही वह राजा है (शुष्मेण वीर्येण) अपनी शक्ति से, अपनी वीरता से (विश्वा प्रतिजन्यानि अभितस्थौ) लोकों के अन्दर जो भी मुकाबिला करने वाले हैं उन सब को परास्त कर देता है, (यः बृहस्पतिं सुभृतं बिभर्ति) जो बृहस्पति को अपने अन्दर सुभृत रूप में धारण कर लेता है और (वल्गूयति) आनन्द में नाचने लगता है (वन्दते पूर्वभाजम्) और अपने आनन्दोपभोग के प्रथम फलों को उसे अर्पित करता हुआ उस की वन्दना करता है ॥७॥

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे
तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम् ।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते
यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ॥८॥

हां, (स इत् सुधितः) वह सुस्थित होकर (स्वे ओकसि क्षेति) अपने निजी घर में निवास करता है (तस्मै इळा विश्वदानीं पिन्वते) उस के लिये इडा हर समय वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। (तस्मै विशः स्वयमेव नमन्ते) उस के प्रति सब प्रजायें स्वयमेव नत हो जाती हैं (यस्मिन्

राजनि) जो राजा है और जिस के अन्दर (ब्रह्मा) आत्मा की शक्ति (पूर्वः एति) आगे आगे चलती है ॥८॥

अप्रतीतो जयति सं धनानि
प्रतिजन्यान्युत या सजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति
ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥९॥

(अप्रतीतः) वह अनाक्रान्त रहता है (धनानि संजयति) सब धनों को पूर्णतया जीत लेता है जो कि (प्रतिजन्यानि) उन लोकों के हैं जो उस के सम्मुख होते हैं (उत या सजन्या) और जो उस लोक के हैं जिस में वह रहता है; (अवस्यवे ब्रह्मणे) अपनी अभिव्यक्ति को चाहने वाली आत्म-शक्ति के लिये (यः वरिवः कृणोति) जो अपने अन्दर सर्वोच्च भद्र को रचता है (तम् देवाः अवन्ति) उस की देव पालना करते हैं ॥९॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते-
ऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू ।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवो-
ऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥१०॥

(बृहस्पते इन्द्रश्च) हे बृहस्पति ! तू और इन्द्र (सोमं पिबतम्) सोमरस को पिओ, (अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना) इस यज्ञ में आनन्द लेते हुए, (वृषण्वसू) ऐश्वर्य को बरसाते हुए । (इन्दवः वां आविशन्तु) इस सोमरस के आनन्द की शक्तियां तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट हों, और वे (स्वाभुवः) अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हों, (अस्मे सर्ववीरं रयिं नियच्छतम्) हमारे अन्दर उस आनन्द को जो सब प्रकार की शक्ति से परिपूर्ण है, नियन्त्रित कर दो ॥१०॥

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः
सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे ।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधी-
र्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः ॥११॥

(बृहस्पते इन्द्र) हे बृहस्पति ! हे इन्द्र ! (वर्धतं नः सचा) तुम दोनों एक साथ हमारे अन्दर वृद्धिको प्राप्त होवो (सा वां सुमतिः) वह तुम दोनों की सुमति—मन की परिपूर्णता (अस्मे भूतु) हमारे अन्दर विरचित हो जाय; (धियः अविष्टम्) विचारों की पालना करो (पुरन्धीः जिगृतम्) मन की बहुविध शक्तियों को प्रकट कर दो; (अरातीः) सब दरिद्रताओं को (अर्यः वनुषाम्) जो कि उन द्वारा लाई जाती हैं जो आर्यों को जीत कर अपने वश में कर लेना चाहते हैं (जजस्तम्) विनष्ट कर दो ॥११॥

## भाष्य

बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्मा ये तीन नाम उस देव के हैं जिसे सम्बोधित करके ऋषि वामदेव ने यह रहस्यमय स्तुति-गीत गाया है । बाद की पौराणिक देववंशावली में बृहस्पति और ब्रह्मा अलग-अलग देवता हो गये हैं । ब्रह्मा है स्रष्टा, जो कि उन तीन देवों में से एक है जो मिल कर पौराणिक देवत्रयी को बनाते हैं; बृहस्पति वहां कोई बहुत महत्त्व का देवता नहीं रह गया है, वह देवों का आचार्य है और प्रसंगतः बृहस्पति नामक ग्रह का संरक्षक है; ब्रह्मणस्पति जो कि बृहस्पति और ब्रह्मा दोनों को जोड़ने वाली बीच की कड़ी था, विलुप्त ही हो गया

है। इन वैदिक देवों के स्वरूप का पुनरुद्धार करने के लिये हमें फिर से उस शृङ्खला को जोड़ना होगा जो कि टूट चुकी है और इन दोनों नामों के परस्पर वियोजित हो जाने से गलत हुए मूल्यों को मूलभूत वैदिक विचार के प्रकाश में ठीक करना होगा।

'ब्रह्मन्' वेद में सामान्यतः वैदिक शब्द या मन्त्र का वाची है—वैदिक शब्द गम्भीरतम अर्थ में, अर्थात् आत्मा की या सत्ता की गहराइयों के अन्दर से उठता हुआ अन्तः-प्रेरणा का शब्द। यह एक तालबद्ध शब्द ही है जिस ने लोकों को सृजा है और सदैव सृजन कर रहा है। सारा जगत् एक प्रकाशन है या अभिव्यञ्जन है, सृजन है जो शब्द द्वारा किया गया है। सचेतन सत्ता जब अपने अन्दर की, अपने आप की, त्मना, वस्तुओं को उज्ज्वल रूप में व्यक्त कर देती है तब वह पराचेतन (Superconscient) होती है; जब वस्तुओं को धुँधले रूप में अपने अन्दर छिपाये रखती है तब अवचेतन (Subconscient) होती है। जो उच्चतर है, स्वतःप्रकाशमान है, वह अस्पष्टता में, रात्रि में, अन्धकार से ढके अन्धकार, तमः तमसा गूढम्, में उतरता है जहां कि चेतना के खंडों में विभक्त होने के कारण से सब कुछ रूपरहित सत्ता के अन्दर छिपा पड़ा है, तुच्छयेनाभ्वपिहितम्। शब्द के द्वारा यह उस रात्रि के अन्दर से निकल कर फिर ऊपर उठता है, चेतन में उस की विशाल एकता को पुनः विरचित करने के लिये, तन्महिना-अजायत-एकम्। यह बृहत् सत्ता, यह सब को अपने अन्दर रखने वाली, सब को सृजने वाली चेतना 'ब्रह्म' है। यह आत्मा है जो मनुष्य के अन्दर अवचेतन के अन्दर से उद्भूत होती है और ऊर्ध्वमुख होकर पराचेतन की ओर जाती है। और सर्जक-शक्ति का शब्द जो कि आत्मा में से निकल कर ऊपर की तरफ जाता है वह भी 'ब्रह्मन्' है।

यह देव अपने आप को आत्मा की सचेतन शक्ति के रूप में व्यक्त करता है, शब्द के द्वारा अवचेतन के जलों में से लोकों को रचता है—'अवचेतन के जल', जैसा कि महत्त्वपूर्ण सृष्टिसूक्त (ऋग् १०.१२९) में स्पष्ट रूप में इन्हें यह नाम दिया गया है, 'अप्रकेतं सलिलं सर्वम्—अचेतन समुद्र जो सब कुछ था'। इस देव की यही शक्ति 'ब्रह्मा' है, इस 'ब्रह्मा' नाम में जो बल है वह सचेतन आत्म-शक्ति पर ही अधिक पड़ता है अपेक्षा उस शब्द के जो इस आत्म-शक्ति को प्रकट करता है। चेतन मानव सत्ता के अन्दर भिन्न-भिन्न लोक-स्तरों की अभिव्यक्ति होती होती अन्त में जहां तक पहुंचती है वह है पराचेतन की, सत्य और आनन्द की, अभिव्यक्ति और यह (परा-चेतन की) अभिव्यक्ति ही उच्च शब्द का या वेद का कार्य है। इस उच्च शब्द का बृहस्पति अधिपति है, 'बृहस्पति' नाम में जो बल है वह शब्द की शक्ति पर अधिक पड़ता है अपेक्षाकृत उस सामान्य आत्म-शक्ति के विचार के जो कि इस के पीछे रहती है। बृहस्पति देवों को और मुख्यतः इन्द्र को जो कि 'मन' का अधिपति है, ज्ञान का शब्द, पराचेतन का तालबद्ध शब्दाभिव्यञ्जन,

प्रदान करता है, जब कि वे (देव) मनुष्य के अन्दर महान् सिद्धि के लिये आर्य-शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं। यह आसानी से समझ में आ सकता है कि किस प्रकार इन दोनों देवों का विचार पौराणिक प्रतीकवाद में आकर ब्रह्मा स्रष्टा तथा बृहस्पति सुराचार्य इस विशेष रूप में आ गया जहां इन का अर्थ यद्यपि कुछ विस्तृततर हो गया पर साथ ही कम सूक्ष्म और कम गंभीर भी हो गया। 'ब्रह्मणस्पति' इस नाम में ये दोनों विभिन्न बल एक हो गये हैं और बराबर हो गये हैं। यह उसी एक देव के सामान्य और विशेष रूपों के बीच में उन्हें जोड़ने वाला नाम है।

बृहस्पति वह है जिस ने पृथिवी की अर्थात् भौतिक चेतना की सीमाओं और परिच्छिन्नताओं को दृढ़ता के साथ थाम लिया है। वह सत्ता जिस में से सब रचनायें बनाई गई हैं एक धुंधली, तरल और अनिश्चयात्मक गति है,—'सलिलम्' अर्थात् 'पानी' है। प्रथम आवश्यकता यह है कि इस तरल, द्रव और अस्थिर में से एक काम लायक स्थायी रचना की जाय ताकि चेतन के जीवन के लिये एक आधार तैयार हो सके। यह काम बृहस्पति भौतिक चेतना तथा इस के लोक के निर्माण के रूप में करता है,—करता है शक्ति द्वारा, **सहसा**, अवचेतन के प्रतिरोध पर एक प्रकार का जबर्दस्त बल डाल कर। इस महान् रचना को वह निष्पन्न करता है मन, प्राण, शरीर के त्रिगुणित लोक को दृढ़ स्थापित करके, जो मन, प्राण, शरीर तीनों विराट् उद्यम तथा सिद्धि के इस जगत् में सदा इकट्ठे रहते हैं और एक दूसरे में समाविष्ट (निवर्त्तित) रहते हैं या एक दूसरे में से उद्भूत (विवर्तित) होते रहते हैं। ये तीनों मिल कर 'अग्नि' के त्रिगुणित धाम को बनाते हैं और वहां बैठ कर वह परिपूर्णता या निष्पत्ति के उत्तरोत्तर कार्य को, जो कि यज्ञ का लक्ष्य है, सिद्ध करता है। बृहस्पति रचना करता है **शब्द** द्वारा, अपनी आवाज द्वारा, **'रवेण'**, क्योंकि **शब्द** आत्मा की उस समय की आवाज ही है जब कि वह सदा-नवीन बोधों और निर्माणों के लिये जागृत होता है। "बृहस्पति ने शक्ति द्वारा पृथिवी के अन्तों को दृढ़ता के साथ थाम दिया, परिपूर्णता के त्रिगुणित धाम में स्थित होकर, अपनी आवाज के द्वारा", **यः तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिः त्रिषधस्थो रवेण।**

उस (बृहस्पति) पर, कहा गया है कि, पुरातन या प्राचीन ऋषियों ने ध्यान लगाया; ध्यान से वे मन में प्रकाशपूर्ण हो गये; प्रकाशपूर्ण होकर उन्होंने उसे अपने आगे निहित किया, आनन्दमयी जिह्वा वाले देवता, **मन्द्रजिह्वम्**, के रूप में,—आनन्दमयी जिह्वा अर्थात् वह जिह्वा जो कि सोम के मदजनक रस, **'मद, मधु'** का आनन्द लेती है, मधुरता की उस लहर, **मधुमान् ऊर्मिः**, का आनन्द लेती है जो कि सचेतन सत्ता के अन्दर छिपी पड़ी थी और धीरे धीरे क्रमशः इस में से निकाल कर बाहर लाई गई है *। पर प्रश्न यह है कि यह किन के विषय में कहा गया है? क्या ये वे सात दिव्य ऋषि,

* तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।

**ऋषयो दिव्याः**, हैं जो चेतना को उस के सातों स्तरों में से प्रत्येक में सिद्ध करके और उन स्तरों को इकट्ठा समस्वर करके जगत् के विकास का निरीक्षण किया करते हैं, अथवा ये वे मानव पितर, **पितरो मनुष्याः**, हैं जिन्होंने सब से पहले उच्च ज्ञान को खोजकर पाया था और मनुष्य के लिये **सत्य-चेतना** की असीमता को विरचित किया था ? दोनों में से कोई भी क्यों न अभिप्रेत हो, पर संकेत अपेक्षाकृत मानव पितरों, **पूर्वजों**, द्वारा की गई **सत्य** की विजय की ओर ही अधिक प्रतीत होता है। 'दीध्यानाः' शब्द के वेद में दोनों अर्थ होते हैं, एक तो चमकना, प्रकाशमान होना और दूसरा विचारना, ध्यान करना, विचार में केन्द्रित करना। इस शब्द का प्रयोग भी सतत रूप से द्व्यर्थकता वाले वैदिक अद्भुत अलङ्कार के साथ हुआ है। पहले अर्थ की दृष्टि से इस का सम्बन्ध 'विप्राः' के साथ जुड़ता है, और भाव यह निकलता है कि ऋषि बृहस्पति की विजयशाली शक्ति के द्वारा विचारमें अधिकाधिक प्रकाशमान (दीध्यानाः)होते चलते हैं और अन्त में जाकर वे **विप्राः (प्रकाशपूर्ण)** बन जाते हैं। दूसरे अर्थ में इस का सम्बन्ध 'दधिरे' के साथ होगा और भाव यह निकलेगा कि ऋषि उन अन्तःप्रेरणाओं पर जो कि बृहस्पति की पवित्र और प्रकाश-पूर्ण शब्द रूपी आवाज के द्वारा आत्मा में से ऊपर उठती हैं, ध्यान लगाकर, उन्हें विचार में दृढ़ता के साथ थाम कर (दीध्यानाः), मन में प्रकाशपूर्ण हो गये जो मन पराचेतन के पूर्ण अन्तःप्रवाह के लिये खुला हुआ था। इस प्रकार वे आत्माके विचारों की उस क्रियाशीलता को जो कि सदा पीछे रह कर, पर्दे से ढकी रह कर, काम करती है, सचेतन सत्ता के सम्मुख ले आने में और इसे अपने स्वभाव की मुख्य क्रिया बना लेने में समर्थ हो गये। परिणामतः बृहस्पति उन के अन्दर सत्ता के आनन्द को, **अमरता** के रस को, परम-आनन्द को उन के लिये आस्वादन करने योग्य हो गया। नियत भौतिक चेतना का निर्माण पहली सीढ़ी है, अन्तःप्रेरणा-युक्त आत्मा को अपनी सचेतन क्रियाओं के नेता के रूप में मन में आगे ले आने के द्वारा दिव्य आनन्द के प्रति यह जागरण हो जाना सिद्धि-प्राप्ति है या कम से कम इस सिद्धि की शर्त है। (देखो मन्त्र प्रथम)

परिणाम होता है मनुष्य के अन्दर **सत्य-चेतना** का निर्मित हो जाना। प्राक्तन ऋषियों ने गति के तीव्रतम कम्पनों को पा लिया है; चेतना के जल की सब से अधिक पूर्ण और वेगवती धारा जो कि हमारी क्रियाशील सत्ता की घटक होती है अब अन्धकाराच्छन्न नहीं रही है, जैसे कि अवचेतन के अन्दर थी, किन्तु पूर्ण चेतना के उल्लास से भरपूर हो गई है,—सृष्टिसूक्त (१०. १२९) में वर्णित समुद्र की तरह वह 'अप्रकेतम्' नहीं रही, किन्तु 'सुप्रकेतम्' हो चुकी है। उन (प्राक्तन ऋषियों) का वर्णन इस प्रकार किया गया है "धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तः"। मानवीय मनोवृत्ति के अन्दर अपने भरपूर प्रकाश और आनन्द से युक्त हुई हुई चेतना की क्रियाओं के इस वेग को प्राप्त करके उन्होंने मानवजाति के लिये इन वेगयुक्त, प्रकाशमय और उल्लास-युक्त बोधों के तन्तुओं से **सत्य-चेतना** को, **ऋतं बृहत्** को बुना है, जो कि इस सचेतन

सत्ता का गर्भ या उत्पत्ति-स्थान है। क्योंकि पराचेतन में से ही निकल कर सत्ता अवचेतन के अन्दर अवतरित होती है और अपने साथ उसे लिये होती है जो कि यहां व्यक्तिगत मानव सत्ता, चेतन आत्मा, के रूप में उद्भूत हो जाता है। इस **सत्य-चेतना** की प्रकृति अपने आप में यह होती है कि यह अपने उत्सेचन में प्रचुर होती है, **पृषन्तम्**, या यह हो सकता है कि अपने समस्वरतायुक्त गुणों के वैविध्य की दृष्टि से बहुरूप होती है; अपनी गति में यह तीव्र होती है, **सृप्रम्**; उस प्रकाशपूर्ण तीव्रता के द्वारा यह उस सब पर विजय पा लेती है जो इसे परास्त करना या तोड़ना चाहता है, यह **अदब्धम्** होती है; सब से बढ़कर यह कि यह विशाल, बृहत्, असीम होती है, **उर्वम्**। इन सब रूपों में यह पहली सीमित गति से उलटी है जो कि अवचेतन के अन्दर से निकलती है; क्योंकि वह होती है परिमित और धूसर, मन्द और निगडित, प्रतिद्वन्द्वी-शक्तियों के विरोध द्वारा आसानी से पराजित और नष्टभ्रष्ट हो जाने वाली, क्षेत्र की दृष्टि से अविस्तीर्ण तथा सीमित। पर मनुष्य के अन्दर व्यक्त हुई-हुई यह **सत्य-चेतना** न-माननेवाली शक्तियों के, वृत्रों के, 'वल' के, विद्रोह के कारण उस से फिर अन्धकाराच्छन्न हो सकती है। इसलिये ऋषि बृहस्पति से प्रार्थना कर रहा है कि तू अपनी आत्म-शक्ति की परिपूर्णता के द्वारा उस सम्भावित अन्धकाराच्छन्नता से मेरी रक्षा कर। (देखो मन्त्र दूसरा)

यह सत्य-चेतना उस पराचेतन का मूल आधार है जिस का कि स्वरूप **आनन्द** है। यह पराचेतन का परम, **परमा परावत्**, है, जिस में से मानव सत्ता अवतरित हुई है, उपनिषदों का **परम परार्ध** है, **सच्चिदानन्द** की सत्ता है। इसी सर्वोच्च सत्ता की ओर वे, इस भौतिक चेतना से निकल कर, **अतः**, उठ जाते हैं, जो पुरातन ऋषियों की तरह **सत्य-चेतना** के साथ संस्पर्श करते हैं, **बृहस्पते या परमा परावत् अत आ ते ऋतस्पृशो नि षेदुः**। वे इसे अपना धाम और घर, **क्षय**, **ओकस्**, बना लेते हैं। क्योंकि भौतिक सत्ता की पहाड़ी में आत्मा के लिये वे माधुर्य के लबालब भरे कुएँ खुदे हैं जो इस पहाड़ी की दारुण कठोरता के अन्दर से छिपे पड़े **आनन्द** को निकाल लाते हैं; सत्य का संस्पर्श होने पर शहद की नदियां, अमृत-रस के वेगयुक्त झरने, क्षरित होने और प्रवाहित होने लगते हैं और मानवीय चेतना के समस्त धरातल पर प्रचुरता की बाढ़ के रूप में फूट पड़ते हैं, **तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्ति अभितो विरप्शम्**। (देखो मन्त्र तीसरा)

इस प्रकार बृहस्पति, देवों में सर्वप्रथम, **सत्य-चेतना** के उस **प्रकाश** की बृहत्ता के अन्दर से, उच्च पराचेतन के उस सर्वोच्च दिव्य धाम में, **'महो ज्योतिषः परमे व्योमन्'**, व्यक्त होकर अपने आप को हमारी चेतन सत्ता के पूर्ण सप्तविध रूप (सप्त-आस्य) में प्रकट करता है, स्थूल भौतिकता से ले कर विशुद्धतम आध्यात्मिकता तक क्रमबद्ध हुए अपने सातों लोकों की अन्तःक्रीड़ा के समस्त रूपों में अनेक प्रकार से पैदा (बहुजात) होकर, उन की

उस सप्तविध रश्मि से, जो कि हमारे सब उपरि-स्तरों तथा समस्त गहन-स्तरों को प्रकाशित करती है, प्रकाशमान होकर प्रकट होता है और अपनी विजयशाली आवाज से **रात्रि** की सब शक्तियों को, **अचेतन** के समस्त आक्रमणों को, सब सम्भव अन्धकारों को, निराकृत तथा छिन्न-भिन्न कर देता है। (देखो मन्त्र चौथा)

**शब्द** की शक्तियों द्वारा, आत्म-शक्तियों के स्वरतालबद्ध गण द्वारा यह होता है कि बृहस्पति सब को अभिव्यक्त करता तथा उन सारे अन्धकारों को जो हमें घेरे हुए हैं, दूर करके **रात्रि** को समाप्त कर देता है। ये वेद के "ब्रह्मा" हैं जो कि शब्द से, 'ब्रह्म' या 'मन्त्र' से, आविष्ट या पूरित होते हैं, ये वे हैं जो यज्ञ में दिव्य 'ऋक्' को, 'स्तुभ्' या 'स्तोम' को द्यौ की तरफ उठाते हैं। 'ऋक्' जिस का सम्बन्ध प्रकाश या चमक वाची 'अर्क' शब्द से है, वह शब्द है जो प्रकाशकारक चेतना में रहने वाली सिद्धिदायक शक्ति समझा जाता है; 'स्तुभ्' वह **शब्द** है जो वह शक्ति समझा जाता है जो कि वस्तुओं की नियमित स्वर-ताल के अन्दर स्तुति करती तथा दृढ़ीकरण करती है। वह जिसे कि व्यक्त होना है चेतना में साधित, स्तुत और अन्ततोगत्वा **शब्द** की शक्ति द्वारा दृढ़ीकृत होता है। "ब्रह्मा" गण या ब्राह्मण-शक्तियां **शब्द** के पुरोहित हैं, दिव्य स्वरताल द्वारा रचना करने वाले हैं। उन्हीं की आवाज द्वारा बृहस्पति '**वल**' को टुकड़े-टुकड़े कर देता है।

जैसे **वृत्र** वह शत्रु, वह **दस्यु**, है जो कि चेतन सत्ता के सप्तविध जलों के प्रवाह को रोक लेता है — **अचेतन** का मूर्त रूप है, वैसे ही **वल** वह शत्रु, वह **दस्यु**, है जो अपने बिल, अपनी गुफा (**बिलम्, गुहा**) में **प्रकाश** की गौओं को रोक लेता है; वह अव-चेतन का मूर्तरूप है। **वल** अपने आप में अन्धकारपूर्ण या अचेतन नहीं है, किन्तु अन्धकार का कारण है। बल्कि अधिक ठीक तो यह है कि उस के अन्दर का पदार्थ प्रकाश वाला है, **वलं गोमन्तम्, वलं गोवपुषम्**, किन्तु वह उस प्रकाश को अपने ही अन्दर रोक रखता है और इस की सचेतन अभिव्यक्ति को नहीं होने देता। उसे तोड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देना आवश्यक होता है, ताकि उस के अन्दर छिपी पड़ी हुई ज्योतियां मुक्त होकर बाहर आ सकें। उन के छुटकारे को यहां इस तौर पर कहा गया है कि बृहस्पति उन **ज्योतिष्मतियों** को, उषा की गौओं को (उस्रियाः) नीचे भौतिकता की पहाड़ी की गुफा में से छुड़ा कर बाहर निकाल लाता है और उन्हें ऊपर हमारी सत्ता की ऊंचाइयों की तरफ हांक देता है जहां पर कि उन के साथ तथा उन की सहायता से हम चढ़ जाते हैं। वह उन्हें पराचेतन ज्ञान की वाणी से पुकारता है; वे सचेतन अन्तर्ज्ञान (conscious intuition) के प्रत्युत्तर के साथ उस का अनुसरण करती हैं। वे अपने समय पर क्रियाओं को अन्तःप्रेरणा प्रदान कर देती हैं जो क्रियायें यज्ञ की सामग्री का रूप धारण करती हैं और देवों को अर्पित की जाने वाली हवियां बनती हैं और ये भी ऊपर ले जाई जाती रहती हैं जब तक वे उसी दिव्य लक्ष्य तक नहीं पहुंच जातीं। (देखो मन्त्र पांचवां)

यह स्वतःप्रकाशनशील आत्मा, यह बृहस्पति, **पुरुष** है, सब वस्तुओं का **पिता** है; यह विश्वव्यापी देव है; यह **वृषभ** है, इन सब प्रकाशमय शक्तियों का **अधिपति** और जनक है जो विकसित हैं या अन्तर्निहित हैं, जो दिन में सक्रिय होती हैं या वस्तुओं की रात्रि में धुँधले रूप से कार्य करती हैं, जिन से कि यह जगत्-सत्ता या **भुवनम्** बना है। बृहस्पति नाम से इसी **पुरुष** के प्रति ऋषि एक यज्ञ के रूप में हम से हमारे जीवन (सत्ता) की सभी सामग्रियों को उत्सर्ग कराना चाह रहा है, उस यज्ञिय कर्म द्वारा जिस में कि वे पूजा और समर्पण के साथ भेंट की गई, स्वीकार की जाने योग्य हवियों के तौर पर उस **सर्वात्मा** के प्रति अर्पित कर दी जाती हैं। यज्ञ के द्वारा हम इस देव की कृपा से जीवन के संग्राम के लिये वीरोचित शक्ति से भरपूर हो जायेंगे, आत्मा की प्रजा में समृद्ध और उन आनन्दों के अधिपति हो जायेंगे जो आनन्द दिव्य प्रकाश तथा सत्य क्रिया द्वारा अधिगत होते हैं। (देखो मन्त्र छठा)

क्योंकि आत्मा की शक्ति तथा अतिक्रामक शक्ति उस मनुष्य के अन्दर पूर्णता को प्राप्त हो जाती हैं, जो मनुष्य कि अपने अन्दर इस सचेतन आत्म-शक्ति (बृहस्पति) को, जो कि प्रकृति में नेत्री-शक्ति के रूप में आगे लाई जा चुकी हो, धारण कर लेता है तथा दृढ़ता के साथ धारण किये रखने में समर्थ होता है, जो मनुष्य कि इस द्वारा आन्तरिक गतियों की त्वरित तथा आनन्दपूर्ण गति तक पहुंच जाता है, जैसे कि प्राचीन ऋषि पहुंचा करते थे, अपने अन्दर **प्राण** के घोड़े की उन जैसी समस्वरतायुक्त प्लुतगति और वल्गित (दुलक-चाल) को अधिगत कर लेता है, तथा सदैव इस देव की, इसे सब परिणतियों तथा आनन्द-भोगों के प्रथम फलों को अर्पित करता हुआ, पूजा करता है। उस शक्ति (आत्मा की शक्ति) द्वारा वह उस पर हावी हो जाता है और उस सब पर प्रभुत्व पा लेता है जो कि जन्मों में, लोकों में, चेतना के स्तरों में उस के सम्मुख आता है—चेतना के उन स्तरों में जो कि जीवन की प्रगति में उस के अनुभव के आगे खुल पड़ते हैं। वह राजा, **सम्राट्**, हो जाता है, अपनी जगत्परिस्थितिओं पर शासन करने वाला हो जाता है। (देखो मन्त्र सातवां)

क्योंकि ऐसा ही आत्मा अपने स्वकीय घर में, **सत्य-चेतना** में, असीम अखण्डता में, एक दृढ़स्थित सत्ता को प्राप्त करता है, और उस के लिये हर समय **इडा**, सर्वोच्च वाणी, **सत्य-चेतना** की मुख्य शक्ति, वह जो कि ज्ञान के अन्दर सीधी स्वतःप्रकाशयुक्त दृष्टि (revealing vision) के रूप में आती है और उस ज्ञान के अन्दर क्रिया, परिणाम तथा अनुभूति का जो वस्तुगत सत्य है उस की स्वतःस्फुरित अन्तःप्राप्ति बन जाती है—निरन्तर शरीर तथा प्रचुरता में वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। उस के प्रति सब प्रजायें स्वयमेव नत हो जाती हैं, वे उस के अन्दर विद्यमान **सत्य** के वशवर्ती हो जाती हैं क्योंकि यह सत्य और उन प्रजाओं के अन्दर का सत्य एक ही होता

है। क्योंकि सचेतन **आत्म-शक्ति**, जो कि विराट् रचयित्री तथा साधयित्री है, उस की सब क्रियाओं में नेतृत्व करती है। यह (आत्म-शक्ति) उसे सब प्रजाओं के साथ उस के सम्बन्धों में **सत्य** का पथप्रदर्शन प्रदान करती है और इसलिये वह एक पूर्ण तथा स्वतःस्फूर्त्त सिद्धहस्तता के साथ उन (प्रजाओं) पर क्रिया करता है। यही मनुष्य की आदर्श स्थिति है कि आत्म-शक्ति **बृहस्पति, ब्रह्मा**, जो आध्यात्मिक ज्योति तथा आध्यात्मिक मंत्री है, उस का नेतृत्व करे और वह अपने आप को **इन्द्र**, क्रिया का राज-देवता, अनुभव करता हुवा अपने आप पर तथा अपनी सब प्रजा पर उन के सम्मिलित **सत्य** के अधिकार से शासन करे। **ब्रह्मा राजनि पूर्व एति**। (देखो मन्त्र आठवां)

यह **ब्रह्मा**, यह रचनाशील आत्मा, अपने आप को मानव स्वभाव के राजत्व (राजापन) में व्यक्त करने तथा परिवर्द्धित करने का यत्न करता है और वह मनुष्य जो कि प्रकाश तथा शक्ति के उस राजत्व (राजापन) को अधिगत कर लेता और अपने अन्दर **ब्रह्मा** के लिये उस सर्वोच्च मानवीय भद्र को रच लेता है, अपने आप को सदा उन सब दिव्य विराट् शक्तियों द्वारा समृद्ध, पालित तथा संवर्द्धित पाता है जो शक्तियाँ परम सिद्धिप्राप्ति के लिये कार्य करती हैं। वह आत्मा के उन सब धनों को जीत लेता है जो आत्मा के राजा हो जाने के लिये आवश्यक हैं, जो उस के निजी चेतना-स्तर से सम्बन्ध रखते हैं और जो उस के सम्मुख दूसरे चेतना-स्तरों से आकर उपस्थित होते हैं। कोई भी उस की विजयशालिनी प्रगति पर आघात या आक्रमण नहीं कर सकता। (देखो मन्त्र नौवां)

इन्द्र और बृहस्पति इस प्रकार दो दिव्य शक्तियाँ हैं जिन का हमारे अन्दर परिपूर्ण हो जाना तथा **सत्य** को सचेतनतापूर्वक आत्मसात् कर लेना हमारी पूर्णता-प्राप्ति की शर्तें हैं। वामदेव उन्हें पुकार रहा है कि वे इस महान् यज्ञ में आकर अमर आनन्द के रस का पान करें, इस के आनन्दों के मद में आनन्द लें, और आत्मा के सार पदार्थ तथा ऐश्वर्यों को प्रचुरता के साथ बरसा दें। पराचेतन आनन्द की वे वर्षायें आत्म-शक्ति के अन्दर प्रविष्ट तथा पूर्णरूप से समवस्थित हो जानी आवश्यक हैं। इस प्रकार एक आनन्द रचित हो जायगा, एक नियन्त्रित समस्वरता प्राप्त हो जायगी जो कि उस पूर्ण प्रकृति की सभी शक्तियों तथा क्षमताओं से परिपूरित होगी जो प्रकृति अपनी तथा अपने लोक की स्वामिनी है। (देखो मन्त्र दसवां)

इसलिये बृहस्पति और इन्द्र हमारे अन्दर वृद्धि को प्राप्त हो जायें और तब सत्य मनोवृत्ति की वह अवस्था जिसे कि वे दोनों मिल कर रचते हैं, व्यक्त हो जायगी; क्योंकि वह इस की प्रथम शर्त है। वे दोनों उदित होते हुए विचारों की पालना करें तथा मानसिक सत्ता की उन शक्तियों को अभिव्यक्ति में ले आवें जो एक समृद्ध व बहुविध विचार के द्वारा **सत्य-चेतना** के प्रकाश तथा उस के वेग को पा लेने में समर्थ हो जाती हैं। वे शक्तियाँ जो आर्य योद्धा पर आक्रमण करती हैं उस के अन्दर मन की दरिद्रताओं को तथा आवेशात्मक प्रकृति

की दरिद्रताओं को, सभी असुखों को, रच देना चाहती हैं। आत्म-शक्ति तथा मनःशक्ति एक साथ वृद्धिंगत होकर इस प्रकार की समग्र दरिद्रता को तथा अपर्याप्तता को विनष्ट कर देती हैं। वे दोनों मिल कर मनुष्य को उस का राज-पद तथा उस का पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करा देती हैं। (देखो मन्त्र ग्यारहवाँ)

## कर्मयोगी

### अष्टम अध्याय

# तीन पुरुष

मानव विचार ने जिन दार्शनिक समस्याओं को हल करने का कठिन प्रयास किया है उन में से सब से बड़ी है—चारों ओर की दृग्गोचर सत्ता में विद्यमान चेतन प्रज्ञा का यथार्थ स्वरूप और उस का हमारे साथ सम्बन्ध। कल्पनावादी या मायावादी बहिर्दृश्य सत्ता से इन्कार करता है, प्रकृतिवादी चेतन प्रज्ञा से इन्कार करता है। पहले के लिये, गोचरवस्तु और कुछ नहीं है सिवाय इस के कि यह एक अद्वितीय विश्वगत आत्मा की प्रकाशमान स्थिरता पर पड़ने वाली अस्थिर छाया मात्र है: दूसरे के लिये, प्रज्ञा प्रकृति की गतियों का क्षणिक परिणाम है। मायावादी छाया की सत्ता की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर सकता; वह स्वीकार करता है कि यह अनिर्वचनीय है, एक ऐसी वस्तु है जो कि है भी और एवं नहीं भी है। प्रकृतिवादी प्रज्ञा की सत्ता की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर सकता; वह केवल इस के विकास के क्रमों और इस की क्रियाओं के तरीकों का पता लगाने का यत्न करता है और अपने निरीक्षणों की अत्यधिक सूक्ष्मता के द्वारा व्याख्या की आवश्यकता को ढक देता है। परन्तु मनुष्य की आत्मा बाहर और अन्दर सब तरफ ध्यानपूर्वक दृष्टि डालने के बाद न तो शङ्कर से ही संतुष्ट होती है और न हेकेल से। वह गोचर पदार्थों की विश्वव्याप्त सत्ता को देखती है, वह प्रज्ञा की विश्वव्याप्त सत्ता को देखती है। वह एक ऐसी स्थिति की खोज करती है जो दोनों को स्वीकार करेगी, दोनों को समाविष्ट करेगी, दोनों का तादात्म्य करेगी; वह किसी एक के बहिष्करण की नहीं बल्कि दोनों की सङ्गति की मांग करती है।

उपनिषदें संसार की वास्तविकता से इन्कार नहीं करतीं, बल्कि वे इस का उस ब्रह्म के साथ तादात्म्य दिखाती हैं जो कि इसे अतिक्रान्त कर जाता है। वह द्वितीयरहित एक है (एकमेवा-

द्वितीयम्); वह सर्व है। अगर सब कुछ ब्रह्म है, तो यहां ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता, और अत एव सर्व (सर्वमिदम्) की सत्ता ब्रह्म की एकता का विरोध नहीं करती, भेद की वास्तविकता को स्थापित नहीं करती। यह एक ही प्रज्ञा है जो अपने आप को सैंकड़ों दृष्टिबिन्दुओं से देखती है, प्रत्येक बिन्दु दूसरों से सचेतन है और उन की सत्ता का आनन्द लेता है। धारणा और विचार, कल्पना और अनुभव, नाम और रूप, संवेदन और कंपन का तटहीन प्रवाह, बिना आदि और अन्त के, कभी आंखों के सामने आता हुआ, कभी दृष्टि से ओझल हो जाता हुआ, सदा ही आगे आगे बहता जाता है; इस के भीतर से वह एक प्रज्ञा अपनी लाखों आत्म-अभिव्यक्तियों सहित अपने आप को यत्र तत्र सर्वत्र प्रकट करती है, मानो कोई असङ्ख्य तरङ्गों वाला महासागर हो। एक विशेष आत्म-अभिव्यक्ति अपने स्रोत और आधार में लय हो सकती है, परन्तु उस से यह दृष्टिगोचर संसार न नष्ट होता और न हो सकता है। वह एक सदा से है, और क्योंकि वह एक सदा से है अतः बहु भी सदा से हैं। जब तक समुद्र है तब तक लहरें भी रहेंगी ही।

विश्व-प्रकृति के समुद्रसम मन्थन और परिवर्तन में आत्मा या पुरुष स्थाणु, स्थिर, अचल, अपरिवर्तनशील, नित्य है,—नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। समष्टि में, पुरुष या आत्मा एक है,–एक ही आत्मा है जो विश्व की गति को धारण करता है, बहुत नहीं। व्यष्टि में उस एक पुरुष के पुरुषत्व की तीन अवस्थाएं हैं; वह एक है, परन्तु त्रिवृत् है। उपनिषदें एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का वर्णन करती हैं, जिन में से एक वृक्ष का फल खाता है, दूसरा, अधिक ऊंची शाखा पर बैठा हुआ, खाता नहीं है किन्तु अपने साथी का निरीक्षण करता है; एक ईश या अपना स्वामी है, दूसरा अनीश है, अपना स्वामी नहीं है, और जब खाने वाला ऊपर देखता है और अपने दूसरे निरीक्षयिता (द्रष्टा) साथी की महत्ता को अनुभव करता है और अपने आप को उस से पूरित कर लेता है तभी यह होता है कि दुःख, मृत्यु, पराधीनता,—एक शब्द में माया, अज्ञान और भ्रम, उसे स्पर्श करना छोड़ देते हैं। दो अज (अजन्मा) हैं जो पुरुष हैं और एक अजा 'अजन्मा' है जो स्त्री है; वह (अजा) अपने मधुर और कटु फलों से युक्त वृक्ष है, वे दो अज पक्षी हैं। अजों में से एक उस के माधुर्य का उपभोग करता है, दूसरे ने इसे (माधुर्य को) अपने से दूर रखा हुआ है। ये दो पुरुष हैं अक्षर (अविनाशी आत्मा) और क्षर (दीखने में विनाशी आत्मा), और वृक्ष या स्त्री है प्रकृति, विश्वगत शक्ति जिसे यूरोप के लोग 'नेचर (Nature)' कहते हैं। क्षर पुरुष प्रकृति के अन्दर विद्यमान और प्रकृति का भोग करने वाली आत्मा है, अक्षर पुरुष प्रकृति से ऊपर स्थित और उस का निरीक्षण करने वाली आत्मा है। परन्तु एक है जो कि वृक्ष पर बैठा हुआ नहीं है किन्तु उसे धारण करता और अधिकार में रखता है, जो केवल अपना ही स्वामी नहीं है, किन्तु जो कुछ भी है उस सब का स्वामी है; वह क्षर से ऊंचा

है, अक्षर से भी ऊंचा है, वह है पुरुषोत्तम—वह आत्मा जो ईश्वर के साथ, सर्व के साथ एक है।

ये तीन पुरुष गीता के १५वें अध्याय में वर्णित हैं। "संसार में दो पुरुष हैं, अक्षर और क्षर,—क्षर हैं सब भूत, अक्षर कूटस्थ (शिखर पर स्थित) कहलाता है। एक और पुरुष है, जो उत्तम है, जिसे परमात्मा भी कहते हैं, जो तीन लोकों (सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत् के लोकों, एक अन्य दृष्टि से, सत्ता के कारण, मानसिक और भौतिक स्तरों जिन से कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर बनते हैं) में प्रवेश करता और उन का अविनाशी ईश्वर होकर उन का धारण पोषण करता है।"* और १३वें अध्याय में, निम्नतर और उच्चतर पुरुष में भेद निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ईश्वर तथा व्यष्टिगत आत्मा के प्रकृति के साथ सम्बन्धों को अधिक सूक्ष्मता के साथ प्रतिपादित करते हैं। "प्रकृति कर्त्ता, कार्य और करण का मूल हेतु है; और पुरुष सुख-दुःख के भोग का; क्योंकि प्रकृति में विद्यमान पुरुष ही प्रकृति द्वारा जनित, पदार्थों की त्रिविध क्रियाओं (स्थिति, सर्जन और विनाश; ग्रहण, प्रतिक्रिया और प्रतिरोध; प्रकाश, मिथ्याज्ञान और अन्धकारावृतता; शान्तभाव, कर्म और जड़ता; जो कि प्रकृति के 'गुण' करके पुकारी जाने वाली तीन मूलभूत शक्तियों के भिन्न भिन्न आविर्भाव हैं,—इन त्रिविध क्रियाओं के खेल) का भोग करता है, और आत्मा की गुणों के प्रति आसक्ति ही अच्छे और बुरे शरीरों में जन्मों का कारण है। इस शरीर में सर्वोच्च पुरुष वह है जो निरीक्षण करता है, अनुमति देता, भोग करता, धारण करता है, जो शक्तिशाली स्वामी और परम आत्मा है।"‡

इस परम आत्मा का पुरुषत्व विश्वगत है, व्यष्टिगत नहीं। जो-कुछ भी सब प्राणियों में है—स्वभाव, विचार, कल्पना, अनुभव, संवेदन, गति—उस सब को वह आध्यात्मिक आनन्दलाभ के विषय के तौर पर धारण करता है, बिना अपने आप को सीमित और निर्धारित किये। वह एक साथ सभी चीजें है। व्यष्टिगत सत्ता का धारण पोषण करने के लिये ऐसी विश्वमयता आवश्यक है, किन्तु यह व्यष्टि-सत्ता का निर्धारण करने वाली सीमा नहीं हो सकती। कुछ भाग बचा रखना होता है, कुछ भाग सामने लाना होता है, और यह आंशिक अभिव्यक्ति ही व्यष्टि है। "यह निश्चय ही मेरा सनातन अंश है जो जीवलोक में जीव या व्यष्टि बनता

---

*द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
गीता १५। १६-१७

‡कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥
गीता १३। २०-२२

है।"* जीव या व्यष्टि क्षर पुरुष है, और उस के तथा परम पुरुष के बीच में स्थित है अक्षर पुरुष—वृक्ष के शिखर पर बैठा पक्षी, अपने निज के आनन्द में आनन्दमय, प्रकृति की क्रीड़ा से अविचलित, निष्पक्ष होकर इसे देखता हुआ, इस की छाया को अपनी स्थिर अचल सत्ता पर ग्रहण करता हुआ, क्षणभर के लिये भी बद्ध या प्रभावित हुए बगैर; नित्यतया आत्म-समाहित, नित्य रूप से स्वतन्त्र। यह अक्षर पुरुष ही है हमारी वास्तविक आत्मा, ईश्वर के साथ हमारी दिव्य एकता, जो कुछ क्षणिक और परिवर्तनशील है उस से हमारी अविच्छेद्य मुक्ति। अगर यह न होता, तो जीवन और मृत्यु के, सुख और दुःख के, पाप और पुण्य के बन्धन से कोई छुटकारा न होता; हम बिना दरवाजे के पिंजरे में कैद होते और बाहर निकलने के लिये व्यर्थ में ही अपने पंखों को सीखचों पर पटकते। जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, पाप और पुण्य नित्य, अमिट वास्तविकताएं होतीं न कि अस्थायी नियम जो कि जीवन की महान् क्रीड़ा को निर्धारित करते हैं, और हम स्वतन्त्रेच्छारहित नट होते, न कि ईश्वर के स्वतन्त्र क्रीड़ासहचर जो कि जब चाहें खेल को बन्द कर सकते और फिर नये सिरे से शुरू कर सकते हैं। अक्षर पुरुष के साथ अपनी एकता को अनुभव करने से ही यह होता है कि हम अज्ञान से छुटकारा, इच्छा के पाशों से छुटकारा, कर्मों के अटल नियम से छुटकारा प्राप्त करते हैं। दूसरी तरफ, अगर अक्षर पुरुष सब कुछ होता, जैसा कि सांख्य दर्शन साग्रह स्थापित करता है, तो विभिन्न अनुभव के लिये कोई आधार न होता, कोई भिन्न व्यक्तित्व न होता, प्रत्येक व्यष्टिगत सत्ता प्रत्येक दूसरे व्यष्टिगत अनुभव के ठीक समान होती, प्रकृति में एक आत्मा का विकास और अनुभव दूसरी आत्मा के विकास और अनुभव की ठीक प्रतिकृति होता। यह क्षर पुरुष ही है जो कि 'सर्व भूत' है, और विश्वगत स्वभाव के (या इस दृग्गोचर में विद्यमान जो चेतन सत्ता है उस के स्वभाव के) एक विशेष भाग के एक विशेष व्यष्टि या जीव से सम्बद्ध होने के कारण यह होता है कि अनुभव, चरित्र और विकास की विविधता उत्पन्न होती है। यही अर्थ है इस वचन का कि ईश्वर का ही अंश जीव बनता है। यह स्वभाव एक वार निर्धारित हो जाने पर बदलता नहीं है; परन्तु भिन्न भिन्न समयों पर, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में, कार्य के विविध रूपों में, और जिस कार्य या विकास का इस ने भोग करना होता है उस के लिये उपयुक्त विविध शरीरों में यह अपने विविध भागों को प्रकट करता है। इसी कारण ही प्रकृति में स्थित यह पुरुष क्षर, प्रवाही (तरल) या चलायमान कहलाता है यद्यपि वास्तव में वह तरल या चलायमान नहीं है, बल्कि सतत, नित्य और अपरिवर्तनशील—सनातन—है। देश, काल और कारण में उस के भोग की विविधता ही उसे क्षर बनाती है। अक्षर पुरुष का भोग स्वतःसत, देश-काल और कारण से परे, प्रकृति के सतत अतिप्रचुर प्रवाह और

---

*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
गीता १५। ७

पुनःप्रवाह से सचेतन होता हुआ भी उस से सर्वथा अचलायमान है। पुरुषोत्तम का भोग दोनों जगह प्रकृति में भी है और उस से परे भी, वह अनुभव मात्र और भोग मात्र का आलिङ्गन करता और उन की वास्तविक सत्ता है।

क्षर पुरुष द्वारा विकास का निर्धारण तो किया जाता है किन्तु वह उस का सञ्चालन नहीं करता। प्रकृति, विश्वव्यापिनी शक्ति ही कार्य-कारण के नियम के अधीन विकास का सञ्चालन करती है और सच्ची कर्त्री (करने वाली) यही है। आत्मा कर्त्ता नहीं है, बल्कि स्वामी है जो अपनी कर्त्री-शक्ति, प्रकृति, को क्रिया के फलों का भोग करता है; वह केवल प्रकृति के प्रति अपनी आसक्ति से ही अपने को भूल जाता, और अपने को उस के साथ एकाकार कर लेता है जिस से कि कर्त्ता होने के भ्रम में पड़ जाता और इस प्रकार अपने आप को भूलने के कारण, अपना स्वामी नहीं रहता, कार्य-कारणशृङ्खला के अधीन हो जाता, देश-काल में आबद्ध होता, और जिस काम की वह अनुमति देता है उस से बद्ध हो जाता है। वह स्वयं, ईश्वर का अंश होने से, उस की प्रतिमा के रूप में बना हुआ है, उस से अभिन्न प्रकृति वाला है। अत एव जो कुछ ईश्वर है वही कुछ वह भी है, केवल सीमा के साथ, देश-काल और कारण के अधीन रहते हुए, क्योंकि उस ने, अपनी ही निजी इच्छा से, उस बन्धन को स्वीकार किया है। वह 'उपद्रष्टा' है,* और यदि वह देखना बन्द कर दे तो नाटक खत्म हो जायगा। वह 'अनुमति' का स्रोत है, और जिस चीज को वह शून्य और खाली घोषित कर देता है वह विकास-क्षेत्र से बाहर निकल जाती है। वह 'भोक्ता' है और यदि वह उदासीन हो गया, तो तत्सम्बन्धित व्यष्टिगत विकास अवरुद्ध हो जायगा। वह 'भर्त्ता' है, और अगर उस ने आधार को धारण करना बन्द कर दिया तो वह आधार, वह वाहन क्षीण-विगलित और समाप्त हो जायगा। वह 'महेश्वर' है, और उस की प्रसन्नता के लिये ही प्रकृति काम करती है। वह आत्मा है, और प्रकृति केवल उस का वाहन, उस का वस्त्र, उस की आत्म-अभिव्यक्ति का साधन है। परन्तु उस की सब अनुमतियां, अस्वीकृतियां, आदेश एकदम, उसी स्थान पर उसी समय, अटल पूर्णसमर्थ बलात्कार के द्वारा, असर नहीं करते, किन्तु काल का अतिक्रम, स्थान का परिवर्तन, कारण की कार्योत्पत्ति के लिये क्रिया—इन के अधीन रहते हुए असर करते हैं। अतिक्रम छोटा या लम्बा, एक क्षण का या शताब्दियों का हो सकता है; इसी प्रकार परिवर्तन छोटा या बड़ा, यहां या दूसरे लोक में; एवं क्रिया ऋजुपथानुसारिणी अथवा वक्र-पथानुसारिणी हो सकती है, अर्थात् क्रियाओं का अतितीव्रतावश एक हो जाना जिसे लोग चमत्कार कहते हैं या उन का सावधानतापूर्ण और श्रमसिद्ध विकास जिस में प्रत्येक कदम प्रत्यक्ष तौर पर नियमबद्ध और पूर्वविचारित होता है। किन्तु जब तक जीव बद्ध है तब तक उस का स्वामित्व सीमित और वैधानिक होता है, न कि बिलकुल स्वेच्छापूर्ण और पूरा पूरा। उस की स्वीकृति और हस्ताक्षर तो

*उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
गीता १३-२२

आवश्यक होते हैं, किन्तु जो राज्य का काम करते हैं, कानून की तामील करते, प्रबन्ध करते, कानून बनाते हैं वे तो हैं उस के मन और शरीर से बने हुए आध्यात्मिक तथा लौकिक सरदार (the Lords), तथा उस की बाह्य परिस्थिति से बने हुए साधारण प्रतिनिधि (the Commons)।

आत्म-मुक्ति का पहला कदम है कर्तृत्व के भ्रम से छुटकारा पाना, यह अनुभव करना कि प्रकृति काम करती है, न कि आत्मा। दूसरा है दृश्य जगत् के सम्बन्धों के घेरे को तोड़ डालना—स्वामित्व को ईश्वर के ही अर्पण करने के द्वारा, धारण करने और अनुमति देने की शक्तियों के अपने निजी स्वतन्त्र उपयोग को छोड़ कर इन का उपयोग अकेले उस पर ही छोड़ देने के द्वारा, भोक्ता के विशेषाधिकार को भी उस पर उत्सर्ग करने के द्वारा। तब जो कुछ शेष रह जाता है वह सब है अक्षर पुरुष की स्थिति, जो पुरुष कि स्वतन्त्र, आनन्दमय आत्म-सत्ता है जो प्रकृति के कार्य को देखती है, किन्तु उस से बाहर है। क्षर अक्षर में लौट जाता है। जब यह साक्षी पुरुष भी ईश्वर के निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, तो वह पूर्ण मुक्ति है।

---

भागवत सत्ता की सदा ही ये तीन नित्य अवस्थाएं हैं। सदा-सर्वदा और शाश्वत काल के लिये यह एक नित्य अपरिवर्तनशील स्वयम्भू-सत्ता विद्यमान है जो सत् पदार्थों का आधार और आश्रय है। सदा-सर्वदा और शाश्वत काल के लिये यह आत्मा, प्रकृति में परिवर्तनशील रहती हुई, विद्यमान है जिसे कि प्रकृति इन सब सत्ताओं के रूप में व्यक्त करती है। यह परात्पर भगवान् भी सदा और शाश्वत काल के लिये है, जो कि एक साथ ये दोनों अन्य भी बन सकता है, शुद्ध और शान्त आत्मा बन सकता है और साथ ही ब्रह्माण्ड के चक्रों का क्रियाशील आत्मा और जीवन भी, क्योंकि वह इन दोनों से, चाहे इन्हें पृथक् पृथक् लिया जाय या एक साथ, इतर और अधिक कुछ है। हमारे अन्दर विद्यमान है जीव, इस आत्मा की आत्मा, परम की चेतन शक्ति। वह वह है जो अपने गभीरतम स्व में सम्पूर्ण अन्तर्यामी भगवान् को धारण करता है और प्रकृति के अन्दर विश्वमय भगवान् में रहता है,—वह कोई क्षणिक रचना नहीं है बल्कि नित्य आत्मा है जो नित्य परम आत्मा में, नित्य अनन्त में कर्म करता और गति करता है।

—एसेज ऑन दि गीता, भाग २; पृ० ४७८

# भगवान् के प्रति प्रेम

## १

इस असम्बद्ध विचारणा को कि 'अगर भगवान् के साथ मिलन हो जाने पर हम एक नित्य निरानन्द या यन्त्रणा की अवस्था में जा पहुंचे तो हम क्या करेंगे', पहले हमें एक तरफ छोड़ देना चाहिये। क्योंकि इस विचार का अस्तित्व ही नहीं है और इसे विषय के अन्दर घसीट लाना केवल मुख्य प्रश्न को धुँधला कर देना है। भगवान् आनन्दमय हैं और कोई भी उन्हें उन से मिलने वाले आनन्द के लिये खोज सकता है; परन्तु उन में अन्य भी अनेक वस्तुएं हैं और कोई भी व्यक्ति उन में से किसी चीज के लिये, शान्ति के लिये, मुक्ति के लिये, ज्ञान के लिये, शक्ति के लिये, अन्य भी किसी वस्तु के लिये जिस के प्रति वह अपने में कोई आकर्षण या आवेग अनुभव करे, उन्हें खोज सकता है। किसी के लिये यह कहना सर्वथा सम्भव है: "मुझे भगवान् से शक्ति प्राप्त करने और उन का काम या उन की इच्छा पूरी करने दो और बस इसी में मैं सन्तुष्ट हूं, वह शक्ति का उपयोग चाहे मुझ में दुःख भी क्यों न पैदा करे।" यह सम्भव है कि कोई आनन्द को अत्यन्त प्रबल या हर्षोन्मादकारी चीज समझ कर उस से बचना चाहे और केवल या उस की अपेक्षा शान्ति की, मुक्ति की, निर्वाण की याचना करे। तुम आत्म-परिपूर्णता की चर्चा करते हो,—कोई व्यक्ति बेशक परम तत्त्व को भगवान् के रूप में नहीं किन्तु अपनी उच्चतम आत्मा के रूप में देख सकता है और उस सर्वोच्च आत्मा में अपनी सत्ता की परिपूर्णता को खोज सकता है; पर उस आत्मा को उसे सर्वसुखधाम आनन्दमय आत्मा के रूप में ही देखने की आवश्यकता नहीं—वह उस का स्वाधीनतामय, विशालतामय, ज्ञानमय, शान्तिमय, शक्तिमय, स्थिरतामय, पूर्णतामय आत्मा के रूप में चिन्तन कर सकता है—जो आत्मा शायद इतनी स्थिरतामय है कि वहां हर्ष जैसी हलचल मचाने वाली किसी चीज की लहर प्रवेश नहीं पा सकती। अतः चाहे मनुष्य भगवान् से कुछ वस्तु प्राप्त करने के लिये ही उस की शरण ले तो भी, यह सत्य नहीं कि वह एकमात्र आनन्द के लिये ही, अन्य किसी चीज के लिये नहीं, भगवान् की शरण में जा सकता या मिलन की चाह कर सकता है। इस विचार में एक ऐसी चीज निहित है जो तुम्हारी सारी तर्कणा को असम्बद्ध कर देती है। क्योंकि ये सब तो भागवत प्रकृति के भिन्न भिन्न पहलू हैं, उस की शक्तियां हैं, उस की सत्ता की अवस्थाएं हैं,—भगवान् स्वयं एक निरपेक्ष अनिर्वचनीय तत्त्व हैं, एक स्वयम्भू पुरुष हैं, अपने रूपों से सीमित नहीं हैं,—अद्भुत और

अनिर्वचनीय हैं, उन रूपों के सहारे विद्यमान नहीं हैं, किन्तु वे रूप उन के कारण विद्यमान हैं। इस से स्वभावतः ही यह परिणाम निकलता है कि अगर वह अपने रूपों से आकर्षित करता है, तो वह अपनी उस असली निरपेक्ष आत्मता से और भी अधिक आकृष्ट कर सकता है जो कि किसी भी रूप की अपेक्षा मधुरतर, प्रबलतर, गम्भीरतर है। उस की शान्ति, आनन्दातिशय, प्रकाश, स्वाधीनता, सौन्दर्य इसी लिये अत्यद्भुत और अनिर्वचनीय हैं, क्योंकि वह स्वयं चामत्कारिक, रहस्यमय, परात्पर रूप से अद्भुत और अनिर्वचनीय है। तो वह अपने अद्भुत और अनिर्वचनीय स्वरूप के लिये ही, और न केवल अपने किसी एक या दूसरे रूप की खातिर, खोजा जा सकता है। इस के लिये एकमात्र आवश्यक वस्तु है पहले तो उस स्थल तक पहुंचना जहां कि हृत्पुरुष अपने अन्दर भगवान् के प्रति इस आकर्षण को अनुभव करे और, दूसरे, उस स्थल तक पहुंचना जहां कि मन, प्राण तथा अन्य प्रत्येक भाग भी यह अनुभव करने लगे कि यही चीज थी जिसे वह चाह रहा था और आनन्द या अन्य जिस किसी भी चीज के पीछे उस का जो ऊपरी अनुधावन था वह तो प्रकृति को उस परम चुम्बक के प्रति आकृष्ट करने के लिये बहाना मात्र था।

तुम्हारी यह युक्ति कि 'क्योंकि हमें मालूम है कि भगवान् के साथ मिलन आनन्द उत्पन्न करेगा, अत एव आवश्यक तौर पर आनन्द के लिये ही हम मिलन चाहते हैं' ठीक नहीं है और इस में कुछ बल नहीं। एक व्यक्ति को जो किसी रानी से प्रेम करता है भले ही यह मालूम हो कि अगर रानी उस के प्रेम का प्रतिदान करेगी तो इस से उसे शक्ति, प्रतिष्ठा, धन-दौलत प्राप्त होंगी किन्तु तो भी यह जरूरी नहीं कि वह शक्ति, प्रतिष्ठा, धन-दौलत के लिये ही रानी के प्रेम को पाना चाहता हो। वह रानी से रानी के लिये ही प्रेम कर सकता है और अगर वह रानी न होती तो भी उस से उतना ही प्रेम कर सकता था; उसे शायद किसी भी प्रकार के प्रतिदान की कोई आशा न होती और फिर भी वह उस से प्रेम कर सकता था, उस की पूजा कर सकता, उस के लिये जी सकता, उस के लिये मर सकता था केवल इस लिये कि वह 'वह' है। ऐसा घटित हो चुका है और मनुष्यों ने भोग या प्रतिफल की किसी भी आशा के बिना स्त्रियों से प्रेम किया है, उम्र ढल जाने और सौन्दर्य समाप्त होने के बाद भी स्थिरता-पूर्वक, प्रगाढ़ राग के साथ प्रेम किया है। देशभक्त अपने देश से केवल तभी प्रेम नहीं करते जब कि वह समृद्ध, शक्तिशाली, महान् होता है और उस के पास उन को देने के लिये बहुत कुछ होता है; देश-प्रेम वास्तव में तभी अत्यन्त प्रचण्ड, प्रगाढ़, पूर्णनिरपेक्ष रहा है जब कि देश निर्धन, अवनत और दीन था और अपनी सेवा के प्रतिफल के रूप में देने के लिये उस के पास हानि, क्षत, यन्त्रणा, कैद और मृत्यु के सिवाय कुछ नहीं था; तथापि यह जानते हुए भी कि वे उसे अपने जीवन में कभी स्वतन्त्र नहीं देख सकेंगे, मनुष्य उस के लिये जीते रहे, उस की सेवा

करते रहे और उस के लिये मरे हैं—केवल उसके 'निज' के लिये, जो कुछ वह दे सकता था उस सब के लिये नहीं। मनुष्यों ने सत्य से प्रेम किया है सत्य के ही लिये, और उस की जो कुछ खोज या प्राप्ति वे कर सकते थे उस के लिये उन्होंने निर्धनता, अत्याचार व साक्षात् मृत्यु को अङ्गीकार किया है; वे सदा उस की तलाश करते रहने मात्र में भी सन्तुष्ट रहे हैं, उस का पता नहीं पा सके, पर फिर भी उन्होंने खोज को कदापि छोड़ा नहीं। इस से क्या मतलब निकलता है? यही कि मनुष्य से, देश से, सत्य से और इन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से भी उन की निज की ही खातिर प्रेम किया जा सकता है, किसी दूसरी बात के लिये नहीं, किसी परिस्थिति या सहचारी गुण या परिणामभूत भोग के लिये नहीं, किन्तु किसी स्वतःपूर्ण वस्तु के लिये जो या तो उन के अन्दर या उन की आकृति और परिस्थिति के पीछे अवस्थित है। भगवान् किसी मनुष्य या स्त्री, भूप्रदेश या साम्प्रदायिक मत, सम्मति, आविष्कार या सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक 'कुछ' हैं। वे सब पुरुषों से परे परम पुरुष हैं, सभी आत्माओं का गृह और देश हैं; वे वह परम सत्य हैं, सामान्य सत्य जिस की अपूर्ण प्रतिमाएं मात्र हैं। तो क्या फिर उन्हें उन की निज की खातिर प्रेम नहीं किया जा सकता तथा खोजा नहीं जा सकता, उसी तरह से और उस से भी अधिक जैसे कि मनुष्यों ने अपनी निम्नतर आत्माओं और प्रकृति में रहते हुए भी इन स्त्री, देश आदि से प्रेम किया है?

तुम्हारी तर्कणा एक चीज की उपेक्षा करती है, वह वह चीज है जो कि, भगवान् के अन्दर तथा वैसे ही मनुष्य और उस की खोज के अन्दर, पूर्णनिरपेक्ष है या पूर्णनिरपेक्ष की ओर प्रवृत्ति रखती है—यह एक ऐसी चीज है जो मानसिक तर्कणा या प्राणगत प्रेरकभाव के द्वारा नहीं समझाई जा सकती। (इसे समझाने के लिये) प्रेरकभाव भी काम दे सकता है, किन्तु प्रेरकभाव आत्मा का होना चाहिये, प्राणिक इच्छा का नहीं; तर्कणा भी मन की नहीं, किन्तु अन्तरात्मा और आत्मा की। कामना भी सही, परन्तु वह कामना जो अन्तरात्मा की स्वाभाविक अभीप्सा होती है, प्राणमय लालसा नहीं। यही चीज है जो उपरितल पर आ जाती है, तब जब कि शुद्ध आत्मदान होता है, जब कि "मैं आप को इस चीज के लिये चाहता हूं, मैं आप को उस चीज के लिये चाहता हूं" ऐसी चाहना केवल इस शुद्ध चाह में बदल जाती है कि "मैं आप को आप के लिये चाहता हूं"। जब 'क्ष' व्यक्ति ने कहा "न ज्ञान, न यह और न वह, बल्कि कृष्ण" तब उस का अभिप्राय भगवान् के अन्दर विद्यमान उस अद्भुत और अनिर्वचनीय निरपेक्षतत्त्व से ही था। उस का आकर्षण, निःसन्देह, एक सुव्यक्त आदेश होता है, हम में विद्यमान आत्मा महत्तर आत्मा की आज्ञापक पुकार के कारण भगवान् की ओर आकृष्ट होती है, अन्तरात्मा अपनी पूजा के पात्र की ओर अनिर्वचनीयतया आकृष्ट होती है, क्योंकि इस से भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह यह है और वह वह है। बस इसी में सब कुछ आ गया है।

यह सब मैं ने केवल यह समझाने के लिये लिखा है कि जब हम भगवान् को उसी के लिये, और किसी दूसरी चीज के लिये नहीं, खोजने की बात कहते हैं तो इस से हमारा क्या मतलब होता है—जहां तक कि यह निरपेक्ष खोज की बात समझाई जा सकती है। यह बात समझाई जा सकती हो या नहीं, पर यह आध्यात्मिक अनुभव के प्रधानतम तथ्यों में से है। आत्मदान की इच्छा होना इस तथ्य का केवल द्योतक है। परन्तु इस का यह मतलब नहीं कि मुझे तुम्हारी आनन्द की प्रार्थना पर आपत्ति है। बेशक उस के लिये प्रार्थना करो, याचना करो, जब तक कि उस के लिये प्रार्थना-याचना करना तुम्हारी सत्ता के किसी भाग की आवश्यकता है—क्योंकि ये ही चीजें हैं जो भगवान् की ओर ले जाती हैं जब तक कि निरपेक्ष आन्तरिक पुकार, जो हर समय अन्दर उपस्थित रहती है, अपने आप को उपरितल पर नहीं ले आती। परन्तु वास्तव में यह ही वस्तु थी जो प्रारम्भ से तुम्हें आकर्षण कर रही है और वहां पीछे विद्यमान है—यह है सुस्पष्ट आध्यात्मिक आदेश, यह है अन्तरात्मा की भगवान् को पाने के लिये निरपेक्ष आवश्यकता।

मैं यह नहीं कह रहा कि आनन्द होगा ही नहीं। आत्मोत्सर्ग स्वयं ही एक गभीर आनन्द है और जिस चीज को यह लाता है वह अपने साथ वर्णनातीत आनन्द को वहन करती है—और यह (आनन्द) अन्य किसी विधि की अपेक्षा इस विधि के द्वारा अधिक शीघ्र उपलब्ध होता है, जिस से कि कोई प्रायः यहां तक कह सकता है : "स्वार्थशून्य आत्मोत्सर्ग सर्वोत्तम नीति है"। केवल इतना ही फर्क है कि करने वाला उसे नीति के तौर पर कभी नहीं करता है। आनन्द फल है, परन्तु आत्मोत्सर्ग इस फल के लिये नहीं, बल्कि स्वयं आत्मोत्सर्ग के लिये और स्वयं भगवान् के लिये किया जाता है—भेद सूक्ष्म है, मन को यह संभवतः ऐसा ही लगेगा, किन्तु बड़ा वास्तविक भेद है।

---

# अगोचर शक्ति

[प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर श्रीअरविन्द ने एक लेख Unseen Power (अगोचर शक्ति) शीर्षक से लिखा था। वह आज भी हमारे लिये नया है। 'War and Self-determination' पुस्तक से उस लेख का मुख्य भाग अदिति के पाठकों के लिये यहां दिया जाता है—सं०]

इस कशमकश में विचारशील मनुष्य के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस सब उलट-पुलट में कौन सी शक्ति या कौन सी शक्तियां अपनी इच्छा या अपने प्रयत्नों को प्रकट कर रही हैं? और हम, किस शक्ति या किन शक्तियों की सेवा करें? किस आन्तरिक या अतिमानव वस्तु के प्रति,—क्योंकि बाहरी सिंहासन और प्रणालियां तो केवल काल के उच्छ्वास के झञ्झावात के आगे इधर उधर उड़ने वाले पत्तों की न्याईं हैं,—हम अपनी भक्ति व निष्ठा प्रदर्शित करें? वह कौन सी वस्तु या कौन सी सत्ता है जिसे कि सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने के लिये हम लड़ें?

मनुष्य अपने वैयक्तिक या सांघिक या राष्ट्रीय स्वार्थों के लिये लड़ते हैं या उन विचारधाराओं और सिद्धान्तों के लिये लड़ते हैं जिन से कि वे अपने आदर्शवाक्य और जंगी नारे बनाते हैं। परन्तु विस्तृत से विस्तृत भी मानवीय स्वार्थ केवल साधन और निमित्त होते हैं जिन्हें कि कोई उन से बड़ी शक्ति अपने अचेतन आवेग में या फिर अपने सचेतन प्रयोजनों के लिये तोड़ डालती या इस्तेमाल करती है; विचारधारायें और सिद्धान्त हमारे मनों की उपज होते हैं जो कि उत्पन्न होते हैं, शासन करते हैं और नष्ट हो जाते हैं और वे केवल शब्द हैं जब तक कि वे हमारी सत्ता की और विश्व-पुरुष की किसी ऐसी शक्ति को प्रकट नहीं करते जो कि उन द्वारा अपनी मानसिक आत्म-अभिव्यक्ति को प्राप्त करती हो। कोई 'वस्तु' संसार में ऐसी है जो हमारे विचारों और हमारी इच्छाओं से बड़ी है, कोई वस्तु जो अधिक स्थिर और निर्बन्धयुक्त है, जो कि उन से, उन के परिवर्तनों से परे है, तो भी उन के द्वारा स्थित रहती और बढ़ती है। अगर कोई ऐसी वस्तु न हो तो यह सब मानवीय प्रयत्न एक व्यर्थ की परेशानी होगा, मनुष्य का जीवन मधुमक्खी के छत्ते का और वल्मीक का ही कुछ बड़े पैमाने पर अन्धप्रवृत्तिमय दैनिक कृत्यमात्र होगा जिस में छत्ते और वल्मीक की अपेक्षा निरर्थक दुःख अधिक होगा और न्याय्य व्यवस्था और बुद्धिमत्ता कम; और हमारा विचार होगा उन कल्पनाओं का व्यर्थ चमकना मात्र जो बिना किसी इरादे के अपने जाले की उधेड़बुन में लगी हैं—उस पुरानी दन्तकथा के जाले की तरह जो फिर फिर बुना जाता था केवल इसलिये कि वह फिर फिर उधेड़ दिया जाय और उन तर्कणाओं का चमकना मात्र जो उन बौद्धिक और व्यावहारिक रूढ़ियों की श्रृङ्खला-

मात्र बनाती हैं जिन्हें कि हम अपने सामने सत्य और ऋत के रूप में उपस्थित करते हैं, अपने मनों के हेत्वाभासों को ज्ञान के स्थान पर रखते हुए और अपने सामाजिक जीवन-यापन के हेत्वाभासों को सुख के स्थान पर। क्योंकि यह निश्चित है कि कोई भी चीज जिसे कि हम बनाते हैं और कोई भी बाहरी पद्धति जिस की कि हम रचना करते हैं अपने नियत या फिर अपने संभव समय के बाद टिक नहीं सकती। जिस प्रकार यूरोप की यह महान् प्रकृतिवादप्रधान सभ्यता जिसे कि पुनरुद्धार-काल (Renaissance) की ऊंची चमकीली उषा ने भव्य जन्म दिया और जिसे कि १९वीं सदी के तर्कप्राधान्यवाद के शुष्क पित्तलमय अपराह्न ने उस की कठोर प्रौढ़ता प्रदान की, नष्ट होती जा रही है और पृथ्वी का वक्षःस्थल तथा मनुष्य का आत्मा उस के चले जाने पर आराम की सांस ले रहे हैं, उसी प्रकार काल-चक्र की इस सन्धिवेला (इस युग-सन्ध्या) के बाद जिस में कि हम प्रवेश कर रहे हैं,—क्योंकि वे लोग निश्चित ही भूल में हैं जो समझते हैं कि सच्ची उषा का उदय हो चुका है,—जो कोई भी नयी सभ्यता हम बनायेंगे वह भी अपने समय तक जिन्दा रहेगी और फिर भयङ्करता के साथ नष्टभ्रष्ट हो जायगी या मन्द पड़ कर क्षीण हो जायगी,—ऐसा तो निःसन्देह ही होगा जब तक कि वस्तुओं की वह नित्य आत्मा वहां विद्यमान न हो और वह (आत्मा) उस सभ्यता के मुख्य स्वर में अपने वास्तविक सामञ्जस्य के गीत के प्रथम स्वरों को उपलब्ध न कर ले। यदि ऐसा हो तो यह (सभ्यता) अधिक महान् मानवता की सृष्टि के लिये आवश्यक परिवर्तनों की चढ़ती हुई शृङ्खला में प्रथम कड़ी होगी। नहीं तो, जनसमुदायों का यह सब विस्तृत संघर्ष और आक्रमण और विश्वव्यापी रुधिरप्रवाह केवल एक अकस्मात् आ जाने वाला दुःस्वप्न होगा और राष्ट्र या मानव-जाति का सुखी से सुखी माना जाने वाला समय केवल एक क्षण का सुहावना स्वप्न कहा जायगा। तब तो पुरानी दुनिया की वह श्रुति जो मानव-जीवन को निरर्थक, क्षुद्रातिक्षुद्र, बिलकुल मिथ्या दृष्टि से देखने का हमें आदेश देती थी, एक-मात्र बुद्धिमत्ता होगी।

परन्तु उस सिद्धान्त से मनुष्य का आत्मा कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहा है और आज तो हम उस में और भी कम रह सकते हैं, क्योंकि संसार के व्यापारों में कार्य कर रही हमारी दृश्य आत्माओं की अपेक्षा एक महत्तर शक्ति की सत्ता का यह अन्तर्ज्ञान अब मानवजाति को उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है और जीवन के आगे आगे बढ़ने के आवेग में एक असिद्ध लक्ष्य की विशाल भावना इसे मानवीय विचार और शक्ति के अभूतपूर्व प्रयत्न की ओर प्रेरित कर रही है। ऐसे समय में भारी से भारी आपत्तियां भी जीवन को समाप्त नहीं कर सकतीं या उस के आवेग को निरुत्साहित नहीं कर सकतीं, बल्कि उसे प्रयत्न के नये तीव्र वेग के लिये प्रेरित करती हैं; क्योंकि विचार की ज्वालाएं संहारकारी प्रचण्ड अग्नि की ज्वालाओं की अपेक्षा अधिक ऊंची उठती हैं और इस में एक नवीन रचना के अभिप्राय

और आशा को देखती हैं। उस विनाश में जो कि किया गया है, उस शून्य में जो कि खाली छोड़ दिया गया है, मन केवल आशा के उगने के लिये अधिक अवकाश को देखता है और उस विस्तीर्ण स्थान को देखता है जिसे कि उस आत्मा ने जो कि काल में निर्माण करता है अपनी नयी रचना के लिये साफ किया है। क्योंकि, कौन जिस की कि देखने को आंखें हैं यह नहीं देख सकता कि जो कुछ घटित हो चुका है उस में वे अति महान् शक्तियां काम करती रही हैं जो कि उस से कहीं विशालतर विश्व-हेतु को सिद्ध करने में लगी थीं जिसे कि व्यक्ति या राष्ट्र का अहंभाव-पूर्ण मन अपनी संकुचित वैयक्तिक धारणा या सामुदायिक हित के गज से नाप सकते थे, और जिन शक्तियों के लिये कि सरकारों और जनसमुदायों के प्रेरकभाव और आवेश तो केवल यन्त्र, निमित्त अथवा अवसर थे? जब यूरोप में पूर्व के और केन्द्र के स्वेच्छाचारी शासकों और युद्ध के देवताओं ने इस बड़े भारी संकट को—इस द्वारा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के ताज को बलात् अधिगत करने के लिये—उठाने का निश्चय कर लिया, जब वे बेहिसाब विश्व-सङ्घर्ष की ढलान की ओर पागलपन के साथ भागे चले गये, उन्हें तनिक भी पता न चल सका कि चार या इस से भी कम सालों के अन्दर उन के सिंहासन च्युत हो जायेंगे, वे स्वयं कत्ल कर दिये जायेंगे या देश से बाहर निकल भागेंगे और वह सब कुछ जिस के लिये कि वे खड़े हुए थे अतीत की रात्रि में जल्दी से लुप्त होता जा रहा होगा; केवल उस (शक्ति) ने जिस ने कि उन्हें प्रेरित किया था इस चीज को पहले से ही देख लिया था और यही उस का अभिप्रेत था। न ही वे जातियां उस गुप्त प्रयोजन से अधिक अभिज्ञ थीं जो कि न चाहते हुए भी युद्ध के किनारे पर खड़ी लड़खड़ा रही थीं; वे जो कुछ थे और जो कुछ उन के पास था उस की रक्षा, उस राक्षसी आक्रमण पर क्रोध जो कि उन की व्यवस्थित यूरोपीय सभ्यता के लिये विभीषिका रूप था—ये दो बातें थीं जिन्होंने युद्ध के लिये उन की इच्छा को प्रेरित किया और उन के निश्चय को उद्दीप्त किया। तथापि उस सभ्यता को गलती का अपराधी ठहराना और मानवता का एक अन्य युग तैयार करना उस शक्ति का अभिप्रेत था जिस ने कि उन्हें विजय दी है, उस की आवाज उन के विचार में अस्पष्ट-तया गूंजी और उन लोगों के मनों में अधिक स्पष्ट होकर जो सोच-समझ कर की गई तथा सचेतन इच्छा के साथ पीछे से युद्ध में प्रविष्ट हुए।

बड़ा ही हुआ है संहार और विनाश, अपरिमित दु:ख; घना है अन्धकारका रुधिररञ्जित मेघ जिस ने संसार को ढक लिया है, भारी हुई है जीवन की बलि, खजाने और मानवीय साधन-सामग्री का अथाह खर्च, और अभी भी सब कुछ पूरा नहीं कर दिया गया है, पूरी कीमत अब तक भी अदा नहीं की गई है; क्योंकि युद्ध के वर्तमान परिणामों की अपेक्षा उस के बाद के परिणामों के अधिक महत्तर होने की संभावना है, और वह बहुत कुछ जिस ने कि एक जगह केन्द्रीकरण के प्रयत्न के द्वारा भूकम्प

के पूरे धक्के का मुकाबिला किया है, बाद के कम्पनों में गिर जायगा। इस मुसीबत में एक मनुष्य का मन, उस शक्ति को जानता हुआ जो कि इस तूफान में आवृत हुई हुई संसार के ऊपर स्थित है, कुरुक्षेत्र के मैदान पर कहे गये अर्जुन के शब्दों को ठीक ही दुहरा सकता है,—

....दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।
....दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्-
लोकान् समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

"...तेरे इस उग्र और अद्भुत रूप को देख कर, हे महात्मन्! तीनों लोक दुःखित और व्यथित हो गये हैं।.... मेरे अन्दर का आत्मा पीड़ित और व्यथित हो जाता है जब कि मैं तुझे देखता हूं और मैं शान्ति या प्रसन्नता को प्राप्त नहीं कर रहा हूं। जैसे अनेकों तीव्रवेगशाली नदियां समुद्र की ओर ही दौड़ती हैं, उसी प्रकार मनुष्यलोक के ये सब वीर तेरे अनेकों ज्वाला के मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं। जैसे पतङ्गों का झुण्ड सदा बढ़ती गति के साथ अपने नाश के लिये किसी से जलायी हुई अग्नि में जा गिरता है वैसे ही अब राष्ट्र सदा बढ़ती गति के साथ तेरे प्रलय के जबड़ों में प्रवेश कर रहे हैं। तू चारों तरफ के प्रदेशों को अपनी जिह्वाओं से चाटता है और तू अपने ज्वाला के मुखों में सभी राष्ट्रों को निगल रहा है; सारा संसार तेरी शक्तियों की दीप्ति से भर रहा है; हे विष्णु! तेरी दीप्तियां उग्र और भयानक हैं और वे हमें जला रही हैं। मुझे बता दे कि तू कौन है जो उग्रता के इस रूप में हमारे पास आता है; हे महान् देव! तुझे प्रणाम हो, कृपा कर। मैं जानना चाहता हूं कि तू कौन है जो आदिकाल से था, क्योंकि मैं तेरी प्रवृत्तियों में निहित इच्छा को नहीं जानता"।

अगर सब से पहला उत्तर उन्हीं शब्दों में आता हुआ प्रतीत हो जिन द्वारा कि अर्जुन की प्रार्थना का उत्तर दिया गया, "मैं संसार का नाश करने वाला काल-आत्मा हूं, राष्ट्रों के विनाश के लिये प्रवृद्ध होकर उदित हुआ हुआ हूं"

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः

और उन लोगों के लिये जो कि उच्छेदकारी संघर्ष और कत्ले आम में भाग लेने से हिचकते

हुए पीछे हटना चाहेंगे, यह इतिहास-प्रसिद्ध वाणी भी वैसी की वैसी हो कि, "तेरे बिना भी ये सब बचे नहीं रहेंगे जो कि विरोधी सैन्य-दल में खड़े हैं, क्योंकि अपनी भविष्य-दर्शी इच्छा में मैं उन्हें पहले से ही मार चुका हूं; तू अपने आप को पूर्वनियत लक्ष्य का केवल निमित्तमात्र समझ,"—तो भी अन्त में यह मनुष्य का सखा ही है, उस के युद्ध और उस की यात्रा का सारथि ही है जो कि उस विनाशात्मक रूप के स्थान पर आ प्रकट होता है और संपूर्ण संहार का परिणाम है धर्मराज्य, धर्म का राज्य। कुरुक्षेत्र के योद्धा की भांति मानवजाति को अन्तिम संदेश दे दिया गया है, "इस लिये उठ खड़े होओ, शत्रु का विनाश कर डालो, समृद्ध और सुखमय राज्य का भोग करो"। परन्तु किस धर्म का राज्य? यह काफी सन्दिग्ध है आया कि राष्ट्र उस विनाश के स्वरूप के प्रति अन्धे थे जो कि होने वाला था, पर वे कम से कम उस रचना के स्वरूप के प्रति मन्ददृष्टि नहीं हो सकते जिस का कि निर्माण होना है। यान्त्रिक स्वतन्त्रता की वृद्धि का वह वितरण या प्रदान जो कि पुरानी दुनिया की शक्तिओं—जो अभी सिर उठाये खड़ी हैं—की आवश्यकताओं, स्वार्थों और हिचकिचाहटों को ध्यान में रख कर किया गया है, अतीत के अवशेषों और भविष्यत् की आकाररहित सामग्रियों के गांठने द्वारा की गई एकता, जमा-खर्च का वह हिसाब जिस में कि भाग्य भूत की केवल उतनी खराबियों और गल्तियों को बट्टे खाते में डालता रहता है जितनी कि और अधिक देर तक नहीं रखी जा सकतीं और उस सब को जो कि निराशाजनक तौर पर नष्ट नहीं कर दिया गया है खासी पूंजी,—अन्तःकरण को हलका करने के लिये, बहुत काल से देय हो चुके ऋणों की केवल आंशिक अदायगी करने के द्वारा कुछ कमियां करने के साथ,—के तौर पर लिखता रहता है, प्रचण्ड क्रान्ति के द्वारा जो पहले से ही घटित हो चुका या तुरन्त ही अनिवार्य कर दिया जा चुका है ऐसे परिवर्तन को स्वीकार कर लेना, तथा बाढ़ के और अधिक सीमा-लंघनों को रोकने के लिये बांध बांधने की एक नयी पद्धति बनाना—इन सब (साधनों) से यह संभव नहीं है कि इस महाप्लावन को सफलतापूर्वक समाप्त किया जा सके। चाहे अदूरदर्शी बुद्धिकौशल सफल और संगठित अहंपरताओं के सम्मिलित प्रयत्न के द्वारा उन शक्तिशाली विचारधाराओं के साथ सन्धि कर के जो काल-आत्मा के दूतों के तौर पर सर्वत्र फैल रही हैं, इस अवस्था को कुछ समय के लिये ला भी सके, तो भी यह केवल एक कृत्रिम रोक होगी जो कि अदूर भविष्य में नयी उथल-पुथल पैदा कर देगी। पुराने दिवालिया प्रकृति-वादी अर्थोत्पत्तिवाद का अपने कारोबार को इस तरह समेट लेना जिस से कि वह एक नये नाम के साथ, सुरक्षित पूंजी और कोरे बहीखाते के साथ फिर अपना व्यापार शुरू करने में समर्थ हो सके, भाग्य को धोखा देने का निरर्थक प्रयत्न होगा। व्यापारवाद का निःसन्देह अपना एक धर्म है, उपयोगितावादी न्याय और कानून और सामञ्जस्य स्थापित करने का इस का एक आदर्श है, इस की एक सभ्यता है जिस की

कि तुला की राशि अधिष्ठाता है और चूंकि इस के पुराने तरीके अब नष्ट हो गये हैं इसलिये यह अब परिगणित हुए मूल्यों की एक नयी पद्धति के द्वारा फिर नये सिरे से काम शुरू करने के लिये काफी उत्सुक है। परन्तु न तो अधूरे तौर पर अनुतापयुक्त वैश्य का धर्मराज्य, हमारे जैसे युग की (जो विचार और आत्मा के नये इल्हामों की तथा जीवन में नयी रचनाओं की महान् सम्भावनाओं से भरपूर है) कोई अन्तिम परिपूर्णता हो सकता है, और न ही तुला की राशि का स्वर्णीय युग या ठीक कहें तो स्वर्णरञ्जित ताम्रयुग मानवता की इस पीड़ा और प्रसववेदना का समुचित भव्य पुरस्कार हो सकता है। निश्चय ही यह एक और ही तथा उच्चतर धर्म का राज्य है जो कि तैयार हो रहा है।

परन्तु वह धर्म क्या है यह तो हम केवल तभी जान सकते हैं अगर हम उस शक्ति को जान जांय जिस की सत्ता और जिस का विचार उस सब के पीछे काम कर रहे हैं जिस के लिये हम प्रयत्न करते हैं और कष्ट उठाते हैं, चिन्तन करते हैं और परिश्रम करते हैं। पूर्वतर मानवजाति इस के विषय में इस रूप में चिन्तन करती थी कि वह एक रचयिता देवता है या सर्वशक्तिमान् शक्ति है जो मनुष्य से, उस की सत्ता और उस के प्रयत्न से बहुत ऊपर है या वह चिन्तन करती थी विश्वसञ्चालक शक्तियों के देवतासमूह या उन के कोटिक्रमशासन के बारे में जो शक्तियां कि मनुष्यजाति के उद्योग और उत्कट अभिलाषा और विचार को ऊपर से देखती तथा उस पर अधिष्ठातृत्व करती हैं। परन्तु विश्व के देवताओं का यह गण अपने क्रिया-व्यापारों में एकता के आधार और नियम से रहित था और अत एव प्राचीन लोग उस के ऊपर एक अनिश्चित और अनिर्वचनीय देवता की, अज्ञात ईश्वर की जिस के प्रति कि वे एक नामरहित वेदी बनाते थे, कल्पना करने के लिये, [या एक आवश्यकता की जिस का मुंह स्फिन्क्स दैत्य का और हाथ कांसी के हैं, जिस के प्रति स्वयं देवताओं को भी अज्ञानपूर्ण आज्ञापालन करना पड़ता है, कल्पना करने के लिये] बाध्य थे और इस के परिणामस्वरूप मनुष्य का जीवन एक साथ अचिन्त्य दैव का शिकार और अतिमानव स्वच्छन्दाचारों की कठपुतली बन जाता था। वैसा, एक बड़ी हद तक, मनुष्य तब तक होता ही है जब तक कि वह अपने प्राणिक अहंकार में रहता है और अपने पृथक्-वैयक्तिक विचारों और वासनाओं का गुलाम होता है। पीछे के धर्मों ने उस एक अज्ञात देवाधिदेव को एक नाम और रूप तथा गुण का एक आकार दे दिया और एक आदर्श नियम की घोषणा की जिसे कि उन्होंने ईश्वरीय शब्द और पवित्र धर्मशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध किया। परन्तु आंशिक और जीवन में न लाये गये इस ज्ञान के रूढिवाद ने तथा मानवीय मन की बाह्य प्रवृत्तियों ने धर्म के प्रकाशों को भ्रान्ति की गड़बड़ों से अन्धकारावृत कर दिया और इस के मुख पर बालोचित तथा क्रूरतापूर्ण अन्धविश्वासों के बड़े विचित्र आवरण डाल दिये। धर्म ने भी ईश्वर को दूरस्थ स्वर्गों में बहुत ऊंचे रख कर मनुष्य को बहुत

कुछ पृथ्वी का एक कीड़ा ही बना डाला जो कि अपने उत्पादक के सामने अत्यन्त क्षुद्र और नीच है और केवल उस की कृपा की मनमानी से किन्हीं अतिमानव लोकों में अपनी सन्दिग्ध मुक्ति प्राप्त कर सकता है। आधुनिक विचारकों को इन अतीत विचारों से साफ छुटकारा पाने की चेष्टा करते हुए इस के स्थान में कोई और चीज स्थापित करनी पड़ी, और उन्होंने जिस चीज को देखा और वहां स्थापित किया वह था प्रकृति का जड़प्राकृतिक नियम और जीवन का जीवनविज्ञानानुमोदित नियम जिस का कि मानवीय तर्क ही सच्चा व्याख्याकार होना था और मानवीय विज्ञान जिस का उत्पादनकारी उपयोग-कर्ता तथा लाभग्रहीता था। किन्तु भौतिक प्रकृति के नियम के यान्त्रिक अन्धे-पन को विचार करने वाले और देखने वाले मनुष्य के एकमात्र पथप्रदर्शक के तौर पर इस्तेमाल करना उस की सत्ता के दिव्यतर नियम के विरुद्ध जाना था और उस की उच्चतर सम्भाव्य शक्ति को पंगु बनाना। इस लिये जो यह स्थूलभौतिक और प्राणिक प्रकृति हमारी सत्ता का केवल प्रथम रूप है, इस के विधिनियम पर विजय पाना तथा उस से परे उठ जाना ही मानवीय विकास का असली ठीक अर्थ है। उस की शक्ति से इतर और महत्तर शक्ति है जो इस प्रयत्न की अधिष्ठात्री है, और मानवीय तर्कशक्ति या मानव विज्ञान वह देवाधिदेव नहीं है, परन्तु अपने अच्छे से अच्छे रूप में वह केवल इस के सेवकों में से एक सेवक हो सकता है और वह भी सब से बड़ा नहीं। यह मानवीय तर्कशक्ति और मानवीय विज्ञान नहीं हैं जो कि इस तूफान में या इस के द्वारा अपने उद्देश्यों को सिद्ध करते रहे हैं जिस तूफान ने कि उन की इतनी अधिक रचनाओं को भूमिसात् कर दिया है। एक महत्तर आत्मा और भी अधिक गभीर जिज्ञासा की प्रतीक्षा कर रहा है जिस से कि वह अपने अदृष्ट रूप को और अपने गुप्त प्रयोजन को प्रकट कर सके।

इस सत्य की कुछ झांकी हमें धुन्धले तौर पर दीखने लगी है—अधिक आध्यात्मिक विचारों की ओर लौटने में और इस विचार में कि ईश्वर का राज्य मानवजाति के जीवन में स्थापित किया जाना चाहिये। इस पुराने विचार के स्थान पर कि विश्व में एक शक्ति है जिस का कि यह संसार जिस में कि हम रहते हैं क्षेत्र है, एक और विचार आ रहा है जो कि भगवान् को अधिक निकटता से अनुभव कराता है। वह है मनुष्य के अन्दर विद्यमान देवाधि-देव का अनुभव—उस अदृष्ट राजा का अनुभव जिस का कि आवरणरूप बाहरी आदमी है और हमारा मन और प्राण जिस के सेवक और जीवित यन्त्र हो सकते हैं और हमारी पूर्णता-प्राप्त आत्माएं जिस के स्वच्छ दर्पण। परन्तु हमें अधिक स्पष्टता के साथ और समग्र रूप में देखना है, पूर्व इस के कि हम इस देवाधिदेव को जान सकें। तीन शक्तियां और रूप हैं जिन में कि वह सत्ता, जो कि वस्तुओं में काम कर रही है, अपने आप को हमारी दृष्टि के सम्मुख प्रस्तुत करती है। सर्वप्रथम उस का वह रूप है जिसे कि हम संसार में देखते हैं, परन्तु वह, या कम-से-कम उस का वह रूप जो हमें

वस्तुओं में बाहर से दिखलाई देता है, उस का सम्पूर्ण सत्य नहीं है; यह तो निःसन्देह केवल एक सब से पहला स्थूलभौतिक आकार और प्राणिक आधार है जिसे कि उस ने हमारी उन्नति व वृद्धि के आरम्भ-बिन्दु के तौर पर प्रदान किया है—उन प्रारम्भिक अनुभवों के प्राथमिक संकलन के तौर पर जिस से कि हमें आगे बढ़ना है और उसे लांघ जाना है। अगला रूप वह है जिस का रहस्य यहां केवल मनुष्य के ही पास है, क्योंकि मनुष्य में यह रूप अपने आप को एक आंशिक और सदा अधूरी पूर्ति और आत्म-विवरण में उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकट कर रहा है। उस के विचार, उस के आदर्श, उस के स्वप्न, अपने को लांघ कर ऊंचे चढ़ जाने के लिये उस के प्रयत्न वे सूत्र हैं जिन के द्वारा वह आत्मा को खोजने का प्रयत्न करता है, वे सांचे हैं जिन में वह दिव्यता के रूप को ग्रहण करके भरने का प्रयत्न करता है। परन्तु वे भी केवल एक आंशिक प्रकाश हैं और देवाधिदेव के सम्पूर्ण रूप नहीं हैं। कोई वस्तु परे प्रतीक्षा कर रही है जिस के पास कि मानव मन, एक अनिर्वचनीय पूर्णता, अनन्त प्रकाश, अनन्त शक्ति, अनन्त प्रेम, विश्वव्यापी शिव और सुन्दर के प्रति आकाररहित अभीप्सा के रूप में पहुंचता है। यह कोई ऐसी चीज नहीं है जो कि अभी तक पूर्ण सत्ता में नहीं आई है, एक ईश्वर जो कि बन रहा है या जिसे मनुष्य ने उत्पन्न करना है; यह वह शाश्वत सत्ता है, जिस का कि यह अनन्त आदर्श एक मानसिक प्रतिबिम्ब है। वह विश्व के रूप से और मानव जीव की इन मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों से परे है और तो भी वह यहां मनुष्य में भी है और इस संसार की जिस में कि वह रहता है सब शक्तियों में उस को घेरे हुए स्थित है। वह आत्मा जो कि विश्व में है और मनुष्य में विद्यमान वह अदृश्य राजा जो कि उस के कार्यों का स्वामी है—ये दोनों वह ही है। वह संसार में उन दैव नियमों द्वारा बढ़ता है जो नियम कि यहां अभी पूर्ण नहीं हैं या अपने भाव और अपनी क्रिया में पूरे नहीं हुए हैं तब तक जब तक कि मानवजाति अपनी प्रकृति में मन और आत्मा की सम्भाव्य-शक्तियों को पूरी तरह से विकसित न कर चुकी होगी। वह मनुष्य में कार्य करता है, परन्तु उस के वैयक्तिक और सांघिक अहं के द्वारा ही तब तक जब तक कि वह अपनी वर्तमान मानसिकता के बन्धन के अन्दर रहता है। केवल तभी जब कि मनुष्यजाति ईश्वर को जान लेगी और भगवान् में रहेगी, मनुष्य की प्रचेष्टाओं का, प्रयत्नों का आदर्श, असली अभिप्राय अपने आप को खोलना शुरू करेगा और वह राज्य स्थापित होगा, राज्यं समृद्धम्।

जब हम अपने अहं, अपने स्वार्थों, अपनी वासनाओं या अपनी केवल प्राणिक आवश्यकताओं के आज्ञापालक बन कर या फिर ऐसी प्राणिक आवश्यकताओं के रूप में जो हमारी बुद्धि से सेवित और विस्तारित होती हैं, किन्तु जो महत्तर आध्यात्मिक अर्थ से प्रकाशयुक्त नहीं हैं, अपने बाहरी जीवन का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं, तब हम विश्व के प्रथम विधान के नियम के अन्तर्गत रह रहे

होते हैं। यहां उग्र रुद्र के रूप में यह होता है कि अगोचर शक्ति से हमारा वास्ता पड़ता है। यह है विकास का स्वामी, कर्म का अधिष्ठाता, न्याय और दण्डविधान का करने वाला राजा जो बलिदान और प्रयत्न के द्वारा आसानी से प्रसन्न होता है—क्योंकि असुर और राक्षस को भी, दैत्य और दानव को भी यह उन की तपस्या का फल देता है—परन्तु जो मन्यु भी शीघ्र करता है और प्रत्येक वार जब कि मनुष्य नियम का भंग कर अपराध करता है, भले वह अज्ञान में ही किया गया हो, या विकास की प्रेरणा के विरुद्ध अपने अहं में अड़ा रहता है या कर्म के प्रतिघात को उत्तेजित करता है, तो बिना दया के वह प्रहार करता है। कलह और स्खलनों में से, प्रगाढ़ लालसा प्रकट करने तथा उत्कण्ठा करने और इच्छा के उग्र दबाव और विकट प्रयत्न में से, रचना और विनाश में से, विकास के मन्द श्रम और क्रान्ति की द्रुत गति में से रुद्र दिव्य प्रयोजन को सिद्ध करता है। इस के विपरीत जब हम अपने जीवन को आदर्श के अनुसार आकार देने की चेष्टा करतें हैं, तो यह सत्य का कठोर स्वामी है जिस का कि हमें सामना करना होता है, उस के प्रश्नों का उत्तर देना होता है। तब, जहां तक हम आन्तरिक सत्य के सच्चे भाव में काम करेंगे, वहां तक हम दिव्य क्रिया के परिणाम के बढ़ते हुए सामञ्जस्य में जियेंगे। परन्तु यदि हमारे आदर्श के नाप मिथ्या हैं या यदि हम तराजू में अपनी अहन्ता और दम्भ और आत्मप्रवञ्चन का अनुचित बोझ डाल देते हैं या यदि हम अपने संकुचित उद्देश्यों के लिये सत्य का गलत प्रयोग करते हैं, अगर हम इसे एक झूठ या एक रूढि या एक बाह्य यन्त्र में, जिस में कि सत्य का सजीव आत्मा नहीं है, बदल डालते हैं, तो हमें अवश्य भारी हिसाब चुकाना पड़ेगा। क्योंकि जैसे पहले हम रुद्र के भीषण हाथ में पड़े थे, वैसे अब हम वरुण के सूक्ष्मतर, अधिक खतरनाक पाश में फंसते हैं। हमारी अभीप्सा केवल तभी तृप्त होगी जब कि हम सत्य को देख सकें और उस में जी सकें। तब यह आत्म-स्वातन्त्र्य का स्वामी है, प्रेम का देवता, एकता का आत्मा है जो व्यक्ति की आत्मा में आविष्ट हो जायगा और जगत्प्रयास को अपने ऊपर ले लेगा। वह महान् मुक्तिप्रदाता है और सिद्धि का दृढ़ और कोमल संस्थापक है।

यह रुद्र का मन्यु है जिस ने भूतल को साफ कर डाला है और उस के पदचिह्नों का मार्ग इन खंडहरों में देखा जा सकता है। इस के परिणामस्वरूप मनुष्यजाति में यह चेतना उपजी है कि वह अनेक मिथ्यापनों में जीवन बिताती रही है और उसे आदर्श के अनुसार जीवन-निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। अत एव अब हमें सत्य के स्वामी के प्रश्न का उत्तर देना है। दिव्य सत्य के दो महान् शब्द हैं जिन्होंने विनाश की घोर खटर-पटर और तूफान की सांय-सांय में से होकर, अपने आप को हमारे मनों में आग्रहपूर्वक बलात् प्रविष्ट किया है और जो अब आशासित पुनर्निर्माण के प्रमुख शब्द हैं,—स्वतन्त्रता और एकता। परन्तु प्रत्येक बात पहले तो इस पर निर्भर करती है कि उन दोनों को देखने की हमारी दृष्टि में कितनी सत्यता है, दूसरे,

हमारी उस भावविशुद्धि पर जिस के साथ कि हम उसे (सत्य को) प्रयोग में लाते हैं, अन्त में और विशेषतया हमारी उपलब्धि, हमारे साक्षात्कार की आन्तरिकता पर। व्यर्थ होगी एकता की यान्त्रिक रचना, यदि एकता मनुष्यजाति के हृदय में न हो और यदि वह हमारे स्वार्थों को संरक्षित और संगठित करने के लिये केवल एक साधन बनाई जाय; तब परिणाम होगा, जैसा कि वह अभी निकट भूत में हो चुका है, केवल एक भीषणतर युद्ध तथा विप्लव और अराजकता का नये रूप में उठ खड़े होना। कोई भी धोखा देने वाले यान्त्रिक रूप जो स्वतन्त्रता की शक्ल तो रखते हैं पर उस का सत्य नहीं, हमें सहायता नहीं करेंगे; वह नयी रचना, देखने में चाहे कितनी ही प्रभाव वाली हो, केवल एक दूसरा कैदखाना बन जायगी और छुटकारा पाने को एक नये संघर्ष के लिये बाध्य करेगी। मनुष्य के लिये एकमात्र सुरक्षा इस बात में है कि वह अन्दर से बाहर की ओर जीना सीखे, अपने को पूर्ण बनाने के लिये संस्थाओं और यन्त्र-सामग्री पर निर्भर न रहते हुए, अपितु अपनी अन्दर की बढ़ती हुई पूर्णता का लाभ उठाकर अपने जीवन के अधिक पूर्ण रूप को और ढांचे को बनावे; क्योंकि इस अन्तर्मुखता से ही हम उन ऊंची चीजों के सत्य को देखने में अधिक से अधिक अच्छी तरह समर्थ होंगे जिन का कि हम अभी तक केवल जिह्वा द्वारा उच्चारण करते हैं और अपनो केवल बाह्य बौद्धिक रचना में मूर्त्त करते हैं। उन के सत्य को देख ही नहीं सकेंगे किन्तु उस सत्य को सचाई के साथ अपने बहिर्मुख जीवन में भी प्रयुक्त कर सकेंगे। यदि हम ने मानवता के अन्दर भगवान् के राज्य की स्थापना करनी है, तो हमें पहले भगवान् को जानना होगा और हमारे अन्दर जो हमारी सत्ता का दिव्यतर सत्य है उसे देखना और उस का जीवन व्यतीत करना होगा; नहीं तो उन तर्क-बुद्धि की रचनाओं को तथा कार्यक्षमता की वैज्ञानिक पद्धतियों को जो भूतकाल में हमें कृतकार्य नहीं कर सकी हैं केवल होशियारी के साथ नयी तरतीब में रख देने मात्र से उस की स्थापना कैसे हो सकती है? क्योंकि ऐसे बहुत से लक्षण हैं जिन से पता लगता है कि पुरानी गलती अभी तक जारी है और क्योंकि थोड़े से ही लोग हैं—थोड़े से नेता हैं जो कि शायद प्रकाश को तो पहुंच चुके हैं परन्तु अभी तक सक्रिय नहीं हुवे हैं—जो कि अधिक स्पष्टता के साथ, आन्तरिकता के साथ, सचाई के साथ देखने का यत्न कर रहे हैं, इसलिये हमें अभी संध्याकाल की, मृत युग और अजातयुग की सन्धिवेला की ही आशा करनी चाहिये, न कि वास्तविक उषा के उदय की। इसलिये कुछ समय के वास्ते, क्योंकि मनुष्य का मन अभी तैयार नहीं है, पुरानी भावना और रीति अभी भी प्रबल हो सकती हैं और थोड़े समय तक फलती फूलती भी दिखाई दे सकती हैं परन्तु भविष्य तो उन मनुष्यों और राष्ट्रों के हाथ में है जो पहले, तेज दोपहरी और सन्ध्या दोनों से परे, प्रातःकाल के देवों को देखते हैं और उस शक्ति के उपयुक्त यन्त्र बनने के लिये अपने आप को तैयार करते हैं जो शक्ति महत्तर आदर्श के प्रकाश की ओर बढ़ने को हम पर दबाव डाल रही है।

## माधव से

रंग दो मुझे रंग में अपने ॥

अपने हाथों से भर भर कर
मुझ पर भी डालो पिचकारी,
हम पतितों के मलिन हृदय
के आज रंगे जाने की बारी,

समता की उमंग में अपने ।
रंग दो मुझे रंग में अपने ॥

और अबीर गुलाल लगा दो
अपने हाथों से हे माधव,
हम पतितों के अंग स्पर्श हित
रचा गया होली का उत्सव,

होली के प्रसंग में अपने ।
रंग दो मुझे रंग में अपने ॥

ऐसा पक्का रंग चढ़ा दो
जो आजीवन कभी न छूटे,
ऐसा अनुपम रंग चढ़ा दो
जैसे उषा किरण से फूटे,

ढालो रंग ढंग में अपने ।
रंग दो मुझे रंग में अपने ॥

जैसे रंगा गोपिकाओं को
तुम ने व्रज की कुंज गली में,
जैसे रंगा पार्थ को तुम ने
कुरुक्षेत्र की रणस्थली में,

वैसे ही तरङ्ग में अपने ।
रंग दो मुझे रंग में अपने ॥

— जगन्नाथ प्रसाद

(६)

## मार्गत्रयी

## कर्मयोग

कर्मयोगी कर्मजीवन के द्वारा भगवान् को और भी अधिक वास्तव, और भी अधिक प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। भगवान् केवल ज्ञाता नहीं हैं, केवल भोक्ता भी नहीं हैं, बल्कि वही फिर नियन्ता, ईश्वर भी हैं। वही विराट् कर्मी हैं—यह कर्मशील जगत् उन्हीं का विराट् अंग-संचालन है। भगवान् का जो सब से अधिक स्पष्ट, सब से अधिक स्थूल प्रकाश है, जिस के साथ मनुष्य इस जगत्‌रूपी संस्था के अन्दर ओतप्रोत भाव से मिला हुआ है, जिस के बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता, उसी कर्म-राशि के द्वारा कर्मयोगी भगवान् के साथ युक्त होना चाहते हैं। कर्मयोग की तीन अवस्थाएं मानी जा सकती हैं। सब से पहली अवस्था यह है कि जीवन के प्रत्येक कर्म को, चाहे जिस किसी अवस्था में, जिस किसी परिस्थिति में साधक क्यों न हो उसे यथोचित प्रत्येक कर्तव्य को भगवान् के उद्देश्य से करना होगा, अपने प्रत्येक कर्म को पुष्पांजलि के रूप में उन्हीं के चरणों में निवेदन करना होगा। क्योंकि साधारणतः मनुष्य अहंकार के वश में होकर कर्म करता है, यह अहंकार ही उस के और भगवान् के बीच एकमात्र अन्तराय है, इस अहंकार की दीवाल को तोड़-फोड़ कर उसे अनन्त के बृहत् विस्तार के अन्दर चला जाना होगा। इसीलिये अपने लिये नहीं, अपने हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-पराजय के प्रति उदासीन होकर, केवल कर्म के लिये ही कर्म, भगवान् चाहते हैं इसलिये करता हूं—इस भाव से कर्म करना होगा। कर्मयोग का आधार यही फलाकांक्षा से शून्य होकर कर्म करना है—यही आत्मसमर्पण और निष्कामभाव है। इस के बाद जब यह आत्मसमर्पण और निष्काम-भाव और भी पूर्ण, और भी दृढ़ हो जाता है तब फलाफल की तो कोई अपेक्षा रहती ही नहीं, कर्तव्य का ज्ञान, कर्म के ऊपर अधिकार भी लुप्त हो जाता है। उस समय ऐसा भाव हो जाता है कि मेरे लिये करणीय, अकरणीय कार्य कुछ भी नहीं, मेरे लिये उत्सर्ग करने की कोई चीज नहीं, क्योंकि मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूं। भगवान् ही मेरे द्वारा अपना कर्म कर लेते हैं। उस समय भगवान् की विराट् शक्ति साधक के अन्दर आविर्भूत होती है, उस समय साधक स्वतन्त्रताविहीन यंत्र की तरह भगवान् की इच्छा के अनुसार कर्म करता जाता है, वायु के झोंके के साथ उड़ने वाले पत्ते की तरह चलता जाता है। उस समय वह अनुभव करता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूं। मैं

द्रष्टा हूं, पुरुष केवल देख रहा है, प्रकृति ही सब कुछ कर रही है। अन्तिम अवस्था आती है तब जब भागवत प्रकृति की पूर्ण प्रेरणा साधक के अन्दर कार्य करने लगती है। उस समय साधक को 'मैं' का बोध नहीं होता। उस समय वह अनुभव करता है कि मेरी अपनी कोई दृष्टि नहीं, भगवान् की दृष्टि से ही कार्य हो रहा है; मेरा 'मैं' मिल गया है परम पुरुष में और मेरे शरीर, मन और प्राण मिल गये हैं दिव्य प्रकृति में; मेरी व्यक्तिगत प्रकृति विश्व-प्रकृति के साथ ग्रथित होकर परम पुरुष की इच्छा के अनुसार कार्य कर रही है। उस समय भगवान् केवल साधक की संस्कारगत प्रेरणा के अनुसार, उस के पारिपार्श्विक निर्दिष्ट कर्तव्य के अनुसार कार्य नहीं करते, वह अपने को इन के अन्दर आबद्ध नहीं रखते; बल्कि अपनी अलौकिक ऐशी शक्ति के द्वारा अपने अभिप्राय के अनुसार नयी प्रेरणा के अन्दर नया कर्म संपादित करते हैं।

परन्तु साधारणतया कर्मयोगी कर्म से मुक्त होने के लिये कर्म करते हैं। उन के मतानुसार जीव बद्ध है, क्योंकि उस का कर्म है। कर्म का नाश होने पर ही उसे निःश्रेयस्, कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। तब कर्म से विमुख हो कर कर्म का नाश करना सम्भव नहीं। कर्म कर के ही कर्म का क्षय करना होगा। परन्तु अहङ्कार के द्वारा कर्म करने से कर्मबन्धन से मुक्ति नहीं मिल सकती। इस लिये जो-जो कर्म करो सब को भगवान् की यज्ञमूर्ति में आहुति दे दो। इस प्रकार सब कर्म भस्मीभूत हो जायेंगे। भीतर कर्म का बीज नष्ट हो जाने पर भी जितने दिन शरीर रहता है उतने दिन पूर्वसंस्कार की प्रेरणा के वश होकर शरीर कर्म करता रहता है। परन्तु अन्त में यह शरीर भी नष्ट हो जाता है, उस समय पञ्चभूत का बन्धन भी टूट जाता है, उस समय तुम अपने स्वरूप में पहुंच जाते हो और फिर तुम को संसारचक्र में घूमना नहीं पड़ता। उसी समय तुम्हें पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यही साधारण कर्मयोगी का आदर्श है।

परन्तु कर्मयोग को इस प्रकार सङ्कीर्ण बनाये बिना भी काम चल सकता है। कर्म स्वयं बन्धन का कारण नहीं है। बन्धन का कारण है अहङ्कार और अज्ञान। कर्म भगवान् के ही स्वरूप से उत्पन्न हुआ है। चित्-शक्ति की द्युति ही कर्म के अन्दर विकसित हुई है, भागवत आनन्द ही कर्म के अन्दर मूर्तिमान् हुआ है। अहङ्कार का नाश करो, अज्ञान को दूर करो, परन्तु इस का मतलब यह नहीं कि उन के साथ-साथ कर्म का भी नाश हो जायगा, कर्म भी न रहेगा। क्योंकि कर्म का आधार और भी अधिक सत्य और गभीर प्रदेश में स्थित है। वास्तव में सच्चा कर्मयोग तो हमें यह शिक्षा देता है कि अहङ्कार और अज्ञान रूपी भीतर की गन्दगी दूर होने पर कर्म का स्रोत और भी अधिक शुद्ध और विपुल होकर बाहर फूट निकलता है। वास्तव में मुक्ति के बाद ही यथार्थ कर्म का होना सम्भव है, भीतर ब्राह्मी स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रख कर ही हम

बाहर कर्मजीवन के विराट् खेल की सृष्टि कर सकते हैं। उस समय हम जो कर्म करते हैं वह हमारे अन्तरात्मा का, तुरीय का, भागवत प्रतिष्ठा का कर्म होता है—उस समय स्थाणु, मुक्त, अनन्त सत्ता को पीछे की ओर जाग्रत् रख कर सचल शक्ति प्रकट होती है।

अब हम सहज ही समझ सकते हैं कि दो कारणों से मार्गत्रय हमें पूर्ण सन्तोष नहीं प्रदान करता। पहली बात तो यह है कि मार्गत्रय का लक्ष्य केवल आध्यात्मिकता की, स्वरूप की नग्नता है। अधिभूत जो है, रूप जो है, उस की परिपूर्णता भी आध्यात्मिकता है—इस बात को इन तीनों में से किसी ने स्वीकार नहीं किया है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान, प्रेम और कर्म ये मनुष्य की तीनों वृत्तियां परस्पर इस प्रकार घुली-मिली हैं कि उन्हें एक दूसरे से एकदम अलग नहीं किया जा सकता और इस लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के नाम से पृथक्-पृथक् पथ निश्चित करना कृत्रिमता की सृष्टि करना है। जो सच्चा ज्ञानी है उस की ईश्वर में परानुरक्ति अपने-आप होती है। और भगवान् के साथ जो प्रेम करता है उस के अन्दर ही ज्ञान प्रस्फुटित हो उठता है। फिर ज्ञान की, प्रेम की सार्थकता है कर्म के अन्दर—जो कर्मी है उस का कर्म ज्ञान के अन्दर, प्रेम के अन्दर विधृत होता है। इस लिये पूर्णभाव के साधक ज्ञान, प्रेम और कर्म को एक साथ चाहते हैं, अपने को काट कर इन में से किसी एक की एकदम उपेक्षा करने या उसे गौण स्थान देने के लिये वे तैयार नहीं हैं।

हम ने यह देख लिया कि विभिन्न योग-मार्गों की विशेषताएं क्या हैं और साथ ही यह भी देख लिया कि उन के अन्दर किन बातों की कमी है। अब हम किस मार्ग का अनुसरण करें? हम अपने भीतरी और बाहरी सभी स्तरों की, अपनी सारी सत्ता की, सभी शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति चाहते हैं। हम भगवान् को सर्वतोभावेन चाहते हैं, हम उन्हें स्वरूप की नग्नता में भी चाहते हैं और रूप के ऐश्वर्य में भी चाहते हैं। इस उद्देश्य की सिद्धि में हठयोग, राजयोग इत्यादि प्रत्येक मार्ग हमें कुछ-न-कुछ सहायता प्रदान कर सकते हैं। तब क्या हमें इन सब मार्गों का एक साथ अभ्यास करना होगा? परन्तु यह तो सम्भव नहीं। क्योंकि ये सभी मार्ग इतने विभिन्न प्रकार के हैं, प्रत्येक मार्ग का अपना-अपना विशेष नियम, विशेष प्रक्रिया है और वे सब परस्पर इतने विरोधी, इतने सूक्ष्म, इतने जटिल हैं कि यदि इन सब का एक साथ अभ्यास करना पड़े तो हम केवल एक बृहत् विपत्ति की ही सृष्टि करेंगे। और यह भी सम्भव नहीं कि बारी-बारी से एक के बाद एक मार्ग का अभ्यास कर के सब मार्गों में सिद्धि प्राप्त कर लें। क्योंकि एक जन्म में तो यह काम होगा ही नहीं, अनेक जन्मों में भी करना कठिन ही होगा।

अतएव हमें कोई एक ऐसा तत्त्व खोज निकालना होगा जिस में सारे मार्गों का सामञ्जस्य हो सके, एक ऐसा सूत्र पकड़ना होगा जिस में सब मार्गों के गूढ़तम रहस्य गुंथे हुए हों। अगर कोई ऐसी चीज मिल सके तो वही

हमारे आदर्श के लिये उपयोगी हो सकती है। हम सभी योगमार्गों के बाह्य अङ्गों को छोड़ देंगे, गौण स्वरूप को दूर हटा देंगे। ऐसे एक सजीव सत्य को पकड़ेंगे जो सब मार्गों का प्राण हो, जो सब मार्गों को पूर्णता प्रदान कर सकता हो। इसी मूल सत्य के आलोक में हम समझ सकेंगे कि किस मार्ग का कितना सा अंश ग्रहण करना होगा, कितने अंश का त्याग करना होगा और ठीक किस प्रकार से हमें चलना होगा।

—नलिनीकान्त

## मानवसमाज का यथार्थ लक्ष्य

अगर हम मानवजीवन का यथार्थ विधान और जन-समवाय का पूर्ण लक्ष्य हृदयंगम करना चाहें तो केवल मनुष्य के शरीर और प्राण का क्रमविकास समझ लेने से ही काम नहीं चल सकता; इस के लिये हमें यह समझना होगा कि प्रकृति के विवर्तन* में मनुष्य का स्थान कहां है और उस की मानसिक और आध्यात्मिक नियति क्या है। प्राचीन युग के इतिहास की पर्यालोचना करने से हमें पता चलता है कि कभी तो मनुष्य का मन अन्तर्मुखी था और कभी बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी युग में ही मनुष्य नये-नये भावों को प्रचलित करता है, नित्य नवीन दृष्टि से जगत् को देखता है, नये-नये तत्त्वों को खोज निकालता है। बहिर्मुखी युग में वह अपने सच्चे स्वरूप, अपनी यथार्थ नियति, अपने जीवन-विधान को केवल आंशिक रूप में ही समझ पाता है। जितना वह समझ पाता है उसी को वह बाहरी रूप देता है, और प्राकृतिक परिस्थिति के अनुसार जीवन को गठित करता है। और फिर जब वह अपने अन्तरतम प्रदेश में प्रवेश करता है तब वह हृदयंगम करता है अपना असीम वीर्य और सामर्थ्य, अनुभव करता है अपना विराट् भविष्य, उस के सामने खुल जाता है एक अभिनव जीवनधारा का पथ। श्रीअरविन्द की भाषा में, He discovers his real place in nature and opens his eyes to the greatness of his destiny।

सत् का अर्थ ही है एक असीम अनन्त अनिर्देश्य सत्य। किन्तु इहलोक में उस का आधार, उस का आरंभ है जड़-पिण्ड, firm substance। आकाशके अगणित ग्रहताराओं में से एक हमारी यह पृथ्वी है, इस पृथ्वी के वक्षः-

---

*विवर्तन और निवर्तन श्रीअरविन्द के दर्शनशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। ब्रह्म का लीलामय जगत् को रचने में जो प्रकृतिमें उतरना है वह है निवर्तन और फिर प्रकृति में जड़ से प्राण और प्राण से जो मन आदि का विकास है वह है विवर्तन। सं०

स्थल पर असंख्य जड़ वस्तुएं हैं, अनगिनत जीवों के जड़ शरीर हैं। यही तो सृष्टि की बुनियाद है। इन्हीं सब वास्तव देह-रूप आवरणों के अन्दर प्रत्येक जीवका जीवन-विधान निर्दिष्ट होता है। दृश्यमान जगत्का वैचित्र्य अद्भुत है। किन्तु उस के मूल में है अखण्ड एकत्व। एक ही पृष्ठभूमि के ऊपर एक ही नियम के अनुसार समग्र जीवन-विधान विहित है। तो भी प्रत्येक श्रेणी का अपना-अपना विशेषत्व है और उसी विशेषत्व ने जगत् के नाना रंगों, नाना आकृतिओं, नाना गंधों का एक अपूर्व समन्वय स्थापित किया है। नाना प्रकार के विचित्र, चमकीले रंगों के सूतों के द्वारा विश्वकर्मा ने इस आश्चर्यजनक सुन्दर किमखाब की चादर को तैयार किया है। निश्चेतन जड़पदार्थ के अन्दर वैचित्र्य सीमित हो गया है। यहां श्रेणी-वैचित्र्य तो है, पर श्रेणी-स्थित वस्तुओं में बहुत कम प्रकार-भेद है। जल, सोना और कोयला ये विभिन्न श्रेणियों की चीजें हैं। इन में आपस में काफी भेद है। परन्तु एक सेर जल या सोना या कोयला कहने से प्रत्येक का स्वरूप और परिमाण निश्चित हो जाता है। एक सेर सोना सर्वदा और सर्वत्र एक सेर सोना ही रहेगा। एक सेर जल या कोयला सर्वत्र और सर्वदा एक सेर जल या कोयला ही रहेगा। यही जगत् की आदिम अवस्था थी। परन्तु प्राणशक्ति का विकास होते ही सारा मामला ही उलट गया। प्रत्येक चूहा या बिल्ली या घोड़ा अन्य सभी चूहों या बिल्लियों या घोड़ों के समान नहीं होता। श्रेणीगत गुण एक ही हैं, पर व्यक्तित्व का विकास भी आरंभ हो गया है। जब प्राणी के अन्दर मन-बुद्धि का विकास हुआ तब व्यक्तिगत वैशिष्ट्य और गुणावली और भी अधिक बढ़ गयी। आत्मचेतन मन व्यक्तिमात्र के अन्दर अपूर्व वैचित्र्य प्रस्फुटित करने लगा। श्रीगुरु के शब्दों में, In proportion as life grows and still more when mind emerges, the individual also arrives at the power of variation. इसी प्रकार मनुष्य ने मनुष्य रहते हुए भी अपने व्यक्तिगत विधान के अनुसार अपने पथ पर लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का अधिकार प्राप्त किया है।

यह जो व्यक्तित्व का विकास है यही मनुष्य का मनुष्यत्व है। निम्न स्तर के प्राणियों के साथ मनुष्य का पार्थक्य इसी बात में है। मनुष्य की मानसिक चेतना ने मुक्ति पायी है, उस का संकल्प, उस की इच्छाशक्ति जाग्रत् हुई है, वह अगर चाहे तो अपनी संकीर्ण और ससीम सत्ता को अतिक्रम कर ऊपर उठ सकता है। अवश्य ही, उस का जड़ शरीर, आधे प्रकाश और आधे अन्धकार का अभ्यासी उस का मन उसे खींचकर नीचे ले आने का प्रयास करेगा। परन्तु उस की प्रकृष्ट चेतना, उस की शुद्ध बुद्धि, उस का उच्च संकल्प उसे ऊर्ध्वगामी बनावेगा। मनुष्य की विजययात्रा नियतिनिर्दिष्ट है, यद्यपि अभी तक इस की अनुभूति उसे नहीं हुई है। आज भी वह अपनी पारिपार्श्विक अवस्था के साथ युद्ध कर रहा है, उस का मन तो उसी ओर लगा हुआ है! अपने बुद्धिबल से उस ने अपने इर्दगिर्द की अवस्थाओं पर नाना प्रकार का प्रभाव तो डाला है, पर यहीं आकर तो वह नहीं रुक सकता! श्रीअरविन्द

कहते हैं, He can..get to the consciousness of the Reality..and possess the Self, the Idea, the Will, which have constituted him. इतनी दूर उस की दौड़ है, परन्तु यहां पहुंचने के लिये उसे ज्योतिर्मय अतिमानस का आवाहन करना होगा और उस के आलोक में देखना होगा उन विराट् पुरुष को जो विश्व में सर्वत्र अनुस्यूत हैं, विश्व जिन के पराक्रम के प्रकाश के सिवायं और कुछ भी नहीं है। केवल दर्शन नहीं, उस अद्वितीय अखण्ड के साथ एक हो जाना होगा। शक्ति, चेतना, संकल्प और ज्ञान में अभिन्न हो जाना होगा। उस समय मनुष्य-जीवन ब्रह्म में सार्थक होगा, ब्रह्म मनुष्यजीवन में सार्थक होंगे। उस दिन मनुष्य केवल अपने-आप को ही नहीं पायेगा, अपने-आप को भी पायेगा, विश्व को भी पायेगा, यही उस की नियति है, यही उस के व्यष्टिगत और समष्टिगत जीवन का तात्पर्य है।

यह क्रमोन्नति प्रधानतया व्यक्ति के अन्दर साधित होती है। क्योंकि एक-एक व्यक्ति एक एक जीवात्मा है, अद्वितीय परमात्मा का एक-एक विभिन्न आधार में प्रकाश है। श्रीअरविन्द के शब्दों में, that the One may find and manifest Himself in each humanity and all humanity. यहां each और all दोनों शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। व्यष्टि और समष्टि दोनों के अन्दर वह अपने-आप को प्रकट कर रहे हैं।

मनुष्य सहायता पाये बिना केवल अपनी मानसिक शक्ति के द्वारा यह उपलब्धि नहीं कर सकता—यह निश्चित है। अवश्य ही एक ओर वह सहायता पायेगा अपनी ही प्रचेतन सत्ता के अन्दर प्रच्छन्न रूप से अवस्थित दिव्य ज्ञान से और दूसरी ओर अपने पार्थिव पास-पड़ोस से, प्रकृति और जनसमाज के अन्दर अधिष्ठित देवता की शक्ति से। व्यष्टि और समष्टि या विश्व के पारस्परिक सम्बन्ध का रहस्य यही है। All life around him is a help towards the divine purpose in him—जगत् का प्रत्येक जीव मनुष्य को उस की परम सत्य की उपलब्धि में सहायता प्रदान करेगा। संभव है कि वह इस सहायता का अपव्यवहार करने की चेष्टा करे, पर सब कुछ के पीछे जो दिव्य संकल्प गुप्त रूप से विद्यमान है, वह उस की सभी भूल-चूक सुधार लेगा। यह जो हम ने दूसरों की सहायता की बात कही वह मित्रता के रूप में भी आ सकती है, विरोध के रूप में भी आ सकती है। दोनों का फल एक ही होगा, दोनों ही व्यक्ति के क्रमविकास के लिये अनुकूल शक्तियां सिद्ध होंगी। सब से बड़ी बात यह है कि व्यक्ति केवल अपने मंगल के लिये ही नियति के निर्देश का अनुसरण नहीं करता, बल्कि करता है अपनी समूची जाति के लिये। अकेले मुक्ति पाना उस का लक्ष्य नहीं है, समग्र प्रकृति के उत्तरण की वह कामना करता है। इसी कारण उस के अन्दर सच्ची प्रेरणा उत्पन्न करता है विराट् विश्व-संकल्प, उस का अपना क्षुद्र संकल्प नहीं।

इसीलिये जब मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप, स्वभाव और नियति को जान लेगा, समझ लेगा

तब उस का सम्मिलित उद्देश्य होगा ऐसी एक पारिपार्श्विक अवस्था की सृष्टि करना जिस में व्यक्ति, श्रेणी, सम्प्रदाय और जाति का कोई भी ख्याल न कर समग्र मानव-महाजाति दिव्य पूर्णता की ओर धीर-स्थिर गति से अग्रसर होगी। और मनुष्य जैसे-जैसे दिव्य रूप ग्रहण करता जायगा वैसे-वैसे उस के जीवन में आत्मा की ज्योति, शक्ति, सौन्दर्य, सुसंगति और परमानन्द प्रकट होते जायेंगे। यह दिव्य रूप विभिन्न युग में विभिन्न प्रकार का होगा, किन्तु साधारण मनुष्यजीवन एक समान चलता रहेगा मुक्ति और पूर्णता की ओर। व्यक्ति की मुक्ति होगी, समष्टि में सुसंगति स्थापित होगी। व्यक्ति-व्यक्ति में, श्रेणी-श्रेणी में, जाति-जाति में, विरोध वा असंगति नहीं रहेगी, प्रत्येक अव्याहत स्वतंत्रता के साथ महामानव के जीवन को पूर्ण से पूर्णतर सार्थकता की ओर ले जायगा। यही प्रयास मनुष्य अपनी अर्द्ध-विकसित दृष्टि के साथ चिरकाल से करता आ रहा है। किन्तु आत्मज्ञान और आत्मकर्तृत्व के अभाव के कारण वह सफलमनोरथ नहीं होता। हम अपने गन्तव्य स्थान के जितने ही निकट पहुंचेंगे उतनी ही हमारी गति सहज और स्वच्छन्द होगी। अन्तर में विराजमान पुरुष ज्ञान और ज्योति के साथ संकल्प का सामंजस्य स्थापित कर हमारे जीवन को पूर्णतर बनावेंगे।

मनुष्य तो विराट् पुरुष का ही पृथ्वी पर आत्मविकास और आत्मप्रकाश है। विभिन्न जातियों में बाहरी भेद चाहे जितना भी क्यों न हो, सभी मनुष्य अन्तर में, स्वरूप में, देह में, प्राण में, मन में एक ही सत्ता हैं। एक ही नियति के वश समूची मनुष्य-जाति युग-युगान्तर से एक ही पथ से अग्रसर हो रही है। उस की गति कभी आगे की ओर मालूम होती है और कभी पीछे की ओर, किन्तु वास्तव में वह धीर-स्थिर भावसे सदा-सर्वदा अपने चरम लक्ष्य के पथ पर ही आगे बढ़ती जा रही है। इतिहास से हमें मालूम होता है कि व्यष्टि और समष्टि के भाग्य में कितनी जय-पराजय घटित हुई हैं, कितने मनुष्योंने, कितनी जातियों ने कीर्ति उपार्जित की है, कितने प्रकार से दूसरों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित किया है, उन्हें दबाया है, शासित किया है, किन्तु सब कुछ अर्थहीन ही है Except in so far as it adds something or recovers something or preserves something for the human march—केवल उतने भर का ही अर्थ है जितना मानव-जाति के क्रमविकास में सहायक हुआ है। इसी लिये शास्त्र के मतानुसार लोकसंग्रह ही—The holding together of the race in its cyclic evolution—मनुष्य के कर्म का यथार्थ उद्देश्य है।

समग्र मनुष्यजाति के क्रमोत्तरण की यही असली बात है, इस में कोई सन्देह नहीं। परन्तु समष्टि की क्रमोन्नति में व्यष्टि का क्या स्थान है— यह भी समझना होगा। क्या व्यक्ति समाजरूप यंत्र का केवल प्राणहीन कील-कब्जा ही है, समाजरूप देह का केवल अवचेतन जीवकोष ही है? गुरुवर कहते हैं, कदापि नहीं, यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति विराट् पुरुष का ही आधार है, विश्व का समस्त सामर्थ्य उस के

अन्दर केन्द्रीभूत है, दिव्य ज्योति का दर्शन होते ही वह घोषित करेगा, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहम् । प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार मार्ग पकड़ कर अपना जीवन सार्थक करना होगा । तभी तो परम सत्य के कल्याण-तम रूप का दर्शन उसे प्राप्त होगा ? तभी तो वह अपने अन्दर व्यक्ति, विश्व और विश्वातीत को एक साथ देखेगा ? श्रीअरविन्द के शब्दों में, But within this general nature and general destiny of mankind each individual human being has to follow the common aim on the lines of his own nature । व्यक्ति का जो यह अपना स्वरूप और स्वभाव है उसे स्वयं उसी को खोज निकालना होगा, प्रस्फुटित करना होगा, अन्तर के केन्द्र से उसे चारों ओर विकीर्ण करना होगा । राष्ट्र और समाज, राजा और समाजपति, शास्त्र और शास्त्री, धर्म और धर्मोपदेशक, कभी तो उसे सहायता देंगे और कभी उसे बाधा देंगे । उस की आत्मोपलब्धि उस के अपने हाथ में है, उसे निर्भय होकर अपने पथ पर अग्रसर होना होगा । Always he is the traveller of the cycles and his road is forward ।

यह बिलकुल ठीक है कि उस की जीवन-धारा, उस की अभिव्यक्ति जगत् के लिये है। परन्तु वह अगर स्वयं अपने आप को न ढूंढ सके तो फिर वह जगत् को देगा क्या ? जब वह अपने अन्तःपुरुष को प्राप्त करेगा तभी तो वह मुक्त उदार दृष्टि से विश्व की ओर देख सकेगा ? क्रमोत्तरण के मार्ग में मनुष्य नाना प्रकार के आदर्शों के संस्पर्श में आता है, नाना प्रकार के संघटन और श्रृंखला की अभिज्ञता प्राप्त करता है । उन सब को वह अपनी आवश्यकता के अनुसार अवश्य ही कार्य में लगायेगा, पर काम होते ही उन्हें झाड़ कर फेंक देगा, निरर्थक बोझ अपने कंधे पर रख कर कभी दुरूह पथपर अग्रसर नहीं होगा। यही भूत और वर्तमान काल के मनुष्यों की भाव-धारा है, उन की संचित अभिज्ञता से भी मनुष्य को प्रेरणा प्राप्त करनी होगी । क्योंकि दृष्टि की संकीर्णता एकान्त वर्जनीय है । पर यह जो दूसरों का विचार, भाव या अभिज्ञता है उस का अपनी सत्ता के साथ हमें मेल बैठाना होगा, अन्यथा हमारी स्वच्छन्द स्वाभाविक अग्रगति को बाधा पहुंचेगी। व्यक्ति जो स्वातन्त्र्य चाहता है वह उस की अहमिका का विद्रोह नहीं है, बल्कि उस के अन्तःपुरुष का आत्मप्रकाश है—The law of the Self ।

व्यक्तिगत मनुष्य और मानव-महाजाति के विषय में तो कुछ आलोचना यहां हुई, पर श्रेणी, संप्रदाय, जाति इत्यादि जनसमवाय का स्थान कहां है ? इन के साथ व्यष्टि या समष्टि का क्या संबन्ध है ? श्रीअरविन्द कहते हैं, The community stands as a mid-term and intermediary value between the individual and humanity — अर्थात् श्रेणी या जाति को व्यष्टि और समष्टि का मध्यस्थ कहा जा सकता है । मध्यस्थ शब्द ही एक प्रकार के विरोध की सूचना देता है। व्यक्ति और महाजाति के बोच जो असामञ्जस्य और आपातविरोध है उस का समाधान करना

ही इस मध्यस्थ का आवश्यक कार्य है। जाति व्यक्ति को भी सहायता करती है, महामानव की भी सहायता करती है, उन दोनों के बीच सुसंगति स्थापित करती है। श्रीगुरु के शब्दों में, help them to fulfil each other। व्यक्ति जातिके या श्रेणी के अन्तर्गत होता है इस में तनिक भी संदेह नहीं। जो मनुष्य आदर्श, भावधारा, कर्मधारा, जीवनयात्रा आदि में जिस जनसमवाय के साथ युक्त होता है उसे उसी समवाय के अन्तर्गत समझना ही होगा। इसी प्रकार ही कार्यतः समाज, सम्प्रदाय आदि उत्पन्न हुए हैं। आजकल सब से प्रधान जनसमवाय है जाति, nation या राष्ट्र। आज एकराष्ट्रीयता को ही यथार्थ अच्छेद्य मिलन-सूत्र माना जाता है। व्यक्ति अपनी भावना और कार्य के द्वारा इस राष्ट्र को ही परिपुष्ट और समृद्ध करता है और यह विश्वास करता है कि राष्ट्र के द्वारा ही विश्वमानव का जीवन सार्थक होगा। परन्तु इस विषय में यही अन्तिम बात नहीं है। मनुष्य के सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र का निर्देश कर देने से ही उस के स्वरूप का ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो जाता। स्वभावमुक्त मनुष्य को समवायबन्धन कभी पूरे तौर पर नहीं बांध सकता। किसी व्यक्ति को हिन्दू या ईसाई, ब्राह्मण या क्षत्रिय, कृषक या जुलाहा, जापानी या जर्मनी बतला देने से ही उस के स्वरूप का पूरा परिचय नहीं मिल जाता। क्योंकि व्यक्ति ऐसे किसी एक समवाय के अन्तर्गत होने पर भी वह विश्वमानव के अन्दर का एक मनुष्य है। और केवल इतना ही नहीं, उस के अन्तर में प्रच्छन्न रूप से विराजमान है दिव्य ज्योतिपूर्ण विश्वातीत सत्ता। पर साथ ही यह भी सत्य है कि वह स्वयं भी अपने-आप को संकीर्ण सीमा में आबद्ध करना चाहता है और इच्छापूर्वक आबद्ध रखता है। यद्यपि रखता तो है, परन्तु उस का अन्तःपुरुष भी सदा विकसित होकर बाहर प्रकट होने की चेष्टा करता है। यही मनुष्य के मनुष्यत्व का गूढ़ अर्थ है, यहीं पर पशु के साथ उस का अन्तर है।

तथापि विश्वमानव इतना बड़ा, विशाल जनसमवाय है कि उस के साथ व्यक्ति का अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित होना आसान नहीं है। इसी कारण छोटी छोटी समष्टियों की आज भी जगत् में प्रतिष्ठा और सार्थकता है। परन्तु दुःख की बात यह है कि इन का संकीर्ण स्वार्थ, अहंकार और विरोध मानव की उन्नति में बाधक हो रहा है। ऐसी बात नहीं है कि कार्यतः छोटे-छोटे समाजों और राष्ट्रों की कोई उपयोगिता नहीं। समाज होने में ही कोई हानि नहीं, यदि समाजगत अहंकार न हो। यदि इन में से प्रत्येक समाज यह समझता कि मैं जैसे स्वतन्त्र हूं वैसे ही दूसरे भी स्वतन्त्र हैं तो फिर विरोध को आने का मौका ही नहीं मिलता। बल्कि विभिन्न समाज या जातियां परस्पर मिल-जुलकर मनुष्य की अभिव्यक्ति में सहायता करतीं। राष्ट्र के अन्दर व्यक्ति-व्यक्ति में एक विषय में एक प्रकार का समझौता हो गया है, अदालत, पुलिस और पल्टन व्यक्ति की रक्षा करती है। किन्तु राष्ट्र या जातियां आज भी स्वाधीनता की सीमा को स्वीकार करना नहीं चाहतीं। स्वाधीनता का अर्थ ही मानती हैं यथेच्छाचार। प्राचीन theocratic control का अर्थात् राजगुरु, पोप

या उलमा का निषेध नामक किसी वस्तु का आज कोई स्थान नहीं। जितनी सी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था हुई थी वह प्रायः एक हास्यास्पद वस्तु बन गयी है। छोटी-छोटी जातियों या राष्ट्रों के लुप्त हो जाने की कोई आवश्यकता नहीं, बल्कि उन के रहने से मानव-जीवन की विचित्रता सुरक्षित रहेगी। श्रीअरविन्द कहते हैं कि इन सब का उपयोग है for the concentration and combination of varying tendencies in the total human aggregate। पर यह समझ रखना नितान्त आवश्यक है कि इन्हें किसी तरह व्यक्ति के क्रमोत्तरण में व्याघात नहीं पहुंचाने देना होगा। इस विपरीत और असंभव मांग को सदा के लिये रद्द कर देना होगा कि साम्प्रदायिक या राष्ट्रीय जीवन ही चरम काम्य है और उस काम्य की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को और विश्वमानव को रास्ता छोड़ कर अलग हो जाना होगा, अन्यथा अभिव्यक्ति का द्वार बन्द हो जायगा। इस मांग को गुरुवर युक्ति की विकृति, aberration of the human reason, कहते हैं, जिस तरह व्यक्तिगत संकीर्ण अहमिका मूल सत्य की विकृति है।

यह मूल सत्य क्या है—इस बात को हम लोग जानते हैं। व्यक्ति या जाति या विश्व-मानव ये सब एक परम पुरुष के, एक ही शुद्ध सत् के आत्मप्रकाश हैं। इन में वास्तव में कोई असंगति नहीं है, रह भी नहीं सकती। प्रकृति के क्रमोत्तरण के मार्ग में इन तीनों का काम है, तीनों का ही स्थान है। राष्ट्रजीवन का अर्थ है एक ही देश के रहने वाले, एक लक्ष्य की खोज करने वाले बहुत से मनुष्यों का सम्मिलित जीवन। उस की अपनी विशेषता है, अपनी विचारधारा और कर्मधारा है, अपना जीवन-विधान है। वह उसी विधान के अनुसार अपने मनुष्यों को पूर्णता की ओर ले जायगा। पर फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय सुसंगति और मैत्री की अत्यन्त आवश्यकता है। कारण, सभी राष्ट्र वास्तव में एक ही व्रत ग्रहण किये हुए हैं और वह व्रत है महामानव की अभिव्यक्ति। मनुष्य की इस चरम नियति में राष्ट्र-राष्ट्र के बीच किसी झगड़े वा विरोध का कोई स्थान नहीं। उसी तरह, प्रत्येक राष्ट्र को पूरा अधिकार है कि वह अन्य राष्ट्रों के जोर-जबर्दस्ती और अत्याचार से अपनी रक्षा करे। इस अधिकार की रक्षा उसे करनी ही होगी—अपने लिये उतना नहीं जितना समस्त मानव-जाति के लिये। अगर वह जड़ता या कापुरुषता के कारण अपने अधिकार को क्षुण्ण होने दे तो इस का अर्थ है कि उस ने सब की क्रमोन्नति के मार्ग को बन्द कर दिया, मनुष्य की चरम नियति पूर्ण होने के दिन को दूर हटा दिया।

व्यक्ति और राष्ट्र दोनों को अधिकार है to be oneself, अर्थात् यह कहने का अधिकार है कि हम जो कुछ हैं वही रहेंगे। इस का अर्थ ऐसा नहीं है कि व्यक्ति या जाति अपने सङ्कीर्ण मतवाद, अपने कुसंस्कार, अपनी अपूर्णता का जामा पहने हुए जगत् में चिरकाल तक अकेली ही रहेगी, किसी के साथ लेन-देन का व्यवहार नहीं रखेगी। So it cannot grow or perfect itself। जिस तरह व्यक्ति अन्य व्यक्ति के साथ आदान-प्रदान कर के अपने

जीवन को समृद्ध बनाता है उसी तरह जाति भी बनाती है। पर दूसरों से ली हुई वस्तु को अगर अपना न बना लिया जाय तो फिर उस से कोई स्थायी लाभ नहीं होता। इन सब विषयों में जोर जबरदस्ती करने से उस का फल शोचनीय ही होता है। जो कुछ लेना होगा वह अपनी इच्छा के अनुसार लेना होगा, उसे अपनी जीवनधारा में मिला लेना होगा, तभी वह चीज जीवन्त रह सकती है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जाति या राष्ट्र की उन्नति स्वेच्छाधीन और आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार होनी चाहिये, तभी वह विश्वमानव की अभिव्यक्ति के अनुकूल होगी, अन्यथा नहीं। श्रीअरविन्द के शब्दों में, The free development of the community or nation from within is the best condition for the growth and perfection of mankind।

अतएव सब से आवश्यक चीज है free development from within – अन्तर से होने वाली परिणति—व्यक्ति, जाति, और विश्वमानव के लिये भी। इन तीनों सत्ताओं का क्रमविकास पूरे सामञ्जस्य के साथ होता रहेगा, एक दूसरे को खर्व नहीं करेगा। पहले व्यक्तिगत उन्नति के लक्षणों को देखें। अपनी इच्छा के अनुसार आन्तरिक प्रेरणा से क्रमविकास, दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता की स्वीकृति, जनसमाज की जीवनधारा के साथ सुसंगति, विश्वमानव की अभिव्यक्ति के साथ ताल रखते हुए चलना यह सब व्यक्तिगत विकास का विधान है। दूसरे जाति या जनसमाज की प्रगति का विधान देखें। यहां भी मूलनीति है अन्तर की प्रेरणा तथा अन्य जातियों की स्वाधीनता के प्रति श्रद्धा तथा व्यक्ति और विश्वमानव के क्रमोत्तरण के साथ सामञ्जस्य रखना। तीसरे विश्वमानव के क्रमविकास को देखें। इस का मन्त्र है व्यक्तिगत और समाजगत क्रमपरिणति की पूर्ण सहायता लेकर धीर-स्थिर भाव से ऊपर उठना। इस का लक्ष्य है आत्मोपलब्धि तथा मनुष्य के अन्दर दिव्य शक्ति का जागरण— to pursue its upward evolution to the finding and expression of the Divine in the type of mankind। एक दिन सभी मनुष्य अभेद अनुभव करेंगे इस में संदेह नहीं, किन्तु उस दिन भी विश्वमानव व्यक्ति और जाति को खर्व नहीं करेगा। यह विधान स्वभावतः अपूर्ण मनुष्य के लिये दुर्लभ है। संभव है बहुत दिनों तक मनुष्य उसे प्राप्त न कर सके। आज तक वह नाना प्रकार के विपर्यय, जोर जबर्दस्ती, असंतोष और विद्रोह के भीतर से होता हुआ अग्रसर हुआ है। ज्ञान की उदारता, मन की नमनीयता, स्वभाव की शुद्धता के अभाव के कारण अब तक वह स्वतंत्रता और सुसंगति का पथ नहीं पकड़ पाया है, जबर्दस्ती, विरोध और तोड़-जोड़ के मार्ग का ही अनुसरण करता रहा है।

तथापि आज जगत् की सभी जातियों ने एक दूसरे को जानना पहचानना सीखा है। एक दूसरे के बीच की दूरी कम होती जा रही है, परिचय घनिष्ठ होता जा रहा है। सुदूर भविष्य में एक प्रकार के एकत्व के होने की कल्पना, अस्पष्ट रूप में ही सही, किसी-किसी के मन में जग रही है। आकाश अभी

भी तमसाच्छन्न है, किन्तु पूर्व दिशा में मानो प्रकाश की आभा दिखाई दे रही है। मनुष्य अपनी दृष्टि को यदि भीतर की ओर ले जाय, यदि वह अपने अन्दर की गहराई में पैठ जाय तो फिर चरम सत्य उस की आंखों के सामने प्रकट होगा ही। उस समय आत्मोपलब्धि का दरवाजा उस के सामने खुल जायगा। अवश्य ही अपने अहं को पूर्ण रूप से त्याग किये बिना मन्दिर में प्रवेश करना निषेध है। फिर भी जब वह अपना यथार्थ स्वरूप, अपने जीवन का यथार्थ विधान समझ लेगा तब एक दिन अहं भी अवश्य दूर हो जायगा।

—चारु चन्द्र दत्त

[श्रीअरविन्दकी 'Psychology of Social Development' नामक 'आर्य' में प्रकाशित लेखमाला का सारांश 'श्रीअरविन्द-मन्दिर' में धारावाहिक प्रकाशित हो रहा है। उसी के एक अध्याय का हिन्दी अनुवाद यहां दिया गया है। सं०]

---

## आज नूतन जन्म हो

हे अनिन्दित सुन्दरी उषे! आ, तेरे विस्तृत दिव्य आलोक भरे आंचल में हमारा नूतन जन्म हो।

हे विजया मातः दुर्गे! वीर वेश सजा कर आ। हे पूर्ण भगवती! आ, आज तेरी रक्षा में स्वातन्त्र्यगान हो।

नये प्रकाश की किरण फूट पड़ी है। अरुणोदय हो चला है। इस शुभ अरुणोदय-वेला में हमारा पुनरुत्थान हो।

मंगलमयी महेश्वरी! चारों दिशाओं से पक्षीगण चहचहाते हैं। आज इस प्रकाश और संगीत में हमारा नव जन्म हो।

प्रत्येक दिवस का प्रत्येक क्षण हमारे अंदर नवोल्लास की मधुर तान छेड़े और, हे दिव्य मां! तेरी परम उत्कृष्ट ज्योति की ओर सतत उन्मुख करे। हम तेरे पावन चरणों में प्रणाम करते हैं।

हे चिन्मयी! ललित मुस्कान के साथ तेरा आविर्भाव हो रहा है। हम तेरे परम स्वरूप को देखने के लिये उत्सुक हैं। हे उषे! आ, और हमें दिव्य स्वरूप को देखने के लिये दिव्य दृष्टि प्रदान कर। हम तेरे पावन चरणों में प्रणाम करते हैं।

हे स्वर्गीय आभा से युक्त! तू हमारी प्रेममयी मां है। तेरे आशीर्वाद से हम तेरे प्रति सचेतन हो रहे हैं। तेरी करुणा से हम तेरे पास आ रहे हैं। तेरे प्रेम से हम तुझे प्राप्त कर रहे हैं। और तू ही है जो हमें क्षण प्रतिक्षण में नूतन जन्म दे सकती है। आज तेरे प्रकाश और संगीत में हमारा नूतन जन्म हो। हम तेरे पावन चरणों में प्रणाम करते हैं॥

—विद्याव्रत

## ओ आगामी

आजा, आजा, हे आगामी !
तू आवे तो सब कुछ आवे,
दिव्य सम्पदा तव अनुगामी ।

जागृत और निद्रित स्वप्नों के
भवन खड़े तव एक सहारे,
आशा, इच्छा और कल्पना
तेरे बल निज काज संवारे ।

तव आवन की मन्द-मन्द ध्वनि
सुनते थे बस विरले ज्ञानी ;
गूंज उठे अब ऐसी भेरी
सुन लें जिस को सारे प्राणी ।

वर्त्तमान प्रति असन्तोष की
ज्वाला को तू ही धधकाता,
उज्ज्वल भावी को चित्रित कर
नर को आगे खूब बढ़ाता ।

आश्वासन पा सबल हृदय से
करें प्रचारित जय जय वाणी ;
टूट पड़ें रिपु के दल-बल पर
असुर विहीन बनावें धरणी ।

युग-युग में अरु देश-देश में
स्वर्ण-स्वप्न के बीज बखेरे ;
अवनीतल पर स्वर्ग-राज्य के
प्रबल भाव तेरे ही प्रेरे ।

अश्रु-धौत, धूली में लुण्ठित,
बन्धन-जकड़ो धरती माता
उठ बैठे अरु धन्य-धन्य हो
सम्मुख पा निज मुक्ति-प्रदाता ।

गूढ़, अलक्षित, अन्य लोक से
तू ने अपना यह काम किया,
फूट पड़े अब आभा तेरी
बाधा विरोध का फाड़ हिया ।

नवयुग का बस सूत्रपात हो
सुन्दर प्रभात की वेला में ;
देव-प्रजननो होवे धरणी
देवाधिदेव की रक्षा में ।

# जिज्ञासुओं की सेवा में

कई चिट्ठी-पत्री करने वाले जिज्ञासु भाई यह चाहते हैं कि उन की जिज्ञासा का उत्तर 'अदिति' पत्र द्वारा दिया जाय तो अच्छा हो, जिस से कि अन्य पाठक भी उन उत्तरों से लाभ उठा सकें। ऐसे ही दो भाइयों के प्रश्न उत्तर सहित नीचे दिये जाते हैं। पहिला प्रश्न एक सार्वजनिक कार्यकर्ता का है, बाकी के प्रश्न एक दूसरे प्रतिष्ठित महानुभाव के हैं। दोनों ही अदिति के पाठक हैं।

## स्वार्थ और परार्थ

प्रश्न—वैदिक ग्रन्थों में जहां तहां स्वार्थ को छोड़ने और परमार्थ अर्थात् यज्ञ को करने का विधान है परन्तु दूसरी तरफ महाभारत के हवाले से कहा जाता है कि "सर्वः स्वार्थं समीहते" अर्थात् सब कुछ स्वार्थ पर आश्रित है।

यदि सब कुछ स्वार्थ पर आश्रित है—इस को ठीक मान लिया जाय तो फिर यज्ञ अर्थात् परमार्थ का क्या होगा ? प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करे उसे यह समझ कर करे कि उस से स्वयं को लाभ होगा या यह समझ कर करे कि उस से दूसरों को लाभ होगा।

उत्तर— यज्ञ के अन्दर स्वार्थ तथा परार्थ अन्त में एक हो जाते हैं। सच्चे स्वार्थ में परार्थ भी निहित होता है। और सच्चे परार्थ, परोपकार से अपना भी वास्तविक भला होता है। इस लिये मनुष्य को यह समझ कर काम करना चाहिये कि उस से स्वयं उसे भी लाभ होगा और दूसरों को भी। यज्ञ में यही भावना होती है। यज्ञ में जिस स्वार्थ का बलिदान करना होता है वह अपना क्षुद्र स्वार्थ होता है, विशाल स्वार्थ का नहीं। यज्ञ की ऊंची अवस्था में पहुंच कर सब दूसरे लोग भी हम ही हो जाते हैं, सब पराये दीखने वाले 'स्व' हो जाते हैं, पराये नहीं रहते। इसी लिये वहां परोपकार और स्वोपकार का भेद नहीं रहता।

## सबल या निर्बल आत्मा

प्र०—अब तक तो मैं यही समझता रहा कि संस्कार जमा रहने के कारण समय समय पर अपना रूप सामने कर देते हैं, अब आप के लेखों से मालूम हुवा कि वासनायें और इच्छायें प्राण में रहती हैं, मन उन का आकार या प्रतिकार (क्रिया या प्रतिक्रिया) बनाता है। साधकों की अवस्था कई वार ऐसी देखी गयी है कि कभी तो वे एकान्त में बैठे जप भी कर रहे हैं और मन विषय-वासना में बहा जा रहा है और रस ले रहा है, मगर थोड़े मिनटों में प्रभु से प्रार्थना करने लगता है कि प्रभु मुझे पाप से बचाओ, कभी रोने लग जाता है और फिर रोने के घन्टा दो घन्टा पश्चात् वही अवस्था विषय में बहे जाने की हो रही है। मन को

डांट डपट करता है तो वह नहीं मानता, प्यार और नम्रता से कहता है तो नहीं मानता और कभी मान भी जाता है और रोने लग जाता है। साधक पाप करना ही नहीं चाहता और फिर बह भी जाता है। आत्मा की निर्बलता और बल का सब दारोमदार (अवलम्ब) तो मन पर ही है। मन निर्बल है तो आत्मा बलवान् कैसे हो सकती है। और मन की दो-रंगी, रोना और बह जाना, यह मन का है या आत्मा-का भी?

उत्तर— संस्कार जमा रहने की बात भी ठीक है। संस्कार अवचेतन में रहते हैं। सो वासनायें प्राण के अवचेतन भाग में रहती हैं। हम लोग उसे साधारणतया चित्त या मन कहते हैं, पर असल में वह प्राण का अवचेतन भाग है जहां इच्छायें, वासनायें सुप्त रूप में रहती हैं। विषय का आनन्द लेना और रोना यह भी प्राणमय पुरुष का कार्य है, मनोमय का नहीं।

पर आप जो मुख्य बात पूछना चाहते हैं वह यह है कि आत्मा का इस से क्या सम्बन्ध है। आत्मा तो असल में बलवान् ही है, वह निर्बल नहीं है। फिर भी हम 'निर्बल आत्मा' यह शब्द एक विशेष अर्थ में बोलते हैं। जिस मनुष्य का आत्मा (अन्तरात्मा, हृत्पुरुष) अपने मन, प्राण, शरीर पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता तो उसे हम निर्बल आत्मा कहते हैं, कह सकते हैं। यह वह अवस्था है जब आत्मा विकसित नहीं हुवा, आगे नहीं आया, या नेता नहीं बना। इस लिये मन के निर्बल होने से आत्मा निर्बल होता है यह ठीक नहीं है। बल्कि आत्मा के बलवान् होने से मन भी— और फिर क्रमशः प्राण भी, शरीर भी—बलवान्, अपनी अपनी सामर्थ्य से युक्त होते हैं वही ठीक है। स्थूल शरीर (अन्न) के अन्दर प्राण है, प्राण के भी अन्दर मन है, मन के भी अन्दर आत्मा (अन्तरात्मा) है। अन्तर्मुख होने से, अन्दर का प्रकाश बढ़ने से धीरे धीरे अन्न, प्राण, मन के प्रदेश, उनके बहुत से विभाग, उन की क्रिया-प्रतिक्रियायें साफ साफ दीखने और समझ में आने लगती हैं। उन के भी पीछे आत्मा है। योग में इस आत्मा को आगे लाने का यत्न होता है, आत्मा अपना प्रभाव मन प्राण अन्न पर डाले, अन्न प्राण मन का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़े, आत्मा मन प्राण शरीर का संचालक और वशीकर्त्ता बने, अन्न प्राण मन आत्मा को चलाने वाले या दबाने वाले न रहें ऐसा यत्न होता है। सो रोने वाला या बहने वाला आत्मा नहीं होता, अन्तःपुरुष नहीं होता। रोने वाला तो प्राण-पुरुष है, आवेशों या भावों में बहने वाला भी प्राणपुरुष है, विचारधारा में बहने वाला मनो-मय पुरुष है, अन्तःपुरुष नहीं। जिस मनुष्य का यह अन्तःपुरुष भगवान् के पाने की अपनी अभीप्सा में प्रदीप्त होकर अपने मन प्राण शरीर पर प्रभाव, दबाव डालने लगता है वही मनुष्य योगमार्ग का अधिकारी हो जाता है।

प्राणमय में विषयों का आनन्द लेने की कभी निम्नगामी लहर आती है तो कभी जिसे आप पश्चात्ताप कहते हैं उस की ऊर्ध्वगामी

लहर भी आती है। मन को डांटना, फटकारना, या प्रेम से समझाना ये सब भी होता रहता है। जिन का आत्मा जाग चुका है उन में भी ये क्रियायें होती हैं— पर उन में ये क्रियायें आत्मशुद्धि की प्रक्रिया के तौर पर चलती हैं। इन के होते रहने से घबराना नहीं चाहिये। अपने लक्ष्य की तरफ दृढ़ विश्वास के साथ लगे रहना चाहिये। ये क्रियायें तब तक जारी रहेंगी जब तक कि प्राण और मन की विशुद्धि नहीं हो जायगी। प्राण की पूरी विशुद्धि में तो बहुत ही देर लगती है।

## पूरा मन

प्र०- एक स्थान पर अदिति में लिखा है कि जब हम किसी वस्तु को चाहते हैं और उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो उस का मनोवैज्ञानिक कारण यह होता है कि हम आधे मन से उस की तलाश करते हैं। शेष आधा मन विपरीत वस्तु की तलाश करता रहता है, उस आधे मन की भी समझ नहीं आती।

उ०—यह ठीक है कि पूरे मन से हम जो चाहेंगे वह अवश्य प्राप्त होगा। 'पूरे मन' का अर्थ है 'मन के सब भागों से तथा प्राण के भी सब भागों से, बल्कि अन्तःदेह से भी'। 'पूरे मन' का योग की भाषा में पूरा पूरा अर्थ यह है।

आधे मन की बात इसलिये समझ में नहीं आती क्योंकि हम लोग साधारणतया मन की ऊपरी सतह को ही और केवल उस समय की सचेतन सतह को ही जानते हैं। बाकी सारे मन से अनभिज्ञ रहते हैं। मन की ऊपरी सतह के नीचे क्या क्या भरा है, क्या क्या हो रहा है उसे नहीं देख पाते। मन में प्रकाश लाने द्वारा हमें अपने मन से पूर्ण रूप में अभिज्ञ, सचेतन होना है।

—अभय

# अपने विषय में

## अदिति के तीन वर्ष

इस अङ्क के साथ 'अदिति' अपने जीवन के तीसरे वर्ष को पूरा करती है। और हम 'कृतं स्मर' भाव में इस के आदर्श, उद्देश्य और प्रगति को विचार में लाना चाहते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण इस का प्रेरक-भाव था। इस का जन्म ही इस भावना से हुआ था कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सच्चे रूप में चरितार्थ करने में ही जीवन की सफलता है, व्यक्ति तथा समाज का कल्याण है। अदिति के कार्यकर्त्ताओं ने इस दृष्टिकोण को श्रीअरविन्द आश्रम के सम्पर्क से मूर्त्त-रूप में अनुभव किया था और उस अनुभव का बल ही उन की प्रेरणा थी जो अदिति के रूप में व्यक्त हुई।

परन्तु आज हम अपने आप से फिर पूछना चाहते हैं कि वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण क्या है, उस का स्वरूप कैसा है?

मानवीय व्यक्तित्व के चार अंग हैं, शरीर, प्राण, मन और आत्मा। शरीर हमारी सत्ता में स्थूल प्रकृतिका अंश है। प्राण, भूख, प्यास, भय, क्रोध, राग, द्वेषादि अनेक इच्छाओं का सामान्य स्वरूप है। मन का विशेष धर्म चिन्तन है, यह इन्द्रियों के विषय अनुपस्थित होने पर भी उन के सम्बन्ध में विचार कर सकता है, भूत और भविष्यत्‌के महल बना सकता है। साधारणतया मन प्राण की इच्छाओं का नये नये रूपों में उपभोग करने के उपाय निकालता रहता है। मानवीय व्यक्तित्व के इन तीनों अंगों में, एक आवश्यक धर्म के रूप में, आंशिकता होती है, एकाङ्गिता रहती है।

सम्पूर्णता इन तीनों के आधारभूत सत्य 'आत्मा' में है। परन्तु मनुष्य आज कहेगा 'हमें क्या मालूम आत्मा है या नहीं'? भारतीय संस्कृति के सञ्चित अनुभव के आधार पर ही केवल नहीं, परन्तु वर्तमान योगानुभव के आधार पर हम कहेंगे कि आत्मा अथवा एक शुद्ध चेतन सत्ता का अस्तित्व है। उस का पता न होना दोष नहीं परन्तु 'क्या पता, है या नहीं' भाव में खोज में प्रवृत्त ही न होना अपने परम सुख की उपेक्षा कर देना है। आत्मा का प्रकाशमय, आनन्दमय पद कल्पना का विषय नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की चीज है।

परन्तु आज की मानसिक संस्कृति के लिये आत्मा जरूर अगम्य हो रही है। कारण यह है कि मन अपने धर्म से विश्लेषात्मक, भेदात्मक और बहिर्मुख है। आत्मा संपूर्ण, एकत्व-भाव-वाली और नितान्त अन्तर्मुख सत्ता है। इस कारण मन से ही आत्मा का पूर्णतया अनुभव असम्भव है। आत्म-पद की प्राप्ति का मार्ग भिन्न है। परन्तु वह मार्ग अगम्य नहीं और न आत्मा ही अलभ्य है।

हमारे वर्तमान युग के आदर्श मानसिक धर्म को बड़ी सुन्दरता से उपस्थित करते हैं। हमारे मत और वाद कितने एक दूसरे के विरोधी हैं और हम कितने आवेश से अपने मत, राजनीतिक अथवा अन्य किसी, को अनुभव करते हैं कि वही सत्य हैं दूसरे सभी असत्य हैं। फिर हम यह भी मानते हैं कि यदि दूसरा मत सफल हो गया तो हमारा तो नाश ही हो जायगा। आज हमारा जीवन इन परस्परविरोधी, आंशिक 'सत्यों' सम्बन्धी आवेगों और आवेशों से भरपूर है। कभी कभी हम इन आवेगों और आवेशों से थक जाते हैं और फिर राजनीति आदि से पृथक् हो जाने की सोचते हैं। परन्तु वास्तव में वह कोई उपाय नहीं है। उपाय तो है अन्दर की सम स्थिति से जगत् की सभी हलचलों को अनुभव करना और आत्मा के सम्पूर्ण सत्य को, जिस में कि आंशिक सत्य सभी अपना अपना स्थान रखते हैं, दृष्टि से ओझल न होने देते हुए योग्य प्रगतियों में विश्वासपूर्वक प्रवृत्त होना। संसार की प्रवृत्तियों की उपेक्षा न हो, न उन के लिये मोह, अहङ्कार और चिन्ता ही हो, बल्कि तटस्थ भाव में आंशिक विरोधों के भी तथ्य को अनुभव करते हुए मनुष्य कर्म-प्रवृत्त हो।

आज संसार में इस दृष्टि की विशेष आवश्यकता है। यही दृष्टि श्रीअरविन्दके अध्यात्म-वाद की है। इसी की प्रेरणा में अदिति का जन्म हुआ था।

बिलकुल यही दृष्टिकोण गीता का है। संसार को त्याग कर वन में समाधिस्थ हो कर संन्यास-मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति होती है। परन्तु संसार स्वयं ब्रह्मविरोधी नहीं बल्कि ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, इस लिये ब्रह्म संसार में प्राप्य है, वास्तव में वहां वह अपने समृद्ध स्वरूप में प्राप्त होता है।

इसी दृष्टिकोण को पूरी शक्ति से जीवन में चरितार्थ करना तथा उसे उत्तरोत्तर समृद्ध करना ही श्रीअरविन्द का ध्येय और उद्देश्य है और उसी के लिये ही उन का सारा पुरुषार्थ है।

अदिति इस दृष्टिकोण को अपने लेखों, कविताओं तथा कहानियों द्वारा पिछले तीन वर्षों में उपस्थित करती रही है और इन वर्षों के अनुभव से पूर्णतया उत्साहित अब चौथे वर्ष में पदार्पण करने को तैयार है।

पिछले तीन वर्षों में हमारे पाठकों की स्थिति भी बड़े सुन्दर रूप से विकसित हुई है। पहले वर्ष में कुछ लोग ऐसे थे जिन्होंने अदिति को परीक्षणात्मक भाव में मंगाया था। उन में से कई दूसरे वर्ष में हट गये। परन्तु उस के बाद एक स्थायी ग्राहकमण्डल बन गया जो शायद अदिति की जीवन-शैली में अधिकाधिक गहराई को प्राप्त होता जा रहा है। अदिति अनेक दृष्टिकोणों को उपस्थित करने का लक्ष्य नहीं रखती, बल्कि यह एक सम्पूर्ण, संगठित, एकीकृत अनुभवसिद्ध जीवनदृष्टि को उपस्थित करती है जिसमें रमते-रमते पाठक अपने जीवन का पुनर्निर्माण अनुभव कर सकते हैं। यह निर्माण उतनी ही जल्दी होगा जितनी उन के ऐकान्तिक मन की इस दृष्टिकोण के प्रति तन्मयता होगी।

अपने पाठकों में अदिति की जीवन-शैली-सम्बन्धी गहराई की भावना में विकास अनुभव करके हम विशेष सन्तोष मानते हैं।

अदिति का यह अङ्क पांडिचेरी में छप कर तैयार हुआ है। गत अक्तूबर में श्रीअरविन्द-आश्रम-प्रेस खुल जानेपर अदितिकार्यालयका प्रधान विभाग यहां चला आया और भविष्य में अदिति का सम्पादन और मुद्रण पांडिचेरी में ही हुआ करेगा। यह परिवर्तन अदिति के जीवन-विकास में निश्चय ही एक बड़ा कदम है और आगे से यह अपने उद्देश्य की, हमें विश्वास है, ज्यादह अच्छी सेवा कर सकेगी।

परन्तु पत्रव्यवहार तथा चन्दा भेजने के लिये पाण्डीचेरी अथवा नई देहली दोनों पते ही काम में लाये जा सकते हैं।

सन् १९४६ का चन्दा पाठकगण जल्दी ही भेज दें। साथ सुभीते के लिये मनीआर्डर फार्म रख दिया गया है। परन्तु यदि नये वर्ष का पहला अङ्क वी. पी. पी. द्वारा मंगाने की इच्छा हो तो वैसी सूचना दे देनी चाहिये। चन्दा अथवा सूचना न आने की अवस्था में हम प्रति को अपने पास ही रोक रखेंगे।

यह अङ्क २४ नवम्बर के दर्शनावसर के स्थान पर १ जनवरी को नव वर्ष पर निकल रहा है। देहली से पांडीचेरी में स्थान-परिवर्तन की कानूनी कार्यवाही आदि के लिये यह आवश्यक हो गया था।

### श्रीअरविन्द निकेतन

अदिति के विकास के साथ साथ श्रीअरविन्द निकेतन का विकास जुड़ा हुआ ही है। सितम्बर, सन् ४२ में देहली में श्रीअरविन्द-कार्य करने की आयोजना का पहला पत्र पांडिचेरी भेजा गया था। श्री सुरेन्द्रनाथ जी की कम्पनी एस. एन. सण्डरसन ने पुस्तक-विक्रय के कार्य को अपना एक अङ्ग बना लिया और देहली में श्रीअरविन्द-साहित्य अंग्रेजी हिन्दी आदि भाषाओं में प्राप्त होने लगा। धीरे धीरे सण्डरसन कम्पमी की अनेक शाखाएं भी उस कार्य को अङ्गीकार करने लगीं और उन के सहयोग से उत्तर भारत के कई शहरों में वह साहित्य सुगमता से मिलने लगा। पुस्तक-विक्रय के साथ साथ एक वाचनालय की भी आयोजना बनती गई, और इस समय यह प्रबन्ध देहली, लाहौर, कानपुर, मेरठ, सतना और पटना में मौजूद है। इन में से देहली और लाहौर अपेक्षाकृत अधिक सङ्गठित हैं। सब जगह नाम श्रीअरविन्द निकेतन ही बरता जाता है और वह सण्डरसन कम्पनी का ही अङ्ग है।

सितम्बर, सन् ४२ में श्रीअरविन्द निकेतन का जन्म हुआ, पहले पहले पुस्तक-विक्रय और वाचनालय का प्रबन्ध हुआ, सन् ४३ के शुरू से अदिति प्रकाशित होने लग गई। उसके साथ ही श्रीअरविन्दनिकेतन-गृह का सङ्गठन हुआ। वहां अदिति प्रेस की आयोजना हुई और वहीं आचार्य अभयदेवजी अन्य कार्यकर्त्ताओं सहित रहने-सहने लगे। अदिति तथा अन्य पुस्तकों का मुद्रण निकेतन-गृह में होता था और कनाट सरकस पर निकेतन में सार्वजनिक व्याख्यान तथा स्वाध्यायगोष्ठी की बैठकें होती थीं।

गत अगस्त में देहली के कार्य में कुछ परिवर्तन आया क्योंकि पांडिचेरी में श्रीअरविन्द

आश्रम प्रेस खुल जाने पर अदिति प्रेस बेच दिया गया और अदिति का सम्पादकीय विभाग पांडिचेरी में चला आया।

श्रीअरविन्द निकेतन, नई देहली तथा अन्य कुछ शहरों में श्रीअरविन्द-कार्य को यथाशक्ति सम्पादित कर रहा है। परन्तु इस संस्था के अतिरिक्त एक दो और संस्थाएं भी इस कार्य को बड़ी योग्यता से कर रही हैं। विशेष उल्लेखनीय पन्ना रियासत का श्रीअरविन्द साधनालय है। यह संस्था अपने नाम के अनुरूप विशेष ढंग से गम्भीर और मौन साधना के कार्य में अधिक प्रवृत्त है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी के सम्पर्क द्वारा जीवन में नई स्फूर्ति अनुभव की है। वे जहां जहां हैं अपने आप में श्रीअरविन्द-कार्य के केन्द्र हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक जीवनशैली तथा श्रीअरविन्द-कार्य उत्तर भारत में अपनी सहज गति से धीरे धीरे विस्तार को प्राप्त होता हुआ व्यक्ति तथा मानव-समाज को सच्चे जीवन की प्रेरणा दे रहा है। जिज्ञासु श्रीअरविन्द-कार्य के इन सभी केन्द्रों से लाभ उठाने के लिये आमन्त्रित हैं।

---

## पुस्तक-परिचय

### वेद-रहस्य—

श्रीअरविन्द की महान् कृतियों में से एक कृति वेदसम्बन्धी है। श्रीअरविन्द की वेदार्थ-गवेषणा धारावाही लेखों के रूप में 'The Secret of the Veda', 'Hymns of the Atris' तथा 'Selected Hymns' आदि शीर्षकों के अधीन "आर्य" पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी है। श्रीअरविन्द का यह कार्य एकदम श्री सायणाचार्य और श्री स्वामी दयानन्द की याद दिलाता है और इस का महत्त्व उन के लिये, जो भारतीय संस्कृति में वेदों के स्थान को जानते हैं, प्रत्यक्ष ही है। श्रीअरविन्द के लिये वेद एक अपूर्व आदर और मान की वस्तु है। कारण यह कि उन्होंने अनुभव किया है कि वेदों में मानवजाति का महान् आध्यात्मिक धन निहित है।

वेद साधारणतया कर्मकाण्डप्रधान माने जाते हैं। सायणाचार्य के भाष्य का देशव्यापी प्रभाव ही यही है। परन्तु श्रीअरविन्द की वेद-सम्बन्धी धारणा और ही है। उन का कहना है कि वेदमन्त्रों का एक तो प्रत्यक्ष अर्थ है और एक निगूढ़ अन्तर्निहित अर्थ है। प्रत्यक्ष अर्थ तो व्यवहार और कर्मकाण्ड की मर्यादा को बतलाते हैं और निगूढ़ अन्तर्निहित अर्थ गम्भीर अध्यात्म-ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रत्यक्ष अर्थ सामान्य व्यक्ति के लिये थे और अन्तर्निहित जिज्ञासु साधक के लिये। श्रीअरविन्द का यह कहना

है कि वेदों का समय शायद ऐसा था जब कि सूक्ष्म अध्यात्मज्ञान को कुछ विशेष रूप से गुप्त रखने और केवल दीक्षित साधक को ही देने की जरूरत थी। वैदिक ऋचायें बड़ी सुन्दरता से इस आशय को पूरा करती हैं। उन का प्रत्यक्ष अर्थ अपनी सामान्य वैधिक उपयोगिता रखता है तथा दीक्षित साधकों के लिये उन्हीं में ही शुद्ध अध्यात्मज्ञान है। श्रीअरविन्द के निम्न दो वाक्य उन की वेदसम्बन्धी धारणा का किञ्चित् स्वरूप बतलाते हैं।

"वेद मानवता का उच्च अभीप्सामय संगीत है; उस की ऋचायें मानव आत्मा द्वारा अपने अमर आरोहण में गाये गये गानसमृद्ध महाकाव्य के प्रसङ्ग हैं।"

"अपने गूढ़ तथा साधारण अर्थ में यह कर्मों की पुस्तक है, आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है; यह है आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति जब कि, यह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोज कर पा लेता है और उन में आरोहण करता है, जो भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य हैं; यह है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती हैं।"

हमें प्रसन्नता होती है कि श्रीअरविन्द के सम्पूर्ण वेदकार्य को हिन्दी में प्रकाशित करने की योजना क्रियात्मक रूप को पहुंच चुकी है। सारा कार्य कई भागों में निकलेगा और पहला भाग जो कि 'The Secret of the Veda' का अनुवाद है, प्रेस में भेज दिया गया है और सम्भवतः एक वर्ष के भीतर प्रकाशित भी हो जायगा।

वेदजिज्ञासुओं के लिये समाचार के रूप में हम ने यह सब यहां लिख दिया है।

---

## लेखक-परिचय

इस अङ्क के सभी लेखक हमारे परिचित हैं। केवल 'ओ आगामी' शीर्षक कविता के लेखक नये हैं। परन्तु वे गुप्त ही रहना चाहते हैं। हम वास्तव में इसी से ही कृतार्थ हैं कि उन्होंने अपनी कविता प्रकट कर दी और आगे के लिये अन्य कृतियों के लिये आशा बंधा दी।

उन की यह कविता पहले 'आगामी' नामक पत्रिका में सीमित क्षेत्र में प्रकाशित हुई थी। 'आगामी' श्रीअरविन्द आश्रम की हस्तलिखित हिन्दी-पत्रिका है। उस का प्रथम अङ्क गत अगस्त-दर्शनदिवस पर निकला था।

'आगामी' 'Advent' की ध्वनि और भाव को उद्धृत करती है और मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य की आशा तथा विश्वास दिलाती है।

इस परिचय-प्रसङ्ग में इतना और कहना है कि श्री चारु चन्द्र दत्त जिन का पिछले अङ्क में एक लेख था और इस में भी है, श्रीअरविन्द के इङ्गलैण्ड में सहपाठी नहीं थे जैसे कि पिछली बार परिचय में लिखा गया था। इस में सन्देह नहीं कि वे श्रीअरविन्द के पुराने भक्त हैं।

श्रीअरविन्द आश्रम मुद्रणालय पांडीचेरी

## नये वर्ष की प्रार्थनायें

यह पुस्तक गत नवम्बर-दर्शन के अवसर पर प्रकाशित हुई है। इस में १९३३ से १९४५ तक की श्रीमाताजी की श्रीअरविन्दाश्रम के साधकों को उदीयमान नये वर्ष के लिये दी गई प्रार्थनायें, भावनायें तथा मन्त्ररूप विचार हैं। ये प्रार्थनायें बड़े गम्भीर तथ्य को उपस्थित करती हैं। मूल्य ।)

## अदिति माता

यह शीघ्र तैयार होकर फरवरी-दर्शन पर प्रकाशित हो जायगी। इस में 'अदिति का स्वरूप', 'मां', 'अदिति की पुकार', आदि लेख हैं। अदिति के प्रथम वर्ष के चारों अङ्कों के सङ्गत विषयों के लेख इकट्ठे कर दिये गये हैं। अदिति के पहले वर्ष की फाइल की कमी को ३-४ पुस्तकों में पूरा कर देने का यह पहला प्रयास है।

तथा अन्य

## सम्पूर्ण श्रीअरविन्द-साहित्य

अङ्गरेजी, हिन्दी, बङ्गला, गुजराती, तेलगु, तामिल आदि में

**श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नयी देहली से प्राप्त किया जा सकता है।**

## अदिति की पुरानी फाइलें

दूसरे तथा तीसरे वर्ष के सभी अङ्क प्राप्य हैं।

चार अङ्कों का मूल्य ४)        एक अङ्क का मूल्य १।)

## अदिति में विज्ञापन

| दर | एक अङ्क में | वर्ष के चार अङ्कों में |
|---|---|---|
| पूरा पृष्ठ | २५) | ९०) |
| आधा ,, | १६) | ४५) |
| चौथाई ,, | ७) | २५) |

**विज्ञापन स्वीकार करने का अधिकार सम्पादक को होगा।**